धन्यवाद

इस पुस्तक के प्रकाशन में निम्नांकित सज्जनों ने समिति के संरक्षक तथा आजीवन सदस्य होकर के आर्थिक सहायता प्रदान की है, अतः उनको हार्दिक धन्यवाद दिया जाता है।

संरक्षक—

१. श्रीमान् सेठ सरदारमलजी सा० पुंगलिया — नागपुर

आजीवन सदस्य—

१. लाला सुखदेवसहाय ज्वालाप्रसाद — कलकत्ता
२. लाला मुन्शीराम जैन — स्यालकोट
३. श्रीमान् सरदारमलजी सा० छाजेड़ — शाहपुरा
४. ,, रामलालजी सा० कीमती — हैदराबाद
५. ,, पूनमचन्द्रजी सा० गांधी — हैदराबाद

लाला मुन्शीराम जैन, स्यालकोट

श्री जैन साहित्य प्रचारक समिति के स्तम्भ

सेठ भैरोंदान जी सेठिया (वीकानेर) सेठ केदारनाथ जी जैन (दिल्ही)

संरक्षक

सेठ सरदारमल जी पूंगलिया (नागपुर) सेठ सुगनचन्द जी (भँवाल)

समिति के स्तम्भ, संरक्षक तथा आजीवन सदस्यों को शुभ नामावली।

स्तम्भ

१. दानवीर सेठ अगरचन्दजी भैरोंदानजी सेठिया — बीकानेर
२. लाला केदारनाथजी रूगनाथजी जैन — दिल्ली

संरक्षक

१. श्रीमान् सेठ सरदारमलजी, सा. पुंगलिया — नागपुर
२. श्रीमान् मिश्रीमलजी, चांदमलजी, सुगनचन्दजी झामड़ — भंवाल

आजीवन सदस्य

१. श्रीचुन्नीलाल भाई चन्द्र मेहता — बम्बई
२. श्रीचुन्नीलाल फूलचन्द्र दोसी — मोरवी
३. श्रीलाला सुखदेव सहाय ज्वालाप्रसाद — कलकत्ता
४. श्रीलाला मुन्शीराम जैन — स्यालकोट
५. श्री टी० जी० शाह — बम्बई
६. श्रीदुर्लभजी त्रिभुवन जी जौहरी — जयपुर
७. श्रीरामलालजी कीमती — हैदराबाद
८. श्रीपूनमचन्द्रजी सा० गांधी — हैदराबाद
९. श्रीसरदारमलजी सा० छाजेड़ — शाहपुरा
१०. श्री० रायबहादुर मोहनलाल पोपट भाई — राजकोट
११. श्रीनटवरलाल नेमचन्द्र शाह — कलकत्ता

१२.	श्रीनवलचन्द्र टी० शाह	बम्बई
१३.	श्रीजौहरीलालजी पन्नालालजी नाहर	अजमेर
१४.	श्रीघेवरचन्द्रजी रतनचन्द्रजी चोपड़ा	अजमेर
१५.	श्रीरंगरूपमलजी श्रीमाल	अजमेर
१६.	श्रीनवरत्नमलजी रियांवाले	अजमेर
१७.	श्रीदीपचन्द्रजी सा० पल्लीवाल	अजमेर
१८.	श्रीभँवरलालजी चाँदमलजी नाहर	अजमेर
१९.	श्रीमूलचन्द्रजी सेठी	अजमेर
२०.	श्रीसुगनचन्द्रजी चाँदमलजी नाहर	अजमेर
२१.	श्रीराजमलजी सा० सुराणा	अजमेर
२२.	श्री० सेठ प्यारेलालजी रियाँवाले	अजमेर
२३.	श्रीमती माहकोर, शाह जगजीवनदास बुलाखीदास की विधवा	अहमदाबाद

प्रकाशक का निवेदन

'सृष्टिवाद और ईश्वर' नामक पुस्तक पाठकों के समक्ष उपस्थित करते हुए हमारे को अत्यन्त हर्षोद्रेक हो रहा है। शताव धानी भारत भूषण पंडित मुनि श्रीरत्नचन्द्रजी म०सा० ने अजमेर साधु सम्मेलन में सम्मिलित होने के पश्चात् राजपूताना, युक्त-प्रान्त, दिल्ली, पंजाब आदि देशों में विहार किया, उस समय उक्त मुनिवर को सृष्टि तथा उसके कर्ता सम्बन्धी विषय पर एकाध ग्रन्थ रचने की नितान्त आवश्यकता प्रतीत हुई। गुजरात में सृष्टि कर्तृत्ववाद की चर्चा इतनी ज्यादा नहीं जितनी कि उत्तर हिन्द में है। और इस चर्चा के कारण से स्वधर्म अथवा स्वमत परिवर्तन भी हुआ करते हैं। दिल्ली, पंजाब, एवं युक्तप्रान्त में विहार के समय में एतद्विषयक तात्विक चर्चा प्रकीर्ण रूप से होती थी, तथा किन्हीं जिज्ञासु जैन जैनेतर व्यक्तियों के साथ चर्चा भी होती थी।

परन्तु पंजाब-विहार के दरम्यान 'अर्धमागधी व्याकरण "जैन सिद्धान्त कौमुदी" का काम तथा दिल्ली में "अर्धमागधी-कोष" के पाँच वें भाग का कार्य किये पूर्व सृष्टि कर्तृत्ववाद विषयक ग्रन्थारम्भ करने की अनुकूलता महाराज श्री को प्राप्त नहीं हुई। उपरोक्त कार्यों से निवृत्त होने के उपरान्त आगरे में

इन्होंने इस कार्य का शुभारम्भ किया। आगरे से काशी तथा कलकत्ता की तरफ विहार करने का महाराज श्री का भाव था लेकिन स्वास्थ्य की प्रतिकूलता के कारण यह भाव पूर्ण नहीं हुआ। यद्यपि आगरे में प्रस्तुत पुस्तक का प्रारम्भ हुआ, लेकिन श्री शतावधानी जी महाराज साहब की तबियत अस्वस्थ होने के कारण से इस पुस्तक का थोड़ा सा भाग ही वहाँ लिखा जा सका, पश्चात् पुस्तक का अधिकांश भाग अजमेर में लिखा जा सका।

पुस्तक के लेखन के लिये आगरा (मानपाड़ा) के श्री संघ ने सहायता दी थी, तथा आगरे में चिरंजीव लाला पुस्तकालय के संचालकों ने, तथा इसी तरह से वीरविजय पुस्तकालय के संचालकों ने अपने पास के ग्रन्थ उदार भावों से जब जब आवश्यकता हुई तब ही महाराज श्री के समक्ष पहुँचाकर अपना सेवा भाव प्रदर्शित किया। इसके सिवाय सेठिया जैन लाइब्रेरी बीकानेर ने संख्या बद्ध पुस्तकें दूसरी जगहों पर भेजीं, तथा वैदिक पुस्तकालय अजमेर ने पुस्तकें देखने की पूर्ण व्यवस्था करदी, अतः यहाँ पर इन सब के प्रति आभार प्रदर्शित किया जाता है। विशेषतः मुनि श्री अमरचन्द जी, पं० रामकृष्ण जी शास्त्री, श्रीमान् रतनलाल जी दोसी, पं० पूर्णचन्द्र जी दक, आदि महानुभावों ने इस पुस्तक के लेखन में, तथा उद्धरण ढूंढने में श्री शतावधानीजी महाराज साहब को सहायता की है, अतः इन सबका भी हम यहाँ पर आभार मानते हैं।

अजमेर तथा पुस्कर में पुस्तक-लेखन पुनः प्रारम्भ हुआ, तथा समाप्त हुआ। तब लेखन सम्बन्धी सम्पूर्ण आवश्यकताओं की पूर्ति करने के लिये अजमेर का श्री संघ भी धन्यवाद का

पात्र हैं। साथ ही प्रस्तुत पुस्तक के, साहित्यज्ञ भूमिका लेखक श्री चुन्नीलाल वर्धमान शाह को भी कोटिशः धन्यवाद है, जिन्होंने कि परिश्रम पूर्वक इस ग्रन्थ की भूमिका लिखकर इसकी शोभा बढ़ाई है।

इस प्रकार यह ग्रन्थ वाचकों के हाथों में पहुँच रहा है। पाठकगण इस ग्रन्थ को सम्पूर्ण रूपेण पढ़ करके मनन करेंगे एवं योग्यता की वृद्धि करेंगे तभी लेखक का प्रयास सफल एवं स्तुत्य होगा।

यह ग्रन्थ प्रथम गुजराती में छपा, लेकिन हिन्दी भाषा भाषियों की सुविधा के लिये अब हिन्दी में छपाया गया है।

निवेदक—

धीरजलाल के. तुरखिया
कल्याणमल जी वैद

मंत्री श्री जैन साहित्य
प्रचारक, समिति।

पुस्तक प्राप्ति-स्थान

१. मंत्री श्री जैन साहित्य प्रचारक समिति

श्री जैन गुरुकुल ब्यावर

(राजपूताना)

२. सेठिया जैन लायब्रेरी, बीकानेर

(राजपूताना)

३. उत्तमलाल कीरचंद गोसलिया

लाल बंगला, घाटकोपर

(थाणा)

भूमिका

मनुष्य जब अपनी नित्य की क्रियाओं से सिर ऊपर को उठा करके दिशाओं की ओर दृष्टिपात करता है, तब वह एक प्रकार के आश्चर्य का अनुभव करता है। इतने बड़े विश्व को किसने और किस लिये बनाया है ? इस विश्व के छोटे अंश रूप पृथ्वी का क्या स्थान है ? पृथ्वी के ऊपर गतिमान् मनुष्य कहाँ से आया है तथा इसके आने का क्या प्रयोजन है ? इस सम्पूर्ण दृश्यमान् जगत् की जिसने रचना की है, उसमें कितनी शक्ति है ? क्या इतनी शक्ति अपने अन्दर भी आ सकती है ? यदि आ सकती है तो किस तरह से ? विश्व की विशालता, तथा उसमें विचरण करते हुए सूर्य, चन्द्र, नक्षत्र, तथा इस पृथ्वी के समान अनेक पृथ्वियाँ, उपरोक्त सबों का प्रगतिमान यह नित्य क्रम आदि सम्पूर्ण बातों की गवेषणा करते हुए मनुष्य की बुद्धि कुण्ठित हो जाती है, तथा विचार शक्ति स्थम्भित रह जाती है। उसका 'नेति-नेति' शब्दोच्चारण करनेवाले तत्वज्ञ ऋषिमुनि चितवन करते हैं और वह स्वयं यह विचार करने के लिये कितनी पामर बुद्धि का है, इस बात का उसको भान होता है।

फिर भी इस विषय पर विचार करने का इरादा मानव-बुद्धि ने कभी नहीं छोड़ा। मानव ने बुद्धि-व्यापार चलाया ही है। निर्णय किये हैं, पूर्व कृत निर्णयों को हटाकर पुनः नये निर्णय किये हैं। वह पहिले शोधता है कि प्रत्येक वस्तु पृथ्वी, अप, अग्नि, वायु, एवं आकाश इन पाँच तत्वों से बनती हैं। एवं कोई न कोई उसका बनाने वाला भी होता है। कुम्भकार मिट्टी का घड़ा बनाता है, तो मिट्टी औरपानी को मिलाकर उसका कच्चा घड़ा बनाता है, फिर उसको हवा से सुखाता है, अग्नि से तपाता है और उसके अन्दर पोलाण में तथा बाहिर आकाश तत्व व्याप्त रहता है। उसी प्रकार से यह जगत रूप घड़ा भी पाँच तत्वों से बना है। तथा इसका कर्त्ता भी महान् शक्तिवाला कोई बड़ा कुम्भकार होना चाहिये। इस कल्पना के आधार से वे लोग घट तथा जगत् दोनोंको समान तुलना में तथा समान रूप में मानने को प्रेरित होते हैं। तथा पश्चात् इसके कर्त्ता के व्यक्तित्व विषयक अनेक कल्पनाएँ करते हैं।

पर इन्हीं कल्पनाओं ने बहुत प्रकार की शक्तियों में जगत् कर्तृत्व का आरोपण किया है। हिन्दुओं के वेद, उपनिषद् तथा पुराण, ईसाइयों का बाइबिल, मुसलमानों का कुरान, जरथुस्त के धर्म ग्रन्थ, जैनियों के सूत्र-ग्रन्थ, तथा वैज्ञानिकों के विज्ञान संशोधन, तरह-तरह की शक्तियों को इस विश्व के अस्तित्व में कारणभूत रूप से उल्लेख करते हैं। 'सृष्टि' शब्द में रही हुई 'सृज्' धातु भी यही बतलाती है कि यह कोई शक्ति के द्वारा किया हुआ कार्य है। परन्तु यह कर्तृत्व विषयक विवाद कहते हैं कि वे अपने-अपने निर्णय के संबंध

में एकमत नहीं है। इससे आगे जाकर यह भी कहा जा सकता है कि जगत् की आदि अद्यावधि कोई भी निर्णीत नहीं कर सका है।

यदि एक वेद की बात करें तो, उसमें भी सृष्टि के संबंध के अनेक वाद प्रचलित हुए हैं। एक वाद अनेक देवों ने यह जगत् उत्पन्न किया है, तथा अनेक ही इसकी रक्षा करते हैं, ऐसा कहता है। दूसरा वाद ब्रह्म में से जगत् के उत्पन्न होने की बात कहता है। तीसरा वाद ब्रह्म की जगह इन्द्र को कर्त्तारूप में मानता है। चौथा वाद इन्द्र के स्थान पर ईश्वर को छोड़कर उसको गुण विशेष से युक्त एक प्रकार की आत्मा की कल्पना करता है। पाँचवाँ वाद प्रकृति तथा पुरुष को जगत् के आदि कारण रूप कहता है। वेदों के आधार से उपनिषद् कारों तथा पुराणकारों के द्वारा दौड़ाई हुई दूसरी कल्पनाएं भी अनेक हैं। कोई प्रकृति को उपादान कारण मानता है तो कोई पुरुष को निमित्त कारण मानता है। तो कोई पुरुष का उपादान कारण तथा प्रकृति को निमित्त कारण मानता है। कोई एक अण्डे से पृथ्वी की उत्पत्ति बतलाता है, तो कोई परमात्मा के अवतार ने इसका सृजन किया है, ऐसा कहता है। कोई विश्व को स्वयंभू कृत मानता है, तो कोई ब्रह्म के द्वारा उत्पन्न किया मानता है। इसी प्रकार से सृष्टि के सृजन का आरोपण प्रजापति, विराट्, मनु, धाता, विश्वकर्मा इत्यादि के ऊपर करते हैं। तथा सृजन में काम में आये हुए तत्वों के सम्बन्ध में भी विशाल विविधता दृष्टि गोचर होती है। आत्म-सृष्टि, स्कम्भ सृष्टि, अज-सृष्टि ब्रह्म-सृष्टि, कर्म-सृष्टि, ओंकार-सृष्टि, प्रस्वेद-सृष्टि, परस्पर-सृष्टि

इस प्रकार सृष्टि के अनेक प्रकार भी तत्वों वेत्ताओं ने बताये हैं। इस प्रकार से उत्तर-उत्तर वाद का पूर्व-पूर्ववाद का खण्ठन करके स्ववाद मण्डन में अधिकांश शक्ति तथा कल्पनाओं का उपयोग करते हैं।

आर्यसमाज वेद की एक नवीन शाखा है, तथा उसमें वेदान्त, सांख्य, और न्याय-दर्शन के आधार से सृष्टि-प्रक्रिया करने में आई है, वेदान्त ब्रह्म को जगत् का उपादान कारण मानता है, आर्य-समाज उसको निमित्त कारण मानता है, तथा पुनः निमित्त कारण के भी भेद करता है। १ मुख्य २ साधारण। इन तीनों प्रकार के कारणों में से सृष्टि-प्रक्रिया हुई, यह बात वह मानता है।

वेदों तथा उपनिषदों की सृष्टि प्रक्रिया की विविधता को देख कर आगे बढ़ते हैं तो अनेक तरह के पुराणों की सृष्टि-प्रक्रिया विविधता भरी दृष्टिगत होती है। एक पुराण, सृष्टि-कर्ता की जगह पुरुष और विष्णु को, दूसरा, ब्रह्मा को, तीसरा ब्रह्मा को चौथा शक्ति को, पांचवाँ सूर्य, को छठा नारायण को, सातवाँ ईश्वर को-विराट् को, इस प्रकार विभिन्न निराकार व्यक्ति शक्ति की स्थापना करते हैं। तथा चित्र विचित्र, सर्जन तथा प्रलय का क्रम बतलाते हैं। पुराणों के सृष्टि-विषयक तारतम्यों ऊपर से ही यह देखा जा सकता है कि कि मनुष्य प्राणी की स्थूल-दृष्टि से दीखता है, और समझाता है, इस रीति को ही इस प्रक्रिया की कल्पना की जाती है। और मुख्य एक अधिष्ठातृ देव अथवा अवतार की दिव्यता का अंजन मनुष्य की आँखों में आँज करके इस अधिष्ठातृ के प्रति भक्ति मनुष्य प्राणी में उपजाई गई है।

क्रिश्चियन सृष्टि, इसलाम की सृष्टि, और जरथुस्त की सृष्टि विषयक जो-जो कल्पनाऐं उन-उन धर्म के ग्रन्थों में-से मिलती हैं वे सब सृष्टि कर्ता देवों को ही कृति होती हैं, ऐसा कहते हैं। और यह वस्तु स्वरूप में पृथक, परन्तु मूलतः एक समान अनेक देववाद ही है। मनुष्य की बुद्धि भ्रमित होकर जहाँ आगे दृष्टिपात करती है, वहाँ वह आगे दिव्य शक्ति की ही कल्पना करके काम चला लेती है, इस प्रकार यह सब सृष्टि कर्तृत्व वाद के ऊपर से देखी जा सकती है। इस दिव्य शक्ति का दर्शन किसी ने भी किया नहीं। मात्र उसकी कृतियों के ऊपर से कल्पना करके उसकी शक्तिमत्ता का चित्र पहिले चित्त में चित्रित किया गया है, इस शक्ति का कोई आकार होता नहीं वह निराकार है, वह अनिर्वचनीय भी मानी जाती है, तो भी जनसाधारण के दिमाग़ में उसका रेखांकन करने के लिये उसको वाणीसे बाँधते हैं। प्रत्येक देश तथा धर्म के ग्रंथों में एक ही दिव्य शक्ति के जो भिन्न-भिन्न स्वरूप वाणी द्वारा कथक करने में आते हैं, वे सब एक दूसरे से खिलाफ पड़ते हैं। कारण कि उनको वाणीवद्ध करने वालों की तथा उसके स्वरूप की पहिचान करने की इच्छा रखने वाले जनसमुदाय की देश, काल तथा परिस्थिति पृथक-पृथक होती हैं। इस दिव्य शक्ति को वाणी वद्ध करने वाले दर्शक तथा विचारक पुनः एक दूसरे के खण्डन भी करते हैं; क्योंकि एक दर्शक अथवा विचारक को जो कल्पना अथवा दर्शन समुचित लगता है, वही दूसरे को अनुचित प्रतीत होता है। इस कारण से ही यह खण्डन मण्डन अधिकांश में वुद्धिनाश तथा कल्पना के स्रोत रूप

से होता है। जो अदृष्ट शक्ति निराकार है, उसी को फिर साकार मानकर कई एक उसके आकार की कल्पना करते हैं, तथा घड़ते हैं, और इस साकारता में जो भिन्न-भिन्न मतभेद पड़ते हैं, वे भी आकार के औचित्य परत्व मात्र से तर्कों के द्वारा लड़ाई हुई कल्पनाऐं होती हैं। ये सब कल्पना-व्यापार में उत्तमोत्तम तथा मानवजीवन को ऊर्ध्वगामी करते हैं, वैसी सुघटित कल्पना पर कई एक व्यक्ति विचार करते हैं, और अपने इश्वर का स्वरूप घड़ते हैं।

इस "सृष्टिवाद और ईश्वर" ग्रन्थ में आदरणीय लेखक ने सृष्टि कर्त्तृत्ववाद की सम्पूर्ण कल्पनाऐं और उसके कारणों का विस्तार से अन्वेषण किया है। वैदिक मतावलम्बियों ने एकन्दर सृष्टि के विभिन्न १६ प्रकार बतलाये हैं, परन्तु प्रत्येक प्रकार के सम्बन्ध में भिन्न-भिन्न मत के विचारकों ने शंका-शीलता ही व्यक्त की है।

एक अनन्त शक्तिमय ब्रह्म में से यह सम्पूर्ण विश्व उत्पन्न हुआ इस प्रकार की मान्यता ऊपर बतलाये गये वादों में के बहुत सी बतलाई हुई दीखने में आती हैं। जो कि पुनः ब्रह्म के स्वरूप के विषय में मतान्तर है, और इस कारण से उनमें भी उप भेद पड़ गये हैं। परन्तु ऋग्वेद के नासदीय सूक्त के अन्दर की ऋचाऐं स्पष्टरूप से कह रही हैं कि ये सब बुद्धि युक्त वाद-विवाद होते हुए जगत तथा जगत्कर्ता सम्बन्धी कोई किसी को जानता नहीं है।

इयं विसृष्टिर्यत आव भूव,
यदि वा दधे यदिवान।

योऽस्याध्यक्षः परमे व्योमन्
सो अंगवेद यदि वा न वेद ॥

अर्थात्—यह विशेष सृष्टि किसमें से उत्पन्न हुई, अथवा किसी ने उसको धारण किया कि नहीं, अथवा उसका अध्यक्ष परम आकाश में निवास करता है कि नहीं, इस बात को कौन जानता है ? इस उपरोक्त एक ही ऋचा के आधार से जाना जा सकता है कि जगत् के निमित्त अथवा उपादान कारण के सम्बन्ध में कोई निश्चयात्मकरूप से जानता नहीं ऐसा ही अभिप्राय वेदकालीन ऋषियों का भी था ।

मीमांसा दर्शन से भी यही ध्वनित होता है । पूर्व मीमांसाकार जैमिनी ऋषि की मीमांसा दर्शन की पुस्तक 'शास्त्रदीपिका' तथा 'श्लोक वार्तिक' का यदि मनन किया जावे तो स्पष्ट रूप से ज्ञात होता है कि सृष्टि तथा इसके कर्तृत्व की विचारणाओं में इस ऋषि ने गतानुगतिकता का अवलम्बन नहीं किया है । अर्थात् लकीर का फकीर नहीं बन गया है । मीमांसा दर्शन ने अन्य दर्शनों की सम्पूर्ण दलीलों तथा शंकाओं का विश्लेषण करके सिद्ध किया है कि—सृष्टि की आदि होवे ऐसा कोई काल नहीं है,जगत् सर्वदा इसी प्रकार का ही है । इस प्रकार का कोई समय भूत काल में आया नहीं, जिसमें कि यह संसार किसी रूप में विद्यमान् न रहा हो इस ही प्रकार से ईश्वर-कर्तृत्व के सम्बन्ध में भी अन्य सम्पूर्ण दर्शनकारों ने इस प्रकार कह दिया है कि ईश्वर स्वयं जन्म-मरण रहित है, वह दूसरे पदार्थों को उत्पन्न नहीं करता है, तथा यदि उत्पन्न करने की इच्छा करता है तो एक क्षण में ही सब कुछ कर सकता है । जब कि वह सर्व शक्तिमान है तो क्रम-क्रम से विलम्ब करके किसलिये

करता है। समय की परिपक्वता होने पर ही कार्य होते हैं, उसके बदले में ईश्वर एक ही क्षण में वर्षों में करने लायक सब कार्यों को कर डालता है।

घड़े का कर्ता कुम्हार है, अतः जगत् रूपी घड़े को बनाने वाला एक महान् शक्ति वाला होना चाहिये, इस प्रकार का विचार यदि किया करो तो दीमक के स्थान को देखकर उसमें आश्चर्य करने वाले को भी उस दीमक के निवासस्थान में कुम्हार की भ्रान्ति होती। अतः जब बुद्धि अनेक संकल्पविकल्पों से थककर किसी एक निश्चित विचारधारा पर रुक जाती है, तब ईश्वर तथा उसकी अगम्य शक्ति को बीच में डालना यह अकारण है। इस प्रकार का जो मीमांसा दर्शन का विचार है, वही सांख्य-दर्शन, योग दर्शन तथा नैयायिकों का भी प्रधान विचार है। तथा ये सब दर्शन वेदानुयायी ही हैं।

वर्तमान समय में सम्पूर्ण विश्व में विज्ञान-युग वर्तनकर रहा है। वह विज्ञान प्रत्यक्ष वस्तु को सत्य समझता है, तथा इसीसे विज्ञान के द्वारा किये गये अन्वेषणों ने अनेक धर्म-शास्त्रों के तत्वों एवं विधानों को शंका शीलता की कोटि में डाल दिया है। जगद् के अस्तित्व के सम्बन्ध में बाइबिल भले ही ऐसा कहे कि इस सृष्टि का आरम्भ ईसापूर्व ३४८३ अथवा ४००४ वर्षों से हुआ, लेकिन ख्रिस्तानुयायी वैज्ञानिक ही कहते हैं कि यह बात मान्य नहीं हो सकती। प्रो० जोली कहता है कि पृथ्वी की उमर १० करोड़ वर्ष की है, तथा मनुस्मृति की गणना के आधार पर १९७ करोड़ वर्ष की पृथ्वी की आयु ठहरती है।

परन्तु आज पूर्व की हुई सम्पूर्ण गवेषणाओं को वैज्ञानिक अन्वेषण मिथ्या साबित करते हैं। यूरेनियम नाम की धातु

में से जो रेडियम निकलता है, उस यूरेनियम को रेडियम रूप होने में साढ़े सात अरब वर्ष लगते हैं। इस प्रकार की वैज्ञानिकों की मान्यता है, तथा एक तोले रेडियम के लिये ३० लाख तोला यूरेनियम की आवश्यकता पड़ती है। उक्त सिद्धान्त के ऊपर से यह अनुमित किया जा सकता है कि पृथ्वी कितनी पुरानी है, लेकिन गिनती होना तो, तो भी दुःसम्भव है।

आइन्स्टाइन का 'लॉ ऑफ रिलेटीविटी (सापेक्ष वाद) Law of relativity' तो स्पष्ट कहता है कि पदार्थ तथा शक्ति एक ही हैं; उसमें परिवर्त्तन तो होता है, लेकिन नाश तो कदापि नहीं हो सकता है। सूर्य अनन्त समय से गर्मी दिया करता है, परन्तु इस गरमी का नाश होता नहीं, मात्र परिवर्त्तन हुआ करता है। यही गरमी मिलकर बाद में पृथ्वी के अन्तः भाग में कोयले रूप में होती है, यही गरमी मिल करके वनस्पति फलती है, तथा उत्तरोत्तर विकसित होती है। ये कोयले तथा लकड़ पुनः जलकर गरमी देते हैं। इस प्रकार में प्रत्येक पदार्थ तथा शक्ति का रूपान्तर होता रहता है। उसका नाश नहीं होता। प्रत्येक पदार्थ तथा शक्ति सम्बन्धी इस प्रकार सापेक्षवाद की दृष्टि से विचार करने वाले को जगत् के अनादित्व तथा ईश्वर के अकर्त्तृत्व की पूर्ण समझ देने में इस ग्रन्थ में का 'वैज्ञानिक-सृष्टि' नामक प्रकरण पर्याप्त रूप से सहायक बने, ऐसा ही लिखा गया है।

इस प्रकार से सृष्टिवाद तथा सृष्टि कर्तृत्व वाद के सम्बन्ध में निरीश्वर-वादी दर्शनों ने जो कुछ भी कहा है, तथा विज्ञान जो अभी भी प्रयोग रूप से सिद्ध कर रहा है,

वही जैनसूत्र 'सूयगडांग' की चन्द पंक्तियों में कहा गया है। देवोप्त, ब्रह्मोप्त, ईश्वर-कृत, प्रकृति आदि कृति, स्वयंभू कृत, अंडकृत, ब्रह्माकृत, इस प्रकार भिन्न-भिन्न जो नाम कहे जाते हैं, उनमें जगत्-कृत-अर्थात् बनाया गया है, अर्थात् किसी ने इसको बनाया है, यह भाव ध्वनित होता है। उक्त विधानों के सम्बन्ध में श्रमण भगवान् महावीरस्वामी कहते हैं:—

सएहिं, परियाएहिं, लोयं बया कडेति यं।
तत्त' ते ण वियाणन्ति, ण विणासी कयाइवि॥

अर्थात्—ये सब वादी अपनी अपनी युक्तियों से लोक (जगत्) बना हुआ है, 'ऐसा कहते हैं, परन्तु वे तत्त्व को नहीं जानते हैं कि "लोक कभी विनाशी नहीं है"। भगवान् महावीर के काल में जगत्-कर्तृत्व अकर्तृत्व के विषय में जो वाद प्रचलित थे, उन सम्पूर्ण वादों को देखकर भगवान् महावीर ने उपरोक्त पंक्तियों में जो विधान किया है, कि 'जगत् को किसी ने बनाया नहीं, तथा उसका कभी नाश भी होता नहीं" इस विधान का इस ग्रन्थ में विस्तृत रूप से वर्णन किया गया है।

ग्रन्थ के उत्तर भाग में यह प्रतिपादन करने में मुख्य रूप से मीमांसा दर्शन का सृष्टि विषयक विज्ञानवाद का तथा जैनदर्शन का आधार लिया गया है। इन तीनों के कथनों का यदि समन्वय किया जाय तो यही तत्त्व निकलता है कि संसार में कोई द्रव्य अथवा शक्ति बढ़ती घटती नहीं है, केवल पुद्गल-परमाणु निज में रहे हुए स्वभाव को लेकर लीला करते हैं। तथा इस लीला करण पद्धति से नानाप्रकार

के परिवर्त्तन मनुष्य के चर्म चक्षुओं को दृग्गोचर होते हैं। यह पुद्गलों का उत्कर्ष-अपकर्ष होता है, लेकिन एक दम नाश कभी नहीं होता। इसी प्रकार इस उत्कर्ष तथा अपकर्ष के लिये किसी के प्रतिबन्ध तथा नियमन की उन पुद्गलों को आवश्यकता नहीं। सूर्य, चन्द्र, ग्रह तथा जगत् में होने वाले पुद्गलों के उत्कर्ष-अपकर्ष को इस प्रकार निराकार ईश्वर की अथवा सर्व शक्तिमय ब्रह्म की लीला मानना, यह सुघटित कल्पना भी नहीं टिक सकती। श्री किशोरीलाल मशरू जो कि तत्त्वज्ञ हैं-कहते हैं कि:—"अनुभव यथार्थ तथा अयथार्थ दोनों प्रकार का हो सकता है। यह अवश्य है कि अनुभव तथा अनुभव की उपपत्ति में वैभिन्य है। इससे अनुभव के वचन अथवा उपपत्ति भी केवल विचारने योग्य ही गिनी जा सकती है। जो अनुभव तथा उसकी उत्पत्ति अपने अनुभव तथा विचार रूप में जितने अंश में उतरे, उतने ही अंश में वह मान्य हो सकती है। प्राचीन काल से आजतक जितने अंश में गम्भीर विचारकों के अनुभव तथा उसकी उपपत्ति में जो साम्य है, उतने ही अंश में प्रमाणत्व आता है।" परन्तु इस प्रकार का साम्य सृष्टि कर्तृत्ववाद में नहीं, यह बात इस ग्रन्थ के भिन्न-भिन्न प्रकरणों से सुचारू रूपेण जानी जा सकती है। अनुभव की अपेक्षा भी उसमें विशेष तर्क, अनुमान, तथा कल्पना है और उक्त मशरू वाले ही कहते हैं कि "एक ओर अनुभव तथा दूसरी ओर तर्क, अनुमान अथवा कल्पना इन दोनों में बहुत भेद है। अनुमान को सिद्धान्त समझने की अथवा कल्पना को सत्य समझने की भूल होवे, यही सत्यान्वेषण में मोटी खाड़ी

है । वस्तुतः सत्य शोधन अथवा सिद्धांत, अनुभव तथा प्रयोग से ढूंढा हुआ अविचल नियम होना चाहिये । मीमांसाकार प्रत्यक्ष प्रमाण को अनुभव मानते हैं, तर्क तथा कल्पना मिश्रितवाद को नहीं । तथा विज्ञान-शास्त्र प्रयोग द्वारा सिद्ध करता है कि सृष्टि का आदि काल अथवा कर्तृत्व निश्चित किया जा सके, ऐसा नहीं । इस प्रकार से अनुभव तथा प्रयोग का मिश्रण जैन मान्यतानुसार जगत् के अनादित्व तथा अकर्तृत्व की तरफ ही ज्यादा झुकता है, यह बात इस ग्रन्थ के रचयिता ने विस्तार से समझाई है ।

'सृष्टिवाद और ईश्वर' कई एक वादों का खण्डन तथा एक वाद का मण्डन करता है। अतः इसको खण्डन-मण्डन रूप एक ग्रन्थ कहने में कोई बाधा नहीं । इस प्रकार की पुस्तक वर्तमान जगत् की जनता के ऊपर उपकार कर सकती है यह सत्य है । धार्मिक खण्डन मण्डन आज इस युग में बहुतों को अनावश्यक प्रतीत होते हैं, कारण उसका यह है कि उस खण्डन-मण्डन से वाद एवं वितण्डाऐं निकलती हैं । तथा बजाय सत्यशोधन के कलह-वृद्धि होती है । सौम्य तथा प्रतिपादक शैली (style) से लिखी गई यह पुस्तक खण्डन-मण्डन की होने पर भी एक रूप से आज की जनता जो कि स्वावलम्बन के मार्ग के ऊपर जाने की रुचि रखती है, उनके लिये अवश्य ही उपयोगी होगी । 'ईश्वर है ही नहीं, इस प्रकार के नास्तिक वाद की यह पुस्तक तरफ-दारी नहीं करती, परन्तु जगत् का कर्त्ता ईश्वर नहीं है तथा जीवों के सत्कार्य, अपकार्य का नियामक ईश्वर नहीं है, ईश्वर तो परम मुक्त दशा को पहुँचा हुआ आत्मा है, तथा मनुष्य

भी इस परम मुक्त दशा को अपनी आध्यात्मिक कार्यों से ही प्राप्त हो सकता है । अपने निज के पुरुषार्थ का ही आधार रखना चाहिये, इस प्रकार की उपकारक-सूचनाएँ इस ग्रन्थ के सर्व स्थल सूचित करते हैं । ईश्वर का सृष्टि कर्तापन, तथा जगन्नियन्तापन सर्वसाधारण को निष्क्रिय तथा प्रमादीबनाने में मुख्य साधन भूत होता है, तथा पुरुषार्थ को गौण बनाता है । इस प्रकार से इस ग्रन्थ का तत्त्व पुरुषार्थ-वाद है। इस ग्रन्थ का परिशीलन करने वाला इस तत्त्व की पूर्ण जानकारी कर सकता है, तथा बंध और मोक्ष के कारण भूत कर्मों की पहिचान करके पुरुषार्थ युक्त तथा सफल जीवन व्यतीत कर सकता है ।

—— चुन्नीलाल वर्धमानशाह

शुद्धि-पत्र

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
निवेदन २	२३	पुस्कर	पुष्कर
भूमिका ८	१	तत्वों	तत्व
,, १०	१६	के	से
,, १४	७	बया	वृया
,, १७	१	अपनी	अपने
३	६	आर	और
११	२१	किवा	किंवा
१२	२१	है	थे
१५	९	देवता	देवता
१६	१३	प्रकृत	प्राकृत
३०	१६	निर्देष	निर्देश
४१	१९	संर्जन	सृजन
४४	२१	चार	चारों
४७	३	वैशेपिक	वैशेषिक
४७	३	न्यायर्शन	न्यायदर्शन
४७	५	स्वभाववादियो	स्वभाववादियों
५६	१६	छादोग्योपनिपद्	छांदोग्योपनिषद्
६१	१२	अपरिमितं	अपरिमित
६८	१३	रपर्क	सम्पर्क
६९	९	[illegible]	कूर्म
८२	६	इधन	ईंधन
८८	७	अर्था	अर्थ
८९	१६	अंन्तर्यामि	अन्तर्यामी
९६	१०	अड	अण्ड
९६	१४	इश्वर	ईश्वर
९९	४	पूंछते	पूछते
९९	५	वातां	वार्तों
१००	६	कदापित्	कदाचित्
१०१	१२	जगत	जगत्
१०२	८	पृथ्वि	पृथ्वी
१०३	२३	प्रजपति	प्रजापति
१०५	७	भाग	भोग
१०५	२०	धूम	धूम्र
१०६	१	वना	वन
१०६	१२	नही	नहीं
११२	२३	वुनाई	चुनाई
११४	१५	आहुती	आहुति
११५	३	आयगा	आवेगा
११५	३	लाकंपृण	लोकंपृणा
११७	७	देवताओ	देवताओं
१२६	१७	का	को
१२७	३	जा	जो

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
१२७	१५	देवो	देवों
१२८	३	सदेव	सदैव
१३०	१२	अथर्वण	अथर्व
१३०	१३	सब स	सबसे
१३१	१६	भावि	भावी
१३२	१२	अथर्वण	अथर्व
१४१	६	शृष्टि	सृष्टि
१५१	२	सलिल	सलिलं
१६१	५	मनुय	मनुष्य
१६१	१४	सृष्टि	दृष्टि
१६१	१५	नहा	नहीं
१६३	१८	प्रज	प्रजा
१६३	२०	को	के
१६७	५	वे	हैं
१६९	३	श्रति	श्रुति
१६९	१७	श्रतियाँ	श्रुतियाँ
१७३	२३	प्रश्र	प्रश्न
१७५	१४	प्रक्रियाआ	प्रक्रियाओं
१७६	१३	का	को
१७८	१	एसा	ऐसा
१८३	९	विष्ण	विष्णु
१८३	१०	चर्वा	चर्चा
१८४	२	दूसरा	दूसरी
१८७	१८	सन्दरांश्चेव	सुन्दरांश्चेव
१८८	३	न	ने
१९२	४	अत्र	अत्रि
१९४	१६	का	की
१९५	१३	से	को
२०२	९	अम्दर	अन्दर
२०२	११	गाँच	पाँच
२०३	२०	अनः	अतः
२०५	६	मूल	फूल
२०७	१६	भृमने	भ्रमन्ते
२१०	३	वत्त	वृत्त
२११	११	पुगलि ये	युगलियं
२१८	११	आश्रय	आश्रयं
२१९	६	मनप्य	मनुष्य
२२१	२२	हे ब्रह्मन्	हे ब्रह्मन् !
२२२	५	हजारां	हजारों
२२२	५	चरण	चरणों
२२२	६	आर	और
२२३	२१	मागा	मांगो
२२४	१०	जाआ	जाओ
२२९	१	जगत्कृत्स्नं	जगत्कृत्स्न
२४३	५	स	से
२४३	१६	कारत्येत्	कारयेत्
२५२	७	औ	और
२५९	१६	सामन	समान
२५९	१७	और	×

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
२६१	३	न	ने
२६१	८	जैसा	जैसे
२६१	९	वैसा	वैसे
२६१	१४	पियासा	प्यासा
२६१	१९	पियासा	प्यासा
२६२	६	पियासा	प्यासा
२६२	१९	वेर	वैर
२६४	३	तुमारा	तुम्हारा
२६४	९	दूगा	दूंगा
२६५	१२	चारियो	कर्मचारियों
२६८	२२	आर	और
२६९	७	छिपाला	छिपालो
२६९	११	स्वग	स्वर्ग
२७२	३	का	की
२७३	६	चाथे	चौथे
२७३	७	मनुष्य	मनुष्यों
२७३	३	क्याकि	क्योंकि
२७३	८	बड़	बड़ी
२७३	१४	फांड़ो	फोड़ों
२७३	१८	उडेल	ऊँडेल
२७६	१२	जमकीला	चमकीला
२७६	११	जिन्द	जिन्दा
२७७	३	अन्याई	अन्यायी
२७८	१९	उस	उसने
२८०	२३	बेटो ?	बेटो !
२८५	१	छुपीं	छिपी
२८५	९	ह	हैं
२८५	९	हायंगे	होयंगे
२८५	१२	स	सं
२८६	१७	का	को
२९०	२	अन्याइयों	अन्यायियों
२९५	३	जिनने	जितने
२९९	९	रंकुचितता	संकुचितता
३०१	१३	तरीनं	तरीके
३०९	९	रहुने वाले	रहने वाले
३१२	१३	श्रणियां	श्रेणियां
३१३	१	एवेस्ट	एवरेस्ट
३१३	३	एवेस्ट	एवरेस्ट
३१६	१९	में	से
३१७	४	वगरह	वगैरह
३१८	१६	विपय	विशप
३२०	४	रेडिम	रेडियम
३२३	९	अर्द् भज्ज	उद्भिज्
३२७	१४	शीचामि	शोचामि
३२७	२१	शक्ती	शक्ति
३२९	७	वद्द	वृद्द
३३७	९	विद्यत्	विद्युत्
३३७	१५	की	ही
३३८	१८	शेल	सेल Cell
३३८	२१	शेल	सेल

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
३३९	१६	शेल	सेल
३४१	६	गृहित	गृहीत
३४३	५	भा	भी
३४६	९	कादाचित्क	कादाचित्क
३४९	२२	उपाधी	उपाधि
३४९	२२	भिन	भिन्न
३५२	५	से	कैसे
३५३	५	एकज्ञानात्म-कवे	एकज्ञानात्मकत्वे
३५६	११	का	के
३५६	९	योग्याभ्यास	योगाभ्यास
३६०	८	कदाचत्	कदाचित्
३६१	१३	दृष्टि	×
३६४	४	सृष्टी	सृष्टि
३६५	१	साध	साधन
३६५	३	अनुकम्प्यानां	अनुक-म्पानां
३६८	१२	सष्टि	सृष्टि
३६८	१८	प्रप्त	प्राप्त
३८५	२१	कुस्भकार-कृतत्व	कुम्भकार-कृतत्व
४०७	२०	दर्सायें	दर्शायें
४१४	६	अकान्त	एकान्त
४१४	११	सौम्यकर	सौपकर
४१४	१३	दर्सातें	दर्शातें
४२३	९	स्यान्	स्यात्
४२७	१६	एकान्न-कालवाद	एकान्त कालवा
४२७	१७	सूरजी	सूरिजी
४३७	१६	अधमास्किाया	अधर्मास्तिकाय
४४२	६	पर्याप	पर्याय
४४२	१३	पर्माय	पर्याय
४४८	३	माग	मार्ग
४४९	१८	वना	विना
४५१	२१	अमूत	अमूर्त
४५३	१२	जैसे	×
४५८	१६	त	तो
४६३	१०	आर	और
४६७	२०	मात्रा	मात्र
४७२	३	जगन्	जगत्
४७४	१०	प्राणतिया-तादि	प्राणातिपातादि
४७७	२०	पर्याप	पर्याय
४७८	१४	उपदान	उपादान
४८३	८	जीवौ	जीवों
४८५	१३	समान्य	सामान्य
४८६	३	कीरते	करते
४८६	१५	ज्ञायि	ज्ञायिक
४८७	२३	तथ	तथा

आधुनिक विद्वानों के अभिप्राय

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
१२	१६	न	न न
१२	२०	सार	संसार
१४	१	मन	मत.

अनुक्रमणिका

सृष्टि कर्तृत्व-वाद का पूर्वपक्ष

सृष्टिवाद और ईश्वर

[सूयगडांगसूत्र की पाँच गाथाओं के आधार पर भिन्न भिन्न धर्मानुसार सृष्टि तथा प्रलय के साथ ईश्वर का सम्बन्ध और जैन दृष्टि से समन्वय]

सृष्टि कर्तृत्ववाद का पूर्वपक्ष

वैदिक सृष्टि-देववाद

लोक-वाद के सम्बन्ध में भगवान् महावीर स्वामी के द्वारा बतलाई हुई अन्यवादियों की मान्यताएँ, श्री सुधर्मा स्वामी स्वशिष्य जम्बू को सुनाते हैं—

मू०—इणमन्नं तु अन्नाणं, इहमेगेसिमाहियं ।
देव-उत्ते अयं लोए, बंभ-उत्तेत्ति आवरे ॥

(सूय० १ । १ । ३ । ५)

सं० छा०—इदमन्यत्तु अज्ञानं, इहैकेषामाख्यातम् ।
देवोप्तोऽयं लोकः ब्रह्मोप्त इत्यपरे ॥

अर्थ—लोकवाद के सम्बन्ध में कितने ही वादियों का कहा हुआ दूसरा अज्ञान भी है। वह इस प्रकार है—

"(१) यह लोक-जगत् देव से निष्पन्न—उत्पन्न हुआ है।"

"(२) ,, ,, देव से रक्षण किया हुआ है।"

"(३) ,, ,, देव का पुत्र-रूप है"।

एक दूसरे वादी का कहना है कि—

"(४) यह लोक ब्रह्म से उत्पन्न हुआ है।"

विवेचन—प्रस्तुत गाथा के तीसरे चरण में सृष्टिकर्ता के रूप में सर्वप्रथम 'देव' शब्द प्रयुक्त हुआ है। इससे सृष्टिवाद के इतिहास का आरम्भकाल सूचित होता है। भारतीय धार्मिक जगत् में सृष्टिकर्तृत्व वाद का मुख्य प्रतिनिधि वैदिक धर्म है। प्रभु महावीर ने इसी धर्म की विभिन्न शाखाओं की सृष्टि-सम्बन्धी मान्यताएँ बतलाई हैं। अस्तु, जब हम ऐतिहासिक दृष्टि से वैदिक धर्म का पर्यवेक्षण करते हैं तो वैदिक काल मुख्यतः तीन भागों में विभक्त मिलता है—संहिताकाल, ब्राह्मणकाल और उपनिषद्काल। संहिताकाल स्तुतिप्रधान है, ब्राह्मणकाल यज्ञ यागादि कर्मकाण्डप्रधान है, और उपनिषद्काल आत्मा परमात्मा आदि दार्शनिक विचारों को प्रगट करने वाला ज्ञान-प्रधान है।

संहिताकाल में ईश्वर अथवा सृष्टि सम्बन्धी कोई व्यवस्थित चिन्तन, देखने में नहीं आता। संहिता के मन्त्रों में एक ईश्वर के स्थान में अनेक देव उपस्थित होते हैं और उन देवों की प्रार्थनायें वहाँ इष्ट सिद्धि के लिए की गई हैं। उस समय की इष्ट वस्तुयें—भोजन, पान, वस्त्र, कीर्ति, शत्रुओं की ओर से होने वाले संकटों से रक्षा, इत्यादिक हैं। प्रमाणस्वरूप, देखिये, ऋग्वेद संहिता के कुछ मन्त्र—

अस्मे धेहि श्रवो बृहद् द्युम्नं सहस्रसप्तमं इन्द्र तारथिनीरिषः ।

(ऋग्० १ । ९ । ८)

हे इन्द्र ! हमें महती कीर्ति, बहुदान सामर्थ्ययुक्त धन और अनेक रथपूर्ण अन्न दान करो ।

यो रेवान् यो अमीदहा वसुवित् पुष्टिवर्द्धनः, स नः सिषक्तु यस्तुरः ।

(ऋग्० १ । १८ । २)

जो सम्पत्तिशाली, रोग मिटाने वाले धनदाता, पुष्टिवर्द्धक और शीघ्र फल दाता हैं; वे ब्रह्मणस्पति या बृहस्पति देवता हमारे ऊपर अनुग्रह करें ।

हत वृत्रं सुदानव इन्द्रेण सहसा युजा, मा नो दुःशंस ईशत ।

(ऋग्० १ । २३ । ९)

दानपरायण मरुतो ! बली और अपने सहायक इन्द्र के साथ शत्रु का विनाश करो, जिससे दुष्ट शत्रु हमारा मालिक न बन बैठे ।

पाहि नो अग्ने रक्षसः पाहि धूर्तेरराव्णः ।
पाहि रीषत उत वा जिघांसतो बृहद्भानो यविष्ठय ॥

(ऋग्० १ । ३६ । १५)

हे विशाल किरण युवक अग्नि ! हमें राक्षसों से बचाओ । धन दान न करने वाले धूर्तों से रक्षा करो । हिंसक पशु से रक्षा करो । हननेच्छुक शत्रु से रक्षा करो ।

त्वं तस्य द्वयाविनोऽघशंसस्य कस्यचित्, पदाभि तिष्ठ तपुषिम् ।

(ऋग्० १ । ४२ । ४)

जो कोई प्रत्यक्ष या परोक्ष, दोनों प्रकार से हरण करता और अनिष्ट साधन करता है, हे पूषन् देव ! उसकी परपीड़क देह को अपने पैरों से रौंद डालो।

इस प्रकार के हजारों मन्त्र ऋग्वेद में अग्नि, मित्र, वरुण पूषन् सूर्य आदि देवों की प्रार्थना रूप या उपासनारूप हैं। यह प्रार्थना पद्धति, मात्र संहिता युग में ही नहीं रही, किन्तु ब्राह्मण युग में भी प्रचलित रही है। बल्कि कहीं कहीं तो संहिता की अपेक्षा ब्राह्मणों में यह पद्धति अधिक स्पष्ट एवं विस्तृत है। प्रमाण स्वरूप ऐतरेय ब्राह्मण के ३३ वें अध्याय में जो राजा हरिश्चन्द्र और शुनःशेप का उपाख्यान लिखा हुआ है, वह यहाँ बता देना उपयोगी होगा।

इक्ष्वाकुवंश में वेधस् राजा का पुत्र हरिश्चन्द्र नामक एक सुप्रसिद्ध राजा हुआ है। उसके सौ रानियाँ थीं, किन्तु दुर्भाग्य से एक भी पुत्र नहीं हुआ। एक समय की बात है कि नारद मुनि राजा के पास आये और प्रसंग चलने पर उन्होंने बतलाया कि—'संसार में पुत्र के बिना गृहस्थ की गति नहीं होती।' राजा के हृदय में पहले से ही पुत्र के लिए चिन्ता थी, और अब इस धार्मिक सिद्धान्त के कारण तो वह और भी अधिक बलवती हो उठी। राजा के द्वारा पुत्र प्राप्ति का उपाय पूछे जाने पर नारद ऋषि ने बतलाया कि—'वरुण की प्रार्थना करो।' नारद मुनि के आदेशानुसार राजा ने वरुण देव की उपासना की और प्रतिज्ञा की कि—'हे वरुण देव ! मेरे जो पुत्र होगा उसी से मैं तुम्हारा यज्ञ करूँगा।' वरुण ने राजा की यह प्रार्थना स्वीकार कर ली। फलस्वरूप राजा को एक पुत्र की प्राप्ति हुई। उसका नाम रोहित रक्खा गया। पुत्र होते ही

वरुण देव राजा के पास आये और कहने लगे कि—हे राजन्! मेरे वर से तुमको पुत्र की प्राप्ति हुई है, अतः प्रतिज्ञानुसार इस पुत्र से मेरा यज्ञ कर—अर्थात् मेरे लिये पुत्र का वलिदान कर। राजा ने कहा कि जव तक अशौच निवृत्ति नहीं होती है, तव तक यज्ञ उचित नहीं माना जाता। अभी तो पुत्र पैदा हुआ है, अशौच-निवृत्ति भी नहीं हो पाई है! दस दिन के वाद अशौच-निवृत्ति हो जाने पर, वरुण फिर दुवारा राजा के पास आया और पुत्र के वलिदान की माँग करने लगा। राजा ने फिर भी यह कह कर टरका दिया कि—जव तक दाँत नहीं आते, तव तक कोई भी पशु, यज्ञ के योग्य नहीं गिना जाता। रोहित भी तो यज्ञ में वलि दिए जाने के कारण एक पशु ही है; अतः कृपया दाँत आने दीजिये। जव दाँत आ गये तो वरुण की तरफ़ से फिर माँग की गई! इस पर यह कहा गया कि—जव तक पहली वार के आये हुये दाँत नहीं गिर जाते और दूसरी वार नये दाँत नहीं जम आते, तव तक यज्ञ के योग्य नहीं हो सकता। नये दाँत आने के पश्चात् वरुणजी फिर आ धमके। इस वार राजा ने लम्वी चाल चली कि—महाराज! अन्य पशु तो नये दाँत आ जाने पर यज्ञ में वलिदान के योग्य हो जाते हैं; परन्तु यह तो क्षत्रिय पशु है, अतः जव तक पढ़-लिख कर धनुर्विद्या में निपुण नहीं हो जाता तव तक भला यज्ञ के योग्य कैसे हो सकता है? अस्तु वेचारे वरुण देव खाली हाथ ही लौट गये और लम्वी आशा वाँधे वैठे रहे। इधर रोहित वाल्यकाल वीत जाने पर युवक हो गया और साथ ही धनुर्विद्या में भी पारंगत हो गया। वरुणजी को चैन कहाँ थी? अव की वार आप वड़ी दृढ़ता के साथ पधारे, और वलि लेने के लिये अड़

गये। लाचार राजा ने रोहित को बुला कर शुरू से आखिर तक की सारी परिस्थिति कह सुनाई। और अन्त में कहा कि—मैंने वचन दिया है, अतः तुझे अपना बलिदान देना होगा। राजकुमार ने स्पष्टतः इन्कार कर दिया—कि मैं मरने के लिये बिल्कुल तैयार नहीं हूँ। रोहित क्रुद्ध हो गया और अपना धनुषबाण लेकर वन में चला गया। इधर वरुण देव, बलि न मिलने के कारण राजा के ऊपर कोपायमान हो गये, फलतः राजा के जलोदर रोग उत्पन्न कर दिया। रोहित एक वर्ष तक निरन्तर वन में ही घूमता रहा। इस बीच में उसने सुना कि—पिताजी वरुण के शाप से जलोदर के रोग से पीड़ित हैं, इससे उसका दिल द्रवित हो गया। विचारने लगा कि—तुच्छ जीवन-मोह के कारण क्यों पिता को कष्ट में रक्खूँ? क्यों नहीं अपनी बलि देकर पिता को नीरोग करूँ? जब कि रोहित यह विचार कर वापस नगर में जाने को तैयार हुआ तो ब्राह्मण के रूप में स्वयं इन्द्र ने आकर रोहित को बहका दिया कि—घर जाकर क्या करेगा, बन में ही रह, तेरा कल्याण इसी बात में है। रोहित इन्द्र के बहकावे में आ गया, घर न जाकर वनमें ही रह गया। इस प्रकार दूसरे, तीसरे, चौथे तथा पाँचवें वर्ष में घर जाने का संकल्प किया, परन्तु प्रत्येक वर्ष इन्द्र उसे रोकता रहा। आखिर छठे वर्ष में दृढ़ विचार के साथ रोहित पिता से मिलने के लिये रवाना हो गया। रास्ते में आते हुए उसे अत्यन्त दरिद्र, भूखों मरता अजीगर्त ऋषि मिला। ऋषि के शुनःपुच्छ, शुनःशेप, तथा शुनोलांगूल नामक तीन पुत्र थे। बात चीत होने पर रोहित ने मँझले लड़के शुनःशेप को वरुण की बलि के लिये सौ गायों के बदले में खरीद लिया और उसे साथ लेकर खुशी-खुशी

पिता के पास पहुँचा। बलिदान के सम्बन्ध में पिता से कहा—'वरुण को तृप्त करने के लिये आप मेरे बदले में शुनःशेप की बलि दे दीजिये। ऐसा करने से दोनों बातें सिद्ध हो जायँगी। मैं भी जीता रहूँगा और आप की व्याधि भी दूर हो जायगी।' वरुण देव के समक्ष जब यह निर्णय रक्खा गया तो उन्होंने भी प्रसन्नता के साथ स्वीकृति दे दी, क्योंकि क्षत्रिय की अपेक्षा ब्राह्मण उच्च एवं पवित्र माना गया है। शुनःशेप जाति से ब्राह्मण था ही। बड़ी धूमधाम के साथ यज्ञ की तैयारी की गई। यज्ञ में विश्वामित्र को होता का, जमदग्नि को अध्वर्यु का, वशिष्ठ को ब्रह्मा का, और अयास्य को उद्गाता का काम सौंपा गया। जब कि शुनःशेप को यूप—यज्ञस्तंभ में बाँधने का समय आया तो कोई भी ऋषि बाँधने के लिए तैयार नहीं हुआ। तब शुनःशेप के पिता अजीगर्त ने याचना की कि—अगर मुझे सौ गायें और देवें तो मैं अपने पुत्र को यूप से बाँध दूँ। राजा ने सौ गायें और दे दीं, और उसने बाँधने का काम पूरा कर दिया। अब शुनःशेप को काटने-का मारने का प्रसंग उपस्थित हुआ। उक्त निर्दय कार्य के लिये भी कोई तैयार नहीं हुआ। इस बार अजीगर्त ने फिर कहा कि—मुझे सौ गायें और दीजिये मारने का काम भी मैं ही किये देता हूँ। वहाँ क्या विलम्ब था, सौ गायें दे दी गईं। सौ गायें मिलने पर अजीगर्त ने छुरी उठाई और एक बार में ही काम तमाम हो सके—एतदर्थ छुरी को शान पर तीक्ष्ण करने लगा। उस समय शुनःशेप को निश्चय हो गया कि ये लोग मुझे एक साधारण पशु समझ रहे हैं, मेरे शरीर के खंड-खंड कर के अग्नि में होम डालेंगे। अब सिवा देवताओं के मुझे इस संकट से उबारने वाला पृथ्वी पर और

कोई दूसरा नहीं है। अस्तु, मेरी भलाई इसी में है कि देवताओं की शरण में जाऊँ—उनकी प्रार्थना करूँ।

सबसे पहले वह प्रजापति की शरण में पहुँचा। प्रजापति ने अग्नि के पास, अग्नि ने सविता के पास और सविता ने वरुण के पास भेजा। वरुण ने कहा कि विश्वेदेवों की स्तुति करो। विश्वेदेवों ने कहा कि हम में सबसे श्रेष्ठ इन्द्र है, अतः तुम इन्द्र की स्तुति करो, वह तुम्हारी अवश्य रक्षा करेगा। शुनःशेप ने इन्द्र की स्तुति की। इन्द्र ने प्रसन्न होकर सोने का रथ दिया और कहा कि अश्विनी कुमारों की स्तुति करो। इस भाँति एक एक करके सब देवताओं की स्तुति करने से शुनःशेप के सब के सब बन्धन टूट गये और हरिश्चन्द्र राजा की बीमारी भी नष्ट होगई।

यह कथा मूलतः संक्षेप से ऋग्वेद में अष्टक १, मंडल १, अध्याय २, अनुवाक ६, सूक्त २४ से ३० तक है। उक्त सात सूक्तों में वे मंत्र दिये गये हैं, जोकि खंभे में बँधे हुये शुनःशेप ने भिन्न-भिन्न देवों की स्तुति के रूप में बोले थे। ऋग्वेद की ही यह कथा उल्लिखित रूप में ऐतरेय ब्राह्मण के ३३ वें अध्याय में विस्तृत हुई है। आगे चल कर इसी कथा ने रामायण बालकांड ६१-६२ अध्याय में, मनुस्मृति, भागवत तथा विष्णुपुराण आदि में कुछ साधारण परिवर्तन के साथ सुन्दर उपाख्यान के रूप में स्थान पाया है।

प्रकृत कथा और शुनःशेप के प्रार्थनामंत्रों से, यह सारांश निकलता है कि हरिश्चन्द्र के समय तक न तो जगत्-सृष्टि चिन्तन है और न ईश्वर-चिन्तन ही। अगर उस समय में ईश्वर सम्बन्धी विचार जनता में उद्‌भूत हो चुके होते तो अवश्य ही शुनःशेप प्रजापति, मित्र, वरुण, अग्नि, विश्वेदेव तथा इन्द्र के

बदले ईश्वर की प्रार्थना करता। दूसरी बात यह है कि विश्वेदेवों ने शुनःशेप को जो यह कहा कि 'हम में इन्द्र सब से श्रेष्ठ है, अतः उसकी प्रार्थना कर।' यह न कह कर इसके बदले यह कहते कि—'ईश्वर सब से श्रेष्ठ है, अतः एकमात्र उसी महाप्रभु की उपासना कर।' परन्तु यहाँ तो ईश्वर का नाम तक भी नहीं लिया गया। अस्तु, उक्त वस्तुस्थिति से हम इस नतीजे पर पहुँचते हैं कि वह समय एकेश्वर वाद का न होकर अनेक देववाद का था। ईश्वरवाद तथा सृष्टिवाद के अनेक युग पलट जाने के पश्चात् आज पर्यन्त भी अनेकदेववाद हिन्दू जाति में से नष्ट नहीं हो सका है। कई निम्न श्रेणी के लोगों द्वारा आज भी उसी रूप में देव देवी के नाम से उपासना—प्रार्थना होती है और यथा प्रसंग बलि भी दी जाती है। कभी कभी तो समाचार पत्रों में नरबलि तक के भयंकर रोमांचकारी समाचार पढ़ने में आते हैं। क्या ये सब बातें प्राचीन देवसंस्कृति की परिचायक नहीं हैं?

उस समय की यह मान्यता थी कि—"अगर देवता प्रसन्न रहें तो वे यथेष्ट धनधान्यादि सामग्री देकर हमें सुखी बना सकते हैं। और अगर कभी अप्रसन्न अर्थात् कुपित हो जायँ तो हमें सब तरह से नष्ट-भ्रष्ट कर सकते हैं।' अस्तु, उनको प्रसन्न करने के लिये यज्ञ यागादि क्रियाएँ की जाती थीं। सामान्यतौर पर इन देवों को कर्ता, हर्ता, रक्षक, नाशक कहा जा सकता है। ऋग्वेद संहिता के मंत्रों से देवों के सम्बन्ध में इतनी ही झलक मिलती है।

ये देव कितनी संख्या में हैं? इस सम्बन्ध में काफी मतभेद हैं। अस्तु वैदिक ऋषियों की भिन्न भिन्न मान्यताओं के कुछ उल्लेख यहाँ दिये जा रहे हैं।

ये देवासो दिव्येकादशस्थ पृथिव्या मध्येकादशस्थ ।
अप्सु क्षितो महिनैकादशस्थ ते देवासो यज्ञमिमं जुषध्वं ॥

(ऋग्० १ । १३९ । ११)

अर्थ—जो देवता स्वर्ग में ११, पृथिवी में ११, और अन्तरिक्ष में ११ हैं, वे अपनी अपनी महिमा से यज्ञ-सेवा करते हैं।

ये त्रिंशति त्रयस्परो देवासो बर्हिरासदन्, विदन्नह द्वितासनन् ।

(ऋग्० ८ । २८ । १)

अर्थ—जो तीस और तीन अर्थात् ३३ देवता बर्हि (मयूर) के ऊपर बैठे थे, वे हमें अवगत हो जायँ तथा दो प्रकार का धन दान करें। .

ये तेतीस देवता कौन कौन हैं, इसका पृथक्करण यद्यपि ऋग्वेद में नहीं है, तथापि शतपथ ब्राह्मण में अधोनिर्दिष्ट वर्गीकरण इस प्रकार किया गया है।

कतमे ते त्रयस्त्रिंशदित्यष्टौ वसव एकादश रुद्रा द्वादशादित्या स्त एकत्रिंशत् इन्द्रश्चैव प्रजापतिश्च त्रयस्त्रिंशाविति ।

(शत० ब्रा० ११ । ६ । ३ । ५)

अर्थ—वे तेतीस देवता कौन से हैं ? आठ वसु, ग्यारह रुद्र बारह आदित्य ३१, एवं इन्द्र और प्रजापति दोनों मिलकर सब तेतीस देवता हैं।

ऐतरेय ब्राह्मण में ३३ सोमप तथा ३३ असोमप—इस प्रकार कुल ६६ देवताओं का उल्लेख है। अष्ट वसु, एकादश रुद्र, द्वादश आदित्य, प्रजापति और वषट्कार, ये ३३ सोमप तथा एकादश प्रयाज, एकादश अनुयाज और एकादश उपयाज, ये ३३

असोमप हैं। सोमपायी सोम से तृप्त होते हैं, और असोमपायी यज्ञ में हवन किये जाने वाले पशुओं से तृप्त होते हैं।

(ऐतरेय ब्रा० २। २। ८)

ऋग्वेद में एक स्थान पर देवों की संख्या ३३३९ बतलाई है—

त्रीणि शता त्रीसहस्राण्यग्निं त्रिंशच्च देवा नव चासपर्यन्।

(ऋग्० १०। ५२। ६)

अर्थ—तीन हजार तीनसौ तीस और नौ देवगण अग्नि की पूजा करते हैं। शतपथ ब्राह्मण (११।६।३।४) सांख्यायन श्रौत सूत्र (८।२१।१४) आदि अन्य वैदिक ग्रंथों में भी ऊपर लिखे अनुसार ३३३९ देवता बताये गये हैं।

पुराणकाल में तेतीस शब्द के साथ कोटि शब्द और जुड़ जाता है, फलतः देवताओं की संख्या तेतीस से झट तेतीस करोड़ हो जाती है। देखिये—

सदारा विबुधाः सर्वे स्वानां स्वानां, गणैः सह,
त्रैलोक्ये ते त्रयस्त्रिंशत्-कोटिसंख्यतयाऽ भवन्।

(पद्म० उ०)

अर्थ—इस त्रैलोक्य में देवता लोग अपनी-अपनी स्त्रियों तथा अपने-अपने गणों के साथ सब मिल कर तेतीस करोड़ हैं।

कोटि शब्द का अर्थ करोड़ संख्या बताने की कल्पना पौराणिक है। इतिहास वेत्ताओं ने तो यहाँ कोटि शब्द का अर्थ प्रकार किवा वर्ग माना है और इससे देवताओं के तेंतीस प्रकार अथवा तेतीस वर्ग निश्चित होते हैं। इसके लिये,

"हिंद तत्व ज्ञान नो इतिहास" पूर्वार्द्ध पृष्ठ ७ का टिप्पण देख-लेना उपयुक्त होगा। वहाँ लिखा है कि 'द्वादश आदित्य, एकादश रुद्र अष्टवसु, इन्द्र और प्रजापति मिल कर तेतीस देव कोटि अर्थात् वर्ग हैं।' कोटि का करोड़ अर्थ होकर तेंतीस करोड़ देवों की प्रथा लोक में बाद में प्रचलित हुई है।

'देवउत्त' शब्द

गाथोक्त मौलिक 'देवउत्त' शब्द का टीकाकार ने 'देवैर्गुप्तः' ऐसा दूसरा अर्थ किया है, वह प्रस्तुत अनेकदेववाद में ठीक ठीक लागू पड़ता है। क्योंकि उस समय के वैदिक लोग अग्नि, मित्र, वरुण, इन्द्र आदि अनेक देवों को अपने संरक्षक माना करते थे। उनकी मान्यता थी कि "मनुष्य आखिर मनुष्य है। वह संकट पड़ने पर अपने आप अपनी रक्षा नहीं कर सकता। संकट काल में एकमात्र देवताओं का कृपाभात्र ही रक्षक हो सकता है।" अस्तु प्रस्तुत मान्यता की ठीक तरह संगति बैठाने के लिए गाथा में आए हुए लोक शब्द से अपने आसपास का आँखों से देखा जाने वाला प्रत्यक्ष लोक ही समझना चाहिए। मालूम होता है कि प्राचीनतम वैदिक युग के ऋषियों की दृष्टि अधिक व्यापक रूप से नहीं फैली थी। उनका दृष्टि कोण बहुत छोटी सी अपनी कौटुम्बिक दुनिया तक ही सीमित था। यही कारण है कि अधिकांश वैदिक ऋषि देवताओं के दरबार में एकमात्र अपना, अपने कुटुम्ब का, अपने पशुओं का रक्षण तथा अपने शत्रुओं का विनाश-माँगते देखे जाते हैं। अतः समस्त 'देव उत्त' शब्द का 'देवैर्गुप्तः' देवताओं से रक्षित ऐसा बहुवचन सर्वथा उपयुक्त ही है।

उपास्य की अनेकता आगे चल कर उपासकों की अनेकता में परिणत हो जाती है और मानव समाज में पारस्परिक भेदभाव भी उत्पन्न कर देती है। देवताओं की अनेकता ने भी यही किया। ज्यों ज्यों ये देवता-सम्बन्धी वैदिक मान्यताएँ आगे बढ़ती गईं और रूढ़ होती गईं त्यों-त्यों तत्कालीन ऋषियों में भेदभाव का विष अधिकाधिक फैलता चला गया। और यह संघर्ष इतना आगे बढ़ा कि कुछ ऋषियों की तो देवताओं के प्रति एक प्रकार से अश्रद्धा ही हो गई थी। देखिये ऋग्वेद के एक ऋषि इन्द्र के सम्बन्ध में क्या कह रहे हैं—

नेन्द्रो अस्तीति नेम उ: त्व आह कई ददर्श कमभिष्टवाम।

(ऋग्० ८। १००। ३)

अर्थ—नेम ऋषि कहता है कि इन्द्र नाम का कोई भी देवता नहीं है। उसे किसने देखा है? अस्तु, हम लोग किस की स्तुति करें?

उक्त मंत्र में स्पष्टरूप से इन्द्र के अस्तित्व से इन्कार किया गया है। वैदिक युग में सबसे बड़ा प्रभावशाली देवता इन्द्र ही माना गया है। जब कि उस इन्द्र के सम्बन्ध में ही ये विचार उठ खड़े हुए थे तो दूसरे छोटे देवताओं की तो बात ही क्या रही होगी? मनुष्य समाज का यह नैसर्गिक स्वभाव है कि वह उपास्य के रूप में थोड़ी सी संख्या वाले व्यक्तियों की ही श्रद्धा भक्ति के साथ उपासना कर सकता है। इसके विपरीत जब वह इधर उधर चारों ओर उपास्य व्यक्तियों के दल के दल देखता है तो सहसा संशयाकुल हो जाता है और धीरे धीरे एक दिन सर्वथा अश्रद्धालु बन जाता है। वैदिक ऋषियों ने जब इस भाँति तखता उलटता देखा तो उन्होंने बड़ी समझ-

दारी से काम लिया, और देवताओं की तूफान के समान निरंतर बढ़ती जाने वाली संख्या को रोक कर पहले बढ़ी हुई संख्या में से कमी करनी शुरू कर दी।

निरुक्तकार के मत से तीन देवता

निरुक्तकार यास्क ने सब देवताओं का मात्र तीन देवताओं में ही समावेश कर दिया है। वह इस प्रकार है:—

तिस्र एव देवता इति नैरुक्ताः। अग्निः पृथ्वीस्थानो, वायुर्वेन्द्रो वान्तरिक्षस्थानः, सूर्यो द्युस्थानः। तासां महाभाग्यादेकैकस्या अपि बहूनि नामधेयानि भवन्ति। इतरेतरजन्मानो भवन्तीतरेतरप्रकृतयश्च।

(नि० दै० ७। २। १)

अर्थ—निरुक्तकार कहते हैं कि—तीन ही देवता हैं। पृथ्वी स्थानीय अग्नि, अन्तरिक्षस्थानीय वायु अथवा इन्द्र, और द्युस्थानीय सूर्य। ये तीनों देवता बड़े ही भाग्यशाली हैं; अतः एक एक देवता के अनेकानेक नाम होगये हैं। ये एक दूसरे से परस्पर जन्म लेने वाले और परस्पर समान प्रकृति वाले हैं।

यह कल्पना मात्र यास्क की या उससे पहले के निरुक्तकारों की ही हो, यह बात नहीं है। खास ऋग्वेद के मूल मन्त्रों पर से ही उक्त मान्यता के उद्गम का पता चलता है। निम्नोक्त अवतरण से यह बात अच्छी तरह समझ में आ सकेगी।

देवानां माने प्रथमा अतिष्ठन् कृन्तत्रादेषामुपरा उदायन्।
त्रयस्तपन्ति पृथिवीमनूपा द्वा बृबूकं वहतः पुरीषम्॥

(ऋग्० १०। २७। २३)

अर्थ—देवताओं की जब गणना हुई, तब सब देवताओं में मात्र तीन देवता ही मुख्य ठहरे—वायु, आदित्य और पर्जन्य। क्योंकि ये तीनों ही संसारी मनुष्यों के कर्मानुसार क्रमशः चलते हैं, तपते हैं और बरसते हैं।

पाठक देख सकते हैं कि उक्त मन्त्र में स्पष्टतः सब देवताओं का तीन देवताओं में ही समावेश कर दिया है। इतना ही नहीं आगे चलकर तो अनेकदेववाद पर बड़ा कर्कश आघात किया है और समन्वय करते करते सब देवताओं के स्थान में बस एक ही देवता को रख लिया है। देखिये—

इन्द्रं मित्रं वरुणमग्निमाहुरथो दिव्यः स सुपर्णो गरुत्मान्।
एकं सद्विप्रा बहुधा वदन्त्यग्निं यमं मातरिश्वानमाहुः॥

(ऋग्० १।१६४।४६)

अर्थ—पंडित लोग आदित्य को इन्द्र, मित्र, वरुण तथा अग्नि कहा करते हैं। वही सुपर्ण और गरुत्मान् है। उसी को अग्नि, यम और मातरिश्वा भी कहते हैं। ये सब वास्तव में एक ही हैं। तथापि विद्वान् उन्हें अनेक नामों से पुकारते हैं।

यही बात शतपथ ब्राह्मण में भी स्पष्टतः कही गई है—

तद् यदिदमाहुरमुं यजामुं यजेत्येकैकं देवमेतस्यैव, सा विसृष्टिरेष उ ह्येव सर्वे देवाः।

(शत० ब्रा० १४।४।२)

अर्थ—जहाँ कहीं एक एक देवता को उद्देश्य करके जो यह कहा गया है कि इसका यज्ञ करो या उसका यज्ञ करो वह सब इस एक की ही सृष्टि है। यह एक ही सर्वदेवरूप है। अर्थात् एक के ही अनेक नाम हैं।

उक्त उद्धरण से यह स्पष्ट हो जाता है कि—अनेक देववाद में से ही एक देववाद का आविर्भाव हुआ है। स्वामी दयानन्द सरस्वती ने तो एक देव के स्थान में एक ईश्वर—परमात्मा की ही स्थापना की है। परन्तु यह वात सायण महीधर आदि अन्य भाष्यकारों को संमत नहीं है। उनका लक्ष्य तो अनेक देववाद की ओर हीझुका हुआ मालूम होता है। एक देववाद का चतुर्मुखी साम्राज्य स्थापित हो जाने पर भी अनेक देववाद आज भी जिन्दा है। वह सर्वथा लुप्त नहीं हुआ हैं। आज भी अनेक जातियों में पृथक् पृथक् देवी देवताओं की उपासना प्रचलित है। अस्तु, एक देववाद का यह अभिप्राय है कि—अनेक देव वाद में से एक देववाद उत्पन्न हुआ और वह मानव समाज के अमुक-अमुक भागों में प्रचलित भी हुआ।

'देवउत्त' शब्द का दूसरा अर्थ

सूत्र कृताङ्ग की प्रकृत गाथा में आये हुये 'देवउत्त' शब्द की व्युत्पत्ति टीकाकार ने जो (देवेन उप्तः = देवउप्तः) इस प्रकार एक वचन में की है; वह एकदेववाद के आशय की दृष्टि से ठीक ही है। उक्त एकदेववाद के साथ सृष्टि वाद भी उपस्थित हो जाता है। ऋषियों की विचारणा ज्यों ज्यों दार्शनिक पद्धति पर व्यवस्थित होती गई त्यों त्यों जगत् और उसकी रचना सम्बन्धी विचारों का भी उद्भव होता गया। सूत्रकृताङ्ग—टीकाकार शीलाङ्क सूरि के उल्लेखानुसार सव से पहले कर्षक = कृषिकार का दृष्टान्त उपस्थित होता है। अर्थात् जिस प्रकार कृषिकार बीज वोकर अन्न पैदा करता है उसी प्रकार यह जगत् भी देवताओं द्वारा वोया हुआ उत्पन्न हुआ है। मूलगत 'उत्त' का संस्कृत रूप 'उप्त' है। यह 'वप बीजसन्ताने' धातु का

निष्ठान्त रूप है । इस का अर्थ 'बोयाहुआ-उगाहुआ' ऐसा होता है। अर्थात्—जिस प्रकार वृक्ष या अंकुर बोया हुआ उगता है उसी प्रकार यह लोक भी किसी एक देवता द्वारा बोया हुआ उगा है। यह 'देवउप्त' का सृष्टिरचना सम्बन्धी अर्थ है।

मूल प्रकरण के साथ वप् धातु का ठीक ठीक समन्वय तभी हो सकता है जब कि—जगत् बोने की चीज़ हो ? हाँ क्यों नहीं, वनस्पति, जगत का एक भाग है, अतः उसकी अपेक्षा वपन क्रिया घटित हो सकती है। यह ठीक है, पर एक बात तो फिर भी अड़ ही जाती है। वह यह कि एकमात्र वनस्पति ही तो जगत् नहीं है। पर्वत, नदी, समुद्र- चन्द्र, सूर्य आदि भी तो जगत में ही सम्मिलित हैं। उनके सम्बन्ध में वपन क्रिया किस प्रकार घटित हो सकती हैं ?

यस्मिन् वृक्षे मध्वदः सुपर्णा निविशन्ते सुवते चाधिविश्वे।
तस्येदाहुः पिप्पलं स्वाद्वग्रे तन्नोन्नशद्यः पितरं न वेद ॥
(ऋग्० १।१६४।२२)

अर्थ—जिस विश्व वृक्ष पर मधुभोगी सुन्दर पक्षी बैठते हैं और उसे आधारभूत मान कर अपनी सन्तति उत्पन्न करते हैं; उस वृक्ष के जल समान निर्मल फल को, प्रथम स्वादिष्ट कहा है। जो जीवरूप पक्षी परमात्मा को नहीं जानता है उसका विश्ववृक्ष कभी नष्ट नहीं होता।

यही रूपक उपनिषदों में भी दृष्टिगोचर होता है। देखिये, मुंडक और श्वेताश्वतर उपनिषद्—

समाने वृक्षे पुरुषो निमग्नोऽनीशया शोचति मुह्यमानः।
जुष्टं यदा पश्यत्यन्यमीश-मस्य महिमानमिति वीतशोकः ॥
(मुण्ड० ३।१)

अर्थ—यद्यपि एक ही संसार रूपी वृक्ष पर ज़ीवात्मा और परमात्मा दोनों समान सम्बन्ध से रहे हुए हैं। तथापि उनमें से जीवात्मा भोगों में आसक्त होने के कारण शोक तथा मोहजन्य दुःख का अनुभव करता है। इसके विपरीत परमात्मा शोक मोह आदि से सर्वथा रहित है। जब जीवात्मा भी योग्याभ्यास द्वारा ज्ञानज्ञेय परमात्मा को देखता है, तब वह भी वीतशोक हो जाता है।

स वृक्षकालाकृतिभिः परोऽन्यो, यस्मात्प्रपंचः परिवर्ततेऽयम्।
(श्वेताश्व० ६।६)

शांकरभाष्ये—आत्मा यद्यपि संसारवृक्षकालाद्याकृतिषु तत्तदाकाररूपेणैव तत्र तत्र प्रविष्टः........।

भाष्यकार ने मूलोक्त वृक्ष शब्द का अर्थ संसार रूप वृक्ष किया है।

वेदों और उपनिषदों में तो इस सम्बन्ध में मात्र संक्षिप्त संकेत ही मिलता है। परन्तु महाभारत में तो उक्त वृक्ष का बड़े विस्तार से साथ साङ्गोपाङ्ग वर्णन उपलब्ध होता है। देखिये—

अव्यक्त बीजप्रभवो बुद्धिस्कन्धमयो महान्।
महाहंकारविटप इन्द्रियान्तरकोटरः ॥ १२ ॥
महाभूतविशाखश्च विशेषप्रतिशाखवान्।
सदापर्णः सदापुष्पः शुभाशुभ फलोदयः ॥ १३ ॥
आजीव्यः सर्वभूतानां ब्रह्मवृक्षः सनातनः।
एनं छित्वा च भित्वां च तत्वज्ञानासिनाः बुधः ॥१४॥
हित्वा संगमयान् पाशान् मृत्युजन्मजरोदयान्।
निर्ममो निरहंकारो मुच्यते नाऽत्र संशयः ॥ १५ ॥

(म० भा० अश्व० प० ३२।४७)

भावार्थ—अव्यक्त प्रकृति जिसका वीज है, वुद्धि-महान जिसका स्कन्ध है, अहंकार जिसका प्रधान पल्लव है, मन और दस इन्द्रियाँ जिसके अन्तर्गत कोटर हैं, सूक्ष्म महाभूत—पाँच तन्मात्राएं जिसकी वड़ी वड़ी शाखाएं हैं, स्थूल महाभूत जिसकी छोटी छोटी शाखाएँ हैं, ऐसा सदा पत्र, पुष्प तथा शुभाशुभ फल धारण करने वाला समस्त प्राणियों का आधारभूत सनातन विश्व वृक्ष है। विवेकी पुरुष का कर्तव्य है कि उक्त वृक्ष को तत्वज्ञान रूप खड्ग के द्वारा छेदन-भेदन करके दूर करे। जो पुरुष जन्म, जरा और मृत्यु उत्पन्न करने वाले संगमय पाशों का परित्याग कर ममता और अहंकार रहित वनता है वह सदा के लिए संसार वंधन से मुक्त हो जाता है, इसमें जरा भी संशय नहीं है। १२-१३-१४-१५।

इसी संसार वृक्ष का वर्णन गीता में भी किया गया है, परन्तु वहाँ उसका एक और विशेष रूप चित्रित किया गया है। साधारण वनस्पति का मूल भाग नीचे की ओर पृथ्वी में रहता है और ऊर्ध्व भाग-शाखा आदि सव ऊपर की ओर रहता है। परन्तु संसार वृक्ष की दशा इसके सर्वथा विपरीत है।

लोक—जगत् को वृक्ष की उपमा

संसार को वृक्ष की उपमा देना, कुछ आजकल की कल्पना नहीं है। वहुत प्राचीन काल से यह रूपक चला आ रहा है। प्राचीन से प्राचीन रूपक ऋग्वेद के प्रथम मंडल में मिलता है। देखिये:—

द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया, समानं वृक्षं परिषस्वजाते।
तयोरन्य: पिप्पलं स्वाद्वत्त्यनश्नन्नन्यो अभिचाकशीति ॥
(ऋग्० १।१६४।२०)

अर्थ—समान सम्बन्ध रखने वाले, मित्र के समान वर्तने वाले दो पक्षी (जीवात्मा और परमात्मा) संसाररूपी वृक्ष के आश्रित रहते हैं। इनमें से एक पक्षी (जीवात्मा) पिप्पल = पुण्य पाप जन्य सुख दुःख रूप परिपक्व फल को रस पूर्वक खाता है, जब कि दूसरा पक्षी (परमात्मा) उस फल को न खाकर केवल देखता रहता है।

ऊर्ध्वमूलोऽवाक्शाख एषोऽश्वत्थः सनातनः। (कठो० २ । ३ । १)

उक्त वृक्ष का नाम यहाँ गीता और कठ में तो पिप्पल दिया हुआ है। कुछ ग्रंथों में वड़ वृक्ष और उदुम्बर वृक्ष भी बतलाया है। नाम के सम्बन्ध में कुछ अधिक विवाद नहीं है, मनःसन्तोष के लिये जो भी हो उसी से काम चल सकता है। परन्तु उक्त वर्णन से खास समझने की बात है तो यह है कि संसार एक वृक्ष है, और इसलिये वह किसी का बोया हुआ होना चाहिए। कोई भी वृक्ष बिना बोये नहीं उगा करता। जब कि यह धारणा निश्चित हो जाती है कि संसार वृक्ष है और वह बोया हुआ ही उत्पन्न हुआ है, तब एक प्रश्न और उठ खड़ा होता है कि— किस का बोया हुआ है ? इसके उत्तर में कहा गया है कि "देवउत्तो देवेनोप्तः" अर्थात् 'अनेक देवों में से सब से बड़े देव के रूप में चुने हुए एक देव ने यह संसार वृक्ष बोया है' ऐसा संहिता काल के ऋषियों की तरफ से जगत्-रचना के सम्बन्ध में प्राथमिक उत्तर मिलता है।

श्रद्धेय शीलांग सूरि ने देवउत्त देवपुत्त का तीसरा अर्थ देवपुत्र भी किया है। देवपुत्त शब्द मौलिक है और उसका संस्कृत रूप देवपुत्र बनता है। देवपुत्र का देवउत्त कैसे बन गया ? प्राकृत भाषा में कितने ही ऐसे विशेष स्थल हैं जहाँ 'प' कार का लोप हो जाता है और मात्र स्वर शेष रह जाता

है। यह स्थल भी उन्हीं में से है; अतः 'देवपुत्र' का 'देवउत्त' व्याकरण की दृष्टि से बिल्कुल ठीक सिद्ध हो जाता है। यह तो हुई शब्द सिद्धि की बात। अर्थ विचारणा में देवपुत्र का अर्थ— 'देवस्य पुत्रः देवपुत्रः' अर्थात् 'देव का पुत्र' यह होता है। अनेक देवों में से एक देव की श्रेष्ठता तो पहले सिद्ध कर ही आये हैं। अतएव यहाँ 'देवस्य' यह एक वचन बिल्कुल उचित ही है। पिता के स्थान में देव का ग्रहण है और पुत्र के स्थान में लोक अर्थात् जगत् का ग्रहण किया है

उपर्युक्त निर्णय हो जाने के पश्चात् एक प्रश्न और शेष रहता है। वह यह कि देव और लोक का पिता पुत्र के रूप में व्यवहार कहाँ किस ग्रंथ में बतलाया गया है? विचार चर्चा में कोई भी बात निराधार यों ही मान्य नहीं हो सकती। इसके उत्तर में वैदिक दर्शन की ओर से ही कहा जाता है। ऋग्वेद आदि अनेक स्थानों पर यह पिता पुत्र सम्बन्धी व्यवहार स्पष्टतः सूचित है। देखिये—

> द्यौर्मे पिता जनिता नाभिरत्र बन्धुर्मे माता पृथिवी महीयम्।
> उत्तानयोश्चम्वोर्योनिरन्तरत्रा पिता दुहितुर्गर्भमाधात्॥

(ऋग् १। १६४। ३३)

भावार्थ—द्युलोक अर्थात् आदित्य, (किसी किसी ठिकाने द्युलोक का अर्थ इन्द्र अथवा पर्जन्य = मेघ भी किया है) मेरा पिता=पालक एवं जनिता = उत्पादक है। कारण कि—नाभि-रूप भौम रस है, जिससे अन्न निष्पन्न होता है, अन्न से वीर्य होता है और फिर उससे मनुष्य पैदा होता है। इसी भाँति यह विशालकाय पृथ्वी माता है—मातृ स्थानीय है। द्युलोक और पृथिवी दोनों के ठीक बीच में अन्तरिक्ष है, वह योनि है। उस

में सूर्य (इन्द्र या मेघ) दूरस्थित पृथिवी में गर्भ धारण कराता है। यहाँ गर्भ से अभिप्राय वृष्टि से है।

उक्त मंत्र में सबसे बड़े देव आदित्य या इन्द्र को पिता के रूप में कल्पित किया है। उसी से मनुष्य, पशु, पक्षी वगैरह का उत्पन्न होना एवं उसी से पालित पोषित होना बतलाया गया है। अस्तु, सूत्रकृतांग में सृष्टिरचना सम्बन्धी वैदिक मान्यताओं का उल्लेख करते हुए जो यह लिखा है कि लोक देव का पुत्र है, वह कपोल-कल्पित नहीं है, प्रत्युत वेद मूलक है। और भी अधिक स्पष्टता चाहिये तो दशम मंडल की निम्नोक्त ऋचा पर और विचार कर सकते हैं।

यो नः पिता जनिता यो विधाता, धामानि वेद भुवनानि विश्वा।
यो देवानां नामधा एक एव, तं संप्रश्नं भुवना यन्त्यन्या॥

(ऋ० १०।८२।३)

अर्थ—जो हमारा (चराचर का) पिता (रक्षक) जन्मदाता-विधाता है, जो विश्व के समस्त धामों को जानता है, जो अनेक देवों के नाम धारण कर के भी एक = अद्वितीय देव है, उसको जानने के लिए अखिल ब्रह्मांड उत्सुक है।

प्रस्तुत ऋचा में भी अनेक नाम धारी एक (इन्द्रादि) का जगत के पिता के रूप में उल्लेख किया है। वेद में ही नहीं, उपनिषदों में भी इस प्रकार के अनेक अवतरण मिल सकते हैं, परन्तु विस्तारभय के कारण यहाँ उन्हें छोड़ दिया गया है।

बंभउत्ते = ब्रह्मोप्तः।

गाथा के चतुर्थ चरण में 'बंभउत्त' शब्द आया है। मौलिक 'उत्त' का संस्कृत रूप 'उप्त' होता है और इसका अर्थ वही है, जो कि 'देवउत्त' शब्द के विवेचन में बतलाया गया है। अतः

इस सम्बन्ध में कुछ विशेष लिखने की आवश्यकता नहीं है। वृक्ष की उपमा सामान्यतः दोनों जगह लागू होती है। बल्कि महाभारत के उपर्युक्त श्लोक १३ में तो 'ब्रह्म वृक्षः सनातनः' ही कहा है। अर्थात् जगत् को स्पष्ट शब्दों में ब्रह्म वृक्ष ही बतलाया है। अतएव प्रस्तुत स्थल पर भी उक्त शब्द का समन्वय करने में किसी भी प्रकार की बाधा नहीं आती है। अब तो जो कुछ भी बात शेष रहती है, वह मात्र ब्रह्म शब्द की रहती है। देव शब्द का स्थान ब्रह्म शब्द ने कब और किस प्रकार लिया है, यही एक प्रश्न है। इस सम्बन्ध में पहले दार्शनिक जगत् का थोड़ा इतिहास देख लेना आवश्यक है।

आधिभौतिक में से आध्यात्मिक चिन्तन।

संहिताकाल के आधिभौतिक विचार कर्मकांड में परिणत हो कर ब्राह्मण काल में आधिदैविक रूप में विकसित होते हैं। और आगे चल कर वे ही विचार उपनिषद् काल में आध्यात्मिक भावना के रूप में प्रस्फुटित होते हैं। संक्षेप में यह निष्कर्ष निकला कि—कर्मकांड आधिभौतिक, उपासना आधिदैविक और ज्ञानकांड आध्यात्मिक चिन्तन का परिणाम है। आधिभौतिक चिन्तन में से आध्यात्मिक चिन्तन का विकास करने वाले महर्षियों में सबसे प्रथम नम्बर पर शांडिल्य महर्षि और श्वेतकेतु के पिता उद्दालक आरुणि महर्षि आते हैं। दोनों का वर्णन छांदोग्य उपनिषद् में मिलता है। सर्व प्रथम महर्षि शांडिल्य का चिन्तन इस प्रकार है:—

सर्वं खल्विदं ब्रह्म तज्जलानिति शान्त उपासीत।

(छांदो॰ ३।१४)

अर्थ—आँखों से यह जो कुछ भी देखने में आता है, वह

सब का सब ब्रह्म है। कारण कि वह सब तज्ज, तल्ल और तदन् है। अर्थात्—तस्माज्जायते इति तज्जम्। तत्र लीयते इति तल्लम्, तत्र अनिति इति तदन्। यह सब जगत् ब्रह्म में से उत्पन्न होता है, अतः तज्ज है। ब्रह्म में लय होता है, अतः तल्ल है। और ब्रह्म में ही प्राण धारण करता है—जीता है, अतः तदन् है। न्यायशास्त्र की परिभाषा में इसे यों कह सकते हैं कि—'जगत्' को पक्ष के रूप में रख कर 'ब्रह्म' को साध्य बना कर 'तज्जलान्' यह हेतु सूचित किया है। ऊपर के वाक्य का आन्तरिक तात्पर्य यह है कि—मनुष्य को शान्त हो कर एक मात्र ब्रह्म की ही उपासना करनी चाहिए। अस्तु शांडिल्य के कथन का मुख्य अभिप्राय तो उपासना परक ही है परन्तु जगत् क्या है और वह कहाँ—किससे उत्पन्न हुआ है! यह भी साथ ही बता दिया गया है।

उद्दालक महर्षि अपने पुत्र श्वेतकेतु को जगत् और ब्रह्म की एकता के सम्बन्ध में नीचे लिखे अनुसार सिद्धान्त बतलाते हैं:—

सदेव सोम्येदमग्र आसीदेकमेवाद्वितीयम्। (छांदो० ६।२)

अर्थ—हे सौम्य—श्वेतकेतु! यह दृश्य जगत् सृष्टि से पहले सत् अर्थात् ब्रह्म रूप था। अद्वितीय एक रूप था। ब्रह्म से नाम अथवा रूप में ज़रा भी पृथक् नहीं था।

ब्रह्म और जगत् के पारस्परिक सम्बन्ध को विशेष रूप से स्पष्टतया समझाने के लिए उद्दालक महर्षि आगे चलकर श्वेतकेतु से कहते हैं—

यथा सौम्यैकेन मृत्पिण्डेन सर्वं मृन्मयं विज्ञातं स्यात्। वाचारम्भणं विकारो नामधेयं मृत्तिकेत्येव सत्यम्। (छांदो० ६।१।४)

अर्थ—हे सौम्य! एक मृत्पिंड को जान लेने के पश्चात् उसमें से बने हुए घट, घंटी, शराव आदि समस्त कार्य प्रपंच

जान लिये जाते हैं। क्योंकि मृत्तिका रूप कारण से कार्यरूप विकार उत्पन्न होता है। और उस विकार के जो भिन्न भिन्न नाम लिए जाते हैं वे सब वाणी से शुरू होते हैं, अतः कथन मात्र हैं, वास्तविक सत्य नहीं है। वास्तव में तो उनमें एक मात्र मृत्तिका ही सत्य है।'

यथा सौम्यैकेन लोहमणिना सर्वं लोहमयं विज्ञातं स्यात्। वाचारम्भणं विकारो नामधेयं लोहमित्येव सत्यम्। (छांदो० ६।१।५)

अर्थ—पूर्ववत्। लोहमणि अर्थात् सुवर्ण।

यथा सौम्यैकेन नखनिकृन्तनेन सर्वं कार्ष्णायसं विज्ञातं स्यात्। वाचारम्भणं विकारो नामधेयं कार्ष्णायसमित्येव सत्यम्।(छांदो० ६।१।३)

अर्थ—पूर्ववत्। कार्ष्णायस अर्थात् लोह।

ऊपर के तीनों दृष्टान्तों से जिस प्रकार यह सिद्ध होता है कि—कार्यरूप विकार केवल कथन मात्र हैं—वास्तव में कारण ही सत्य पदार्थ है; ठीक उसी प्रकार अखिल जगत भी विकार होने के कारण असत्य है, और उसका मूल कारण जो ब्रह्म है वस्तुतः वही एकमात्र सत्य है।

ब्रह्मविद्या का आरंभ काल

आध्यात्मिक चिन्तन के रूप में ब्रह्मविद्या का यह आरंभ काल गिना जा सकता है। ब्रह्मविद्या का इससे अधिक स्पष्टीकरण याज्ञवल्क्य से शुरू होता है। याज्ञवल्क्य का अपने चचा एवं गुरु वैशंपायन के साथ किसी एक बात पर विरोध हो गया था, फलस्वरूप याज्ञवल्क्य का वेद विद्या से बहिष्कार कर दिया गया था। इस पर आप हिमालय चले गए और वहाँ सूर्याराधन सम्बन्धी कठोर तपश्चरण करके यजुर्वेद की वाजसनेयी शाखा का स्वतंत्र रूप से निरूपण किया। प्राचीन शाखा कृष्ण

यजुर्वेद के नाम से और नवीन शाखा शुक्ल यजुर्वेद के नाम से चालू हुई। एक बार मिथिलानगरी में जनक राजा ने बहुदक्षिणा नामक यज्ञ का आयोजन किया। उस समय यह घोषणा की गई थी कि—जो सज्जन ब्रह्मविद्या में सब से श्रेष्ठ होगा उसे एक हजार गायें दक्षिणा के रूप में अर्पण की जायँगी। प्रत्येक गाय के दोनों सींगों पर सुवर्ण के दस दस पतरे जड़े हुए थे। ब्रह्मवेत्ताओं की एक बहुत बड़ी परीक्षा होने वाली थी। उक्त जगत्प्रसिद्ध दान का अधिकार याज्ञवल्क्य को प्राप्त हुआ। आपने अपने प्रति पक्षी दूसरे सभी ऋषियों को पराजित करके शास्त्रार्थ में गौरवपूर्ण विजय प्राप्त की थी। आपसे प्रश्न करने वाले आपके प्रतिस्पर्द्धी अश्वल ऋषि, आर्तभाग, भुज्यु, उषस्त, कहोल, उद्दालक, गार्गी और शाकल्य विदग्ध आदि थे। ये सब विद्वान् अधिकतर आधिदैविक चिन्तन करने वाले थे। याज्ञवल्क्य ने इन्हें आध्यात्मिक चिंतन से ब्रह्मविद्या सम्बन्धी उत्तर देकर निरुत्तर किया था। इस ऐतिहासिक विचारणा से यह ध्वनित होता है कि जनक राजा और याज्ञवल्क्य समकालीन हैं और जो याज्ञवल्क्यजी का समय है वही ब्रह्मविद्या का आरंभ काल है। वीरचरित्र में महाकवि भवभूति ने भी इसी धारणा को पुष्ट किया है।

स एव राजा जनको मनीषी, पुरोहितेनाङ्गिरसेन गुप्तः।
आदित्यशिष्यः किल याज्ञवल्क्यो, यस्मै मुनिर्ब्रह्म परं विवव्रे॥

अब यह देखना है कि ब्रह्म विद्या के सबसे बड़े प्रतिष्ठित प्रतिनिधि महर्षि याज्ञवल्क्य सृष्टिवाद के सम्बन्ध में अपने क्या विचार प्रकट करते हैं? आप भी सृष्टि से पहले एक मात्र ब्रह्म की ही सत्ता स्वीकार करते हैं और उसे ही जगत् का मूल कारण मानते हैं। देखिये—

ब्रह्म वा इदमग्र आसीत् । (बृहदा० १ । ४ । १०)

अर्थ—सृष्टि के आरंभ में पहले एक मात्र ब्रह्म ही था ।

ब्रह्म का क्या स्वरूप है ?

विज्ञानमानन्दं ब्रह्म । (बृहदा० ३ । ६ । २८)

अर्थ—विज्ञान स्वरूप तथा आनन्दस्वरूप ब्रह्म है ।

ब्रह्म और सृष्टि

ब्रह्म से जगत् की उत्पत्ति, ब्रह्म में जगत् की स्थिति और ब्रह्म में जगत् का लय होता है । यह सिद्धान्त पहले भी छान्दोग्य उपनिषद् के उद्धरण से बतला आए हैं । बादरायण प्रणीत ब्रह्म सूत्र के आरंभ में भी यही बतलाया गया है। देखिये—

"जन्माद्यस्य यतः ।" (ब्रह्म० सू० १ । १ । २)

अर्थ—जगत् की उत्पत्ति, स्थिति और लय सब ब्रह्म में से होते हैं ।

उक्त वर्णन से 'वंभउत्त-शब्द का अर्थ पूर्णतया व्यक्त हो जाता है अर्थात्—"विश्वरूपी वृक्ष ब्रह्म में से उगा है—उत्पन्न हुआ है ।" इस प्रकार अपर यानी ब्रह्मवादी कहते हैं यह बात दार्शनिक क्षेत्र में बिल्कुल सत्य प्रमाणित होती है ।

देववाद के पश्चात् ब्रह्मवाद

संहिता काल में यज्ञ द्वारा जो अनेक देवों की उपासना चालू थी उसके एक देव रूप में परिणत हो जाने के पश्चात् उपनिषत् काल में एक अद्वितीय ब्रह्मरूप में प्रगट होती है । यह उपनिषत् काल, देव और ब्रह्मवाद का संघर्ष काल है । इस समय देववादियों और ब्रह्मवादियों का पारस्परिक द्वन्द्व

वड़े जोरों पर था। वृहदारण्यक में एक ऐसा प्रसंग आया है जिस से यह ध्वनित होता है कि ब्रह्मोपासना का वल बढ़ता देख कर देवताओं को वड़ा भारी खेद होता था। और इससे ब्रह्मवादी उन्हें सर्वथा नगण्य एवं तुच्छ समझते थे। देखिये—

तस्य ह न देवाश्च नाभूत्या ईशते। आत्मा ह्येषां स भवति। अथ योऽन्यां देवतामुपास्तेऽन्योऽसावन्योऽहमस्मीति न स वेद यथा पशुरेवं स देवानाम्। यथा ह वै वहवः पशवो मनुष्यं भुञ्ज्युरेवमेकैकः पुरुषो देवान् भुनक्त्येकस्मिन्नेव पशावादीयमानेऽप्रियं भवति किमु वहुषु ?। तस्मादेषां तन्न प्रियं यदेतन्मनुष्या विद्युः। (वृहदा० १।४।१०)

भावार्थ—चाहे कोई कैसा ही वड़ा देवता क्यों न हो, वह ब्रह्मवेत्ता का वाल तक वाँका नहीं कर सकता। क्योंकि—ब्रह्मज्ञानी ही तो उन सव देवताओं की आत्मा है। जो मनुष्य ऐसा समझता है कि—देवता अन्य हैं और मैं अन्य हूँ और ऐसा जान कर फिर देवताओं की उपासना करता है वह मनुष्य वास्तव में मनुष्य क्या देवताओं का पशु है। जिस प्रकार पशु मनुष्य का जीवन निर्वाह करता है उसी प्रकार एक अज्ञानी पुरुष भी देवताओं का पोषण करता है। जव कि एक पशु के चुराये जाने पर उसके स्वामी को गहरा दुःख होता है, तव अगर वहुत पशुओं के चुराये जाने पर वहुत अधिक दुःख हो तो इसमें कहना ही क्या ? यह तो एक अनुभव सिद्ध वात है। अतएव देवताओं को ब्रह्मज्ञान प्रिय नहीं लगता। देवताओं को यह भय लगा रहता है कि कहीं हमारे सेवक ब्रह्मज्ञानी वन कर हमें छोड़ न वैठें।

उक्त कथन से देवोपासक और ब्रह्मोपासकों की प्रतिस्पर्द्धा स्पष्टतः प्रतीत हो जाती है। और तो क्या, ब्रह्म न जानने वाले को देवताओं का पशु तक वतला दिया है। अर्थात् ब्रह्मोपासक

देवोपासक को ज़लील करता हुआ खुल्लमखुल्ला पशु की उपाधि दे रहा है! 'ब्रह्मोपासक का देवता कुछ भी विगाड़ नहीं कर सकते'—इस से यह समझाने की चेष्टा की गई है कि—'जो कुछ भी है वह ब्रह्म ही है, उसके सामने देवता किसी भी गिनती में नहीं हैं। ब्रह्म की शक्ति अपरंपार है।' उक्त बृहदारण्यक के आशय को थोड़े शब्दों में यों कहा जा सकता है कि—ब्रह्म, ब्रह्मज्ञानी और ब्रह्मोपासक की प्रशंसा करते हुए देव और देवोपासक की तुच्छता दिखलाई है। एक प्रकार से यह देववाद को गिरा कर ब्रह्मवाद का समर्थन किया गया है। देववाद के पश्चात् ब्रह्मवाद का युग आया है, इसके लिए बृहदारण्यक का सबल प्रमाण उपस्थित है। अतएव मूलगाथा में 'देवउत्त' के बाद 'बंभउत्त' शब्द की जो योजना हुई है वह पूर्णतया अर्थ सूचक है।

उपर्युक्त लम्बे विवेचन से मालूम होगा कि—'बंभ' शब्द का अर्थ 'ब्रह्मा' न कर के 'ब्रह्म' करना अधिक उपयुक्त है। कारण कि—ब्रह्मा का सृष्टिकर्त्ता के रूप में आविर्भाव उपनिषत्काल में न होकर बहुत पीछे पुराणकाल में हुआ है। [५]

वैदिक सृष्टि-ईश्वरवाद

मू०—ईसरेण कडे लोए पहाणाइ तहावरे।
जीवाजीवसमाउत्ते सुहदुक्खसमन्निए॥

(सूय० १।१।३।६)

छा०—ईश्वरेण कृतो लोकः प्रधानादि (ना) तथापरः।
जीवाजीवसमायुक्तः सुखदुःखसमन्वितः॥

भावार्थ—जीव अजीव से व्याप्त और सुख दुःख से युक्त यह लोक ईश्वर का बनाया हुआ है, ऐसा कितने ही वादी

कहते हैं। तथा दूसरे वादी ऐसा कहते हैं कि प्रधान-प्रकृति, आदि शब्द से काल, स्वभाव, नियति, यदृच्छा आदि से यह लोक बना है।

विवेचन—प्रस्तुत छठी गाथा में 'ईसरेण कडे लोए' इस पद से ईश्वर की उपस्थिति होती है। ब्रह्मवाद के पश्चात् कितने ही समय में जाकर ईश्वरवाद का प्रारंभ होता है। इन दोनों के बीच में एक इन्द्रवाद भी प्रचलित हुआ है। वह एक प्रकार से ईश्वरवाद की भूमिका स्वरूप रहा है अतः उसका यहाँ उल्लेख कर देना अनुचित नहीं कहा जा सकता। इसलिये ईश्वरवाद तक पहुँचने के लिये सर्वप्रथम इन्द्रवाद पर ही विचार विमर्श किया जाता है।

इन्द्रवाद

ब्रह्मवाद से जब देववाद का अपकर्ष होने लगा, तब देववाद में से इन्द्रवाद का आविर्भाव हुआ। अनेक देवों में से एक देववाद के आविष्कार का युग तो पहले बताया ही जा चुका है। परन्तु उस समय तक विशेष रूप से किसी एक देव का नाम निर्देष नहीं हो पाया था। परन्तु जिस समय एक ब्रह्मवाद का प्रचार बड़ी तीव्र गति से होने लगा और देववाद का अस्तित्व बृहदारण्यक के अनुसार बिल्कुल खतरे में पड़ने लगा; उस समय देवों में से जो एक देव स्पष्ट नाम निर्देशपूर्वक ब्रह्म के 'स्टेज' पर अवतरित हुआ उसका नाम इन्द्र है। सामवेद और कौषीतकी ब्राह्मणोपनिषद् ने इस बात को स्पष्ट रूप में स्वीकार किया है।

यद्द्याव इन्द्र ते शतं शतम्भूमी स्तस्युः।
न त्वा वज्रिन्त्सहस्रं सूर्याअनु न जातमष्टरोदसी ॥
(साम० २।४।४।१।१)

अर्थ—हे इन्द्र ! तुम्हारे परिमाण के लिए—अर्थात् तुम्हें चारों ओर से अवरुद्ध करने के लिए समस्त द्युलोक तथा समस्त पृथ्वी लोक दोनों ही अगर सौ सौ गुणे भी बड़े विस्तृत बन जायँ तो भी तुम्हें छोड़ कर वे बाहर नहीं निकल सकते। अर्थात् तुम्हारी विशालता सर्व प्रकार से असीम है। हे वज्रिन् ! हजारों सूर्य भी तुम्हारा अनुभव नहीं कर सकते। अधिक क्या, द्यावा पृथिवी भी तुम्हें व्याप्त कर बाहर नहीं हो सकते। अर्थात् सर्व देवों में तुम सब से बड़े में बड़े देव हो, तुमसे बड़ा दूसरा कोई देव नहीं है।

महाभारत में भी सर्प की माता कद्रु इन्द्र की स्तुति करती हुई कहती है कि—

ईशोऽसि पयः स्रष्टुं त्वमनल्पं पुरन्दर !
त्वमेव मेघस्त्वं वायुस्त्वमग्निर्विद्युतोऽम्बरे ॥६॥
स्रष्टा त्वमेव लोकानां संहर्ता चापराजितः।
त्वं ज्योतिः सर्वभूतानां त्वमादित्यो विभावसुः ॥११
त्वं महद्भूतमाश्चर्यं त्वं राजा त्वं सुरोत्तमः।
त्वं विष्णुस्त्वं सहस्राक्षस्त्वं देवस्त्वं परायणः ॥१२॥
(म० भा० आदि प० अ० २६)

अर्थ—हे पुरन्दर ! तू महान् जलराशि पैदा करने में समर्थ है। तू मेघ है, तू वायु है, तू अग्नि है। आकाश में बिजली बन कर चमकने वाला भी तू ही है। तू त्रिभुवन का स्रष्टा है, किसी से भी जीता न जा सके—ऐसा संहारकर्त्ता भी तूही है। तू सर्व-भूति की ज्योतिरूप है। तू आदित्य है। विभावसु भी तू है। आश्चर्यजनक महाभूत तू ही है। तू राजा है, तू देवों में उत्तम देव है, तू विष्णु है, तू हजार आँखों वाला इन्द्र है। किं बहुना, तू परात्पर देव है। [६, ११, १२]

इस प्रकार सब देवताओं में इन्द्र की महत्ता स्थापित हो जाने के पश्चात् इन्द्र ही उपास्य देव के रूप में आता है और जन समाज में काफी पूजा प्रतिष्ठा पाता है। वैदिक धर्म में इन्द्र के बहुत लंबे गुणगान किए गये हैं और सारे विश्व की सुख-दुःख की सत्ता उसी के हाथों में सौंपी हुई है।

काशी का दैवोदास (दिवोदासि का पुत्र) प्रतर्दन राजा स्वर्गलोक में इन्द्र के पास जाकर 'मनुष्य का हित किस बात में है ?' यह प्रश्न करता है। प्रसन्न हुआ इन्द्र क्या उत्तर देता है ! देखिये—

मामेव विजानीहि एतदेवाहं मनुष्याय हिततमं मन्ये।
(कौपी० ३।१)

अर्थ—हे प्रतर्दन ! मुझ को ही विशेष रूप से जान। 'मुझे जान लेना—मेरी उपासना कर लेना ही'—मनुष्यों का अधिक से अधिक हित करने वाला है, ऐसा मैं मानता हूँ।

आगे चलकर इन्द्र यह और कहता है कि—'मैं प्राणस्वरूप, प्रज्ञात्मा, आयु = जीवनकारण तथा अमृत = अमर हूँ।'

इन्द्र का अहंवाद यहीं तक नहीं रुका है, आगे भी चला है—

एष लोकपालः एष लोकाधिपतिः एष सर्वेशः, स मे आत्मा, इति विद्यात्। (कौपी० ३।८)

अर्थ—यह मेरा आत्मा लोकपाल है, लोक का अधिपति है। किंबहुना, यही सर्व का ईश्वर है।

विचारशील पाठक जरा गौर करें—यहाँ इन्द्र भी ब्रह्म-वादियों की पद्धति के अनुसार अपना स्वरूप प्रगट करता है और अपने को ईश्वर मनवाने की भावना अभिव्यक्त करता है। अतएव ब्रह्मवाद और ईश्वरवाद की यहाँ सन्धि होती है। अर्थात् पूर्व उल्लेखानुसार ईश्वरवाद की भूमिका का निर्माण होता है।

"ईश्वरवाद"

ईश्वरवादियों का सम्प्रदाय, सांख्यसूत्र के भी पहले प्रचलित हो चुका था। उक्त संप्रदाय में ब्रह्मवादियों के समान ईश्वर जगत् का उपादान कारण रूप में नहीं परन्तु निमित्त कारण रूप में स्वीकृत हुआ था। ब्रह्मवाद के विरोध में उनकी यह तर्क थी कि "चेतन उपादान से जड़ उपादेय नहीं हो सकता। भला निरंजन निराकार ब्रह्म में से साकार जड़ जगत् की उत्पत्ति किस प्रकार हो सकती है? कभी नहीं। अस्तु—'हमारी मान्यता ही सत्य है कि ईश्वर को जगत् का उपादान कारण न मान कर मात्र निमित्त कारण मानना चाहिए।"

न्याय दर्शन और ईश्वर

न्यायदर्शनकार गौतम ऋषि ने स्वतंत्ररूप से अपनी निजी मान्यता के रूप में ईश्वर को स्वीकार नहीं किया है परन्तु चौथे अध्याय के पहले आह्निक के १६ वें सूत्र में अन्य वादियों द्वारा स्वीकृत ईश्वर का उल्लेख किया है। और अभाववादी, शून्यवादी, स्वभाववादी इन सब वादियों की मान्यताएं तीन तीन चार चार सूत्रों में दिखलाई हैं। साथ ही ईश्वरवादी की मान्यता भी तीन सूत्रों में बतलाई है। सूत्र का शीर्षक बनाते हुए अवतरण के रूप में भाष्यकार वात्स्यायन भी यही कहते हैं कि 'अथापर आह' अर्थात् अभाववादी की ओर से अपनी मान्यता बता देने के पश्चात् अपर अर्थात् ईश्वरवादी कहता है कि—

ईश्वरः कारणं पुरुषकर्माफल्यदर्शनात्। (न्या० सू० ४ । १ | १६)
न—पुरुषकर्माभावे फलानिष्पत्तेः। (न्या० सू० ४ | १ | २०)
तत्कारितत्वादहेतुः। (न्या० सू० ४ | १ | २१)

अर्थ—मनुष्य का प्रयत्न निष्फल न जाने पाए, इसलिए कर्मफल-प्रदाता के रूप में ईश्वर को कारण मानना आवश्यक है।

दूसरा वादी शंका करता है कि—ऐसा मानने से तो पुरुष-कर्म के बिना भी फल की प्राप्ति होगी, कारण कि—ईश्वर की इच्छा नित्य है।

ईश्वरवादी उत्तर देता है कि—पुरुष-कर्म भी तो ईश्वर प्रेरित ही होता है, अतः तुम्हारा यह हेतु हेत्वाभास है—अर्थ-साधक नहीं है।

ईश्वर को कर्मफल-दाता के रूप में स्वीकार करने वाले ईश्वरवादी के ऊपर कहे हुए तीन सूत्रों को गौतम मुनि ने अपने न्याय-दर्शन में स्थान जरूर दिया है, परन्तु वे दूसरे की मान्यता के रूप में हैं, अपनी मान्यता के रूप में नहीं। इस से यही कहा जा सकता है कि—पतंजलि मुनि के समान गौतम ने ईश्वरवाद को स्वीकार नहीं किया है। कपिल के समान निषेध भी नहीं किया है और कणाद के समान इस सम्बन्ध में कुछ भी न कहने के लिए मौन भी नहीं रक्खा है। हाँ, दूसरे की मान्यता को अपने सन्दर्भ में मात्र स्थान दिया है। यह मान्यता भाष्यकार तथा टीकाकारों को इष्ट होने के कारण अथवा यों कहिए कि अपनी मान्यता के सम्बन्ध में अनुकूल एवं समर्थक मालूम होने के कारण भाष्यकार तथा टीकाकार दोनों ही ने गौतम महर्षि के अपने निजी सूत्रों के रूप में उन पर अपनी ओर से गहरी छाप लगा दी है। भाष्यकार वात्स्यायन ने सूत्र के बिना भी स्वतंत्ररूप में अपने न्याय भाष्य में ईश्वर का स्वरूप इस प्रकार प्रदर्शित किया है:—

"गुणविशिष्टमात्मान्तरमीश्वरः। तस्यात्मकल्पात् कल्पान्तरानुपपत्तिः। अधर्ममिथ्याज्ञानप्रमादहान्या 'धर्मज्ञानसमाधिसम्पदा च विशिष्टमात्मान्तरमीश्वरः, तस्य च धर्मसमाधिफलमणिमाद्यष्टविधमैश्वर्यं संकल्पानुविधायी चास्य धर्मः प्रत्यात्मवृत्तीन् धर्माधर्मसंचयान् पृथिव्यादीनि च भूतानि प्रवर्तयति । एवं च स्वकृताभ्यागमस्यालोपेन निर्माणप्राकाम्यमीश्वरस्य स्वकृतकर्मफलं वेदितव्यम् ।"

अर्थ—गुण विशेष से युक्त एक प्रकार का आत्मा ही ईश्वर है। ईश्वर आत्म तत्व से कोई पृथक् वस्तु नहीं है। अधर्म, मिथ्या ज्ञान तथा प्रमाद उसमें बिल्कुल नहीं हैं। इसके विपरीत धर्म, ज्ञान तथा समाधि संपदा से वह पूर्णतया युक्त है। अर्थात् धर्म, ज्ञान और समाधि विशिष्ट आत्मा ही वास्तव में ईश्वर है। धर्म तथा समाधि के फलस्वरूप अणिमा आदि आठ प्रकार का ऐश्वर्य उसके पास है। ईश्वर को धर्म संकल्पमात्र से उत्पन्न होता है, किसी प्रकार के क्रियानुष्ठान से नहीं। ईश्वर का वह धर्म ही प्रत्येक आत्मा के धर्माधर्मसंचय को तथा पृथिवी आदि भूतों को प्रवर्ताता है—अर्थात् प्रवृत्ति कराता है। इस प्रकार स्वीकार करने से स्वकृताभ्यागम का लोप न होकर ईश्वर को सृष्टि निर्माणादि कार्य स्वकृत कर्म का फल ही जानना चाहिए।

ब्रह्म का खंडन और ईश्वर का समर्थन।

भाष्यकार ब्रह्म का खण्डन और ईश्वर का समर्थन करते हुए कहते हैं कि—

"न तावदस्य बुद्धिं विना कश्चिद् धर्मो लिङ्गभूतः शक्य उपपादयितुम् । बुद्ध्यादिभिश्चात्मलिङ्गैर्निरुपाख्यमीश्वरं प्रत्यक्षानुमानागम विषयातीतं कः शक्त उपपादयितुम् । स्वकृताभ्यागमलोपेन च प्रवर्तमान-

स्यास्य यदुक्तं प्रतिषेधजातं । अकर्म निमित्ते शरीर सर्गे तत्सर्वं प्रसज्येत।"

अर्थ—बुद्धि के अतिरिक्त और कोई धर्म ईश्वर की उपपत्ति या सिद्धि करने में लिङ्ग=हेतु नहीं बन सकता। ब्रह्म में तो बुद्धि आदि धर्म माने नहीं जाते, फिर बतलाइये प्रत्यक्ष, अनुमान और आगम के सर्वथा अविषय भूत ब्रह्म की कौन सिद्धि कर सकता है? तथा उसमें सृष्टिजनक स्वकृत धर्म रूप कर्म का अभ्यागम स्वीकार नहीं किया गया; फलतः अकर्मनिमित्तक शरीरसर्ग की मान्यता में जितने दोष आते हैं वे सब दोष यहाँ ब्रह्म सृष्टि में भी ज्यों के त्यों उपस्थित होंगे। उनका परिहार कैसे हो सकेगा?

भाष्यकार का आशय क्या है? पाठक ऊपर के उद्धरणों से बहुत कुछ समझ गये होंगे? भाष्यकार के माने हुए ईश्वर में बुद्धि संकल्प आदि होने के कारण संकल्प से सृष्टिजनक धर्मरूप कर्म उत्पन्न होता है और उसके द्वारा सृष्टि निर्माण का कार्य संभव बनाया जाता है। परन्तु ब्रह्म में तो बुद्धि संकल्प आदि कुछ भी न होने से सृष्टिजनक कर्म नहीं उत्पन्न हो पाता है, फलतः सृष्टि निर्माण भी सर्वदा सर्वथा असंभवित ही बना रहता है। तथा ब्रह्म को जानने के लिए कोई प्रमाण भी नहीं है, अतः प्रमाण बहिर्भूत ब्रह्म को कौन बुद्धिशाली मान सकता है? इस प्रकार ब्रह्मवाद को पराजित करने के लिए ईश्वर वाद का विस्तार शुरू हुआ। भाष्यकार की तरफ से ईश्वरवाद पर इस भाँति स्वीकार सूचक छाप लग जाने से न्याय कुसुमांजलि, न्याय वार्तिक, न्याय मंजरी, न्याय कंदली आदि अनेकानेक न्याय-ग्रन्थों में ईश्वरवाद अधिकाधिक पल्लवित होता चला गया।

ब्रह्मवाद के अनन्तर ईश्वरवाद का प्रादुर्भाव होने से दोनों का पौर्वापर्य स्पष्ट हो जाता है। अतएव 'बंभउत्त' के पश्चात् 'ईसरेण कडे लोए' अर्थात् यह जगत् ईश्वरकृत है, ऐसा ईश्वरवादी का कहना है। अन्त में ईश्वर कैसा है ? यह खुद ईश्वर के ही शब्दों में देखिये:—

ईश एवाहमत्यर्थं न च मामीशते परः। ददामि च सदैश्वर्यमीश्वरस्तेन कीर्त्यते। (स्क ०पु०)

अर्थात्—मैं सब के ऊपर अत्यन्त सामर्थ्य रखता हूं। मुझ पर किसी की सत्ता नहीं है। मैं ही हूं, जो अपने भक्तों को अणिमा आदि ऐश्वर्य दे सकता हूँ। इस कारण मैं ईश्वर कहलाता हूँ।

प्रकृतिवाद

देव, ब्रह्म और ईश्वर ये तीनों चेतनरूप या आत्मारूप होने से एक-पक्षी-चेतन पक्षी हैं। अर्थात् चैतन्य सत्ता की अपेक्षा से तीनों एक ही श्रेणि में आते हैं हालांकि तीनों की प्रक्रिया में काफ़ी अन्तर है, फिर भी चैतन्य का साम्य तीनों को एकता की ओर ले आता है। अस्तु, यहाँ तक जगत्कर्तृत्व का अधिकार चैतन्य आत्मा को मिला हुआ है। अब सांख्य दर्शनकार आते हैं, जो सृष्टि निर्माण की सम्पूर्ण सत्ता जड़ के हाथों में सौंप देना चाहते हैं। जरा उनके विकास की भूमिका का भी अवलोकन कीजिये।

जगत् चेतन और अचेतन उभयतत्व से मिश्रित है। ब्रह्मवाद के सम्बन्ध में एक बड़ी भारी शंका यह उत्पन्न होती है कि—चेतन ब्रह्म में से अचेतन—शरीर तथा परमाणु आदि किस प्रकार उत्पन्न हो सकते हैं ? सांख्यदर्शन इसका सीधा उत्तर

देता है कि—मात्र अचेतन उपादान से ही अचेतन जगत् उत्पन्न होना चाहिए। ब्रह्म चेतन है, जब कि प्रकृति अचेतन है। ब्रह्म निर्गुण है, जब कि—प्रकृति सगुण अर्थात् सत्व, रजस् और तमोगुणमय है। जगत् में भी तीनों गुण देखे जाते हैं। अस्तु, निर्गुण ब्रह्म में से त्रिगुणात्मक जगत् का आविर्भाव होना सर्वथा असंभव है। प्रकृति में से तो असंभव नहीं है, क्योंकि प्रकृति परिणामशील है। अतः उसमें से यह सब जगत् का प्रपंच उत्पन्न हो सकता है।

सांख्य दर्शन को समझने के लिए प्रकृति और विकृति इन दोनों शब्दों का स्वरूप समझ लेना अत्यावश्यक है। उपर्युक्त सत्व, रज और तम इन तीनों गुणों की साम्यावस्था का नाम प्रकृति है और विषमावस्था का नाम विकृति है। यह सिद्धान्त आगम प्रमाणसिद्ध है। देखिए—

> अजामेकां लोहितशुक्लकृष्णां वह्वीः प्रजाः सृजमानां सरूपाम्।
> अजोह्येको जुषमाणोऽनुशेते जहात्येनां भुक्तभोगामजोऽन्यः॥
> (श्वेताश्व० ४।५)

अर्थ—एक पुरुष=आत्मा, लोहित—रजोगुण, शुक्ल-सत्वगुण और कृष्ण—तमोगुणमय, अजा—कभी उत्पन्न न होने वाली अनादि, विकार रहित, अनेक-असंख्य प्रजा-पदार्थों को उत्पन्न करती हुई प्रकृति का सेवन करता हुआ उसमें मग्न रहता है। जब कि दूसरा पुरुष-आत्मा भोगी हुई प्रकृति को छोड़कर अलग हो जाता है। पहला संसारी आत्मा और दूसरा मुक्त आत्मा समझना चाहिए।

पुराणकारों ने तो इस प्रकृति को देवी का रूप दे दिया है:—

> प्रकृष्टवाचकः प्रश्च कृतिश्च सृष्टिवाचकः।
> सृष्टौ प्रकृष्टा या देवी प्रकृतिः सा प्रकीर्तिता॥

गुणे प्रकृष्टे सत्त्वे च प्रशब्दो वर्तते श्रुतौ।
मध्यमे कृश्च रजसि तिशब्दस्तमसि स्मृतः॥
त्रिगुणात्मस्वरूपा या सर्वशक्तिसमन्विता।
प्रधाना सृष्टिकरणे प्रकृतिस्तेन कथ्यते॥
(ब्रह्म० वै० २।१-६-७)

अर्थ—'प्रकृति' शब्द में प्रशब्द प्रकृष्ट अर्थ का वाचक है तथा कृति शब्द सृष्टि वाचक है। अर्थात् सृष्टि रचना के कार्य में जो प्रकृष्ट देवी है वह प्रकृति कही जाती है। श्रुति में कहा है कि प्रकृष्ट सत्वगुण में प्रशब्द की वृत्ति है, मध्यम रजोगुण में कृशब्द की वृत्ति है और तामस गुण में तिशब्द की वृत्ति है। प्रआदि तीन अक्षरों के मेल से बना हुआ प्रकृति शब्द सत्व, रज और तमोगुण युक्त प्रकृतिरूप अर्थ बतलाता है। अर्थात् जो त्रिगुणात्मक स्वरूपवाली है, सर्व प्रकार की शक्तियों से युक्त है, सृष्टि रचने में प्रधान=मुख्य कारण है; वह प्रकृति कहलाती है।

प्रकृति के पर्याय

प्रकृति, प्रधान, अव्यक्त, जगद्योनि, जगद्बीज आदि अनेक पर्याय हैं। काल दृष्टि से प्रकृति अनादि अनन्त है। प्रलयकाल में तीनों गुणों की साम्यावस्था रहती है; अतः प्रलयकाल में प्रकृति शब्द पूर्णतया सार्थक है। उस समय उसका स्वरूप अव्यक्त तमस् रूप रहता है। जब कि सृष्टिकाल में गुणवैषम्य होने पर प्रकृति व्यक्तरूप होती है, तब प्रधान शब्द अधिक सार्थक बनता है। सूत्रकृतांग सूत्र में प्रकृति अर्थ वाले प्रधान शब्द का प्रयोग किया है—'पहाणाइ तहावरे'। 'पहाण' यह प्रधान शब्द का प्राकृत रूप है। वेदान्तियों ने वेदों की जिन

श्रुतियों को ब्रह्म के अर्थ में लगाया है, सांख्य विद्वानों ने उन्हीं सब श्रुतियों को प्रकृति के अर्थ में घटाया है। वेदान्तियों ने जगत का उपादान कारण ब्रह्म को माना है। विवर्त अर्थात वस्तु नहीं, परन्तु वस्तु का आभास—अध्यासमात्र। जब कि—सांख्यों ने प्रकृति के दो तरह के परिणाम रूप में जगत का सत्य अस्तित्व स्वीकार किया है। प्रकृति के दो तरह केपरिणाम हैं—स्वरूप परिणाम और विरूप परिणाम। प्रलयकाल में स्वरूप परिणाम और सृष्टिकाल में विरूप परिणाम होता है। ब्रह्मवादियों के समान सांख्य यह नहीं मानते कि—'जगत् मिथ्या है।' ये लोग सत्कार्यवाद के मानने वाले हैं, जगत को वास्तविक सत्य रूप में स्वीकार करते हैं। सत्कार्यवाद का यह आशय है कि—कारण में जो गुण होते हैं वे ही कार्य में प्रगट होते हैं। अर्थात् कारण में कार्य पहले नहीं था, और बाद में उत्पन्न हुआ है, ऐसा नहीं है। किन्तु मृत्तिका में घट पहले से ही विद्यमान रहता है, कुंभकार के द्वारा तो मात्र उसकी अभिव्यक्ति होती है।

महर्षिकणाद को अनन्त परमाणु सृष्टि के मूलरूप मानने पड़े हैं; जब कि सांख्य परमाणुओं से आगे पहुँच कर एकमात्र प्रकृति को ही जगत् का उपादान कारण मान कर सृष्टिनिर्माण का निर्वाह कर लेता है। सांख्य दर्शन ने कुल पचीस तत्व माने हैं वे इस प्रकार हैं:—

मूलप्रकृतिरविकृतिर्महदाद्याः प्रकृतिविकृतयः सप्त।
षोडशकस्तु विकारो न प्रकृतिर्न विकृतिः पुरुषः॥
(सां० का० ३)

अर्थ—(१) विकृति रहित मूल प्रकृति (२) महत्तत्व = बुद्धि (३) अहंकार (४-८) पाँच तन्मात्रा, (महदादि सात

प्रकृति विकृति उभयरूप हैं) पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ, पाँच कर्मेन्द्रियाँ और पाँच महाभूत तथा मन, ये सोलह केवल विकृतिरूप हैं। पच्चीसवाँ तत्त्व पुरुष है, जो न तो प्रकृतिरूप है और न विकृतिरूप है। दोनों रूपों से सर्वथा पृथक् स्वतन्त्र चैतन्य स्वरूप है।

उक्त पच्चीस तत्वों में से आदि और अन्त्य के दोनों तत्त्व अर्थात् प्रकृति और पुरुष अनादि एवं अनन्तहैं। ये दोनों तत्त्व न तो कभी उत्पन्न हुए हैं और न कभी नष्ट होनेके हैं। प्रमाण के लिए, देखिए, गीता क्या कहती है ?

प्रकृतिं पुरुषं चैव विद्ध्यनादी उभावपि।
विकारांश्च गुणांश्चैव विद्धि प्रकृतिसम्भवान्॥
कार्यकरणकर्तृत्वे हेतुः प्रकृतिरुच्यते।
पुरुषः सुखदुःखानां भोक्तृत्वे हेतुरुच्यते॥
(गीता० १३।१६--२०)

अर्थ—प्रकृति और पुरुप, दोनों को ही अनादि समझ। विकार और गुणों को प्रकृति से ही उत्पन्न हुआ जान। कार्य अर्थात् देह के और कारण अर्थात इन्द्रियों के कर्तृत्त्व के लिए प्रकृति कारण कही जाती है (और कर्त्ता न होने पर भी) सुख दु:खों को भोगने के लिए पुरुष हेतु-कारण कहा जाता है। अर्थात् प्रकृति कर्त्री और पुरुष भोक्ता है।

सृष्टिक्रम

प्रकृति में से सृष्टि का आरंभ होता है। सर्जन क्रिया किस प्रकार होती है, यह संक्षेप में यहाँ बताया जाता है:—

प्रकृतेर्महांस्ततोऽहंकारस्तस्माद् गणश्च षोडशकः।
तस्मादपि षोडशकात् पञ्चभ्यः पञ्च भूतानि॥
(सां० का० २२)

अर्थ—प्रकृति में से महान् = बुद्धि, बुद्धि में से अहंकार, अहंकार में से पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ, पाँच कर्मेन्द्रियाँ, मन और पाँच तन्मात्राएं, इस प्रकार सोलहों का गण उत्पन्न होता है। पाँच तन्मात्राओं में से पृथिवी आदि पाँच भूत पैदा होते हैं। यह हुआ सृष्टि रचना क्रम। इस के बाद जब प्रलयकाल आता है तब उलटे क्रम से तेईस तत्त्वों का प्रकृति में लय हो जाता है।

व्यक्त तथा अव्यक्त का अभेद

त्रिगुणमविवेकि विषयः, सामान्यमचेतनं प्रसवधर्मि।
व्यक्तं तथा प्रधानं, तद्विपरीतस्तथा च पुमान्॥
(सां० का० ११)

अर्थ—प्रकृति-प्रधान को अव्यक्त और महदादि कार्यों को व्यक्त कहते हैं। जैसे प्रकृति में सत्त्व, रज और तम गुण पाये जाते हैं, वैसे ही व्यक्त—महदादि में भी ये तीनों गुण उपलब्ध होते हैं। सत्त्वादि गुणरूप प्रकृति और महान् आदि व्यक्त को अलग २ नहीं कर सकते हैं; अतः व्यक्त और अव्यक्त-प्रकृति दोनों एक स्वरूप हैं। व्यक्त और अव्यक्त दोनों पुरुष के भोग्य हैं, तथा सब आत्माओं के प्रति दोनों (व्यक्त और अव्यक्त) समान हैं और दोनों अचेतन हैं एवं प्रसवधर्मी हैं, अर्थात् जैसे प्रकृति, बुद्धि को उत्पन्न करती है वैसे ही बुद्धि अहंकार को, अहंकार इन्द्रियादि को उत्पन्न करता है। अतः ये दोनों एक स्वरूप ही हैं।

यदि ये दोनों व्यक्त और अव्यक्त अर्थात् कारण और कार्य एक स्वरूप हैं तो सांख्य मत में इनको भिन्न २ कैसे माना है। इसका उत्तर ईश्वर कृष्ण निम्न प्रकार देते हैं।

हेतुमदनित्यमव्यापि सक्रियमनेकमाश्रितं लिङ्गम्।
सावयवं परतन्त्रं व्यक्तं विपरीतमव्यक्तम्॥
(सां० का० १०)

अर्थ—बुद्धि आदि व्यक्त-कारण जन्य है, अनित्य है, अव्यापी है, क्रियावान् है, अनेक संख्या- युक्त है, प्रकृति के आश्रित है, प्रलय काल में अपने २ कारणों में लीन हो जाता है, तथा शब्द रस गन्धादि अवयवों वाला है और कारण के अधीन होने से परतन्त्र है, किन्तु अव्यक्त प्रकृति इन उक्त लक्षणों से विपरीत है। अतः इनका परस्पर भेद है।

सत्कार्यवाद

सांख्यमत सृष्टि की सदा सत्ता मानता है। क्योंकि यह सत्कार्यवादी है। कारण में कार्य सर्वदा विद्यमान रहता है। केवल वाह्य निमित्त के संयोग से, उस का आविर्भाव और तिरोभाव होता रहताहै। आविर्भाव–अभिव्यक्ति के कारण मिलने पर कार्य प्रकट होता है और तिरोभाव के कारण प्राप्त होने पर कारण में कार्य लीन हो जाता है।

कारण में कार्य विद्यमान रहता है, इस बात को सिद्ध करने के लिए ईश्वरकृष्ण निम्न प्रमाण देते हैं—

असदकरणादुपादानग्रहणात्सर्वसम्भवाभावात्।
शक्तस्य शक्यकरणात्कारणभावाच्च सत्कार्यम्॥

(सां० का० ९)

अर्थ—यदि कारण में कार्य की सत्ता न मानी जावे तो आकाश पुष्प की तरह वह कभी उत्पन्न नहीं हो सकता। सत् की ही उत्पत्ति होती है। उपादान का ही ग्रहण होता है अर्थात शालिवीज ही शालि का उपादान कारण होता है, गेहूँ आदि नहीं होते। सब से सब वस्तुएँ उत्पन्न नहीं होतीं, तिलों से ही तैल निकलता है वालू आदि से नहीं, शक्तिमान कारण भी शक्य कार्य को ही जन्म देते हैं तथा कारण के होने पर ही कार्य होता

है, अतः इन पांच हेतुओं से ज्ञात होता है कि कारण में कार्य सदा विद्यमान रहता है।

यहां पर कोई शङ्का करता है कि कारण में कार्य की सत्ता सर्वदा विद्यमान रहती है, यह तो सिद्ध हुआ; किन्तु इस महदादि रूप सृष्टि का प्रकृति ही कारण है, यह कहां सिद्ध हुआ? ईश्वर कृष्णाचार्य इसकी सिद्धि के लिए पांच हेतु देते हैं—

भेदानां परिमाणात्, समन्वयात् शक्तितः प्रवृत्तेश्च।
कारणकार्यविभागा-दविभागाद्वैश्वरूप्यस्य॥

(सां० का० १५)

अर्थ—बुद्धि अहंकारादि भेदों का परिमाण दिखाई देता है। जैसे एक बुद्धि, एक अहंकार, पांच इन्द्रियाँ आदि। इनका प्रकृति के साथ समन्वय है, जैसे घट सकोरे आदि का मिट्टी के साथ। शक्ति के सद्भाव में ही कारण कार्य की उत्पत्ति के लिए व्यापार करता है। महदादि को उत्पन्न करने की शक्ति प्रकृति में ही पाई जाती है। जैसे घट को उत्पन्न करने की शक्ति मिट्टी में पाई जाती है। तथा कार्य और कारण का विभाग प्रतीत होता है—जैसे कि महदादि कार्य हैं और प्रकृति कारण है। एवं प्रलय-काल में तीनों लोकों का प्रकृति में अविभाग-अभेद हो जाता है। अतः इन पांच हेतुओं से सिद्ध होता है कि बुद्धि आदि रूप सृष्टि का कारण प्रकृति ही है, अन्य कोई नहीं है।

वैदिकसृष्टि-कालवाद

काल, स्वभाव, नियति, यदृच्छा। 'पहाणाइ' में आदिशब्द से काल, स्वभाव, यदृच्छा और नियति इन चारों को ग्रहण किया गया है। ईश्वरवाद के साथ साथ कालवाद, स्वभाववाद,

यहच्छावाद और नियतिवाद भी प्रगट हो चुके थे और जनता में अपना प्रभुत्व स्थापित करने लगे थे। श्वेताश्वतर उपनिषद् में उक्त वादों का नामोल्लेख इस प्रकार हुआ है।

कालः स्वभावो नियतिर्यदृच्छा भूतानि योनिः पुरुष इति चिन्त्यम्।
संयोग एषां नत्वात्मभावात् आत्माप्यनीशः सुखदुःखहेतोः॥
(श्वेताश्व० १।२)

अर्थ—काल, स्वभाव, नियति = भावीभाव, यदृच्छा = अकस्मात्, भूत = पाँच महाभूत और पुरुष, जगत् की योनि = कारण हैं; यह बात चिन्तनीय है। इन सब का संयोग भी कारण नहीं है। सुख दुःख का हेतु होने से आत्मा भी जगत् उत्पन्न करने में असमर्थ है।

उपर्युक्त भिन्न-भिन्न मान्यताएँ, आध्यात्मिक चिन्तनकाल में प्रचलित हुई थीं। कालवादी काल को जगत् का कारण मानते थे। स्वभाववादी स्वभाव (स्वभाव का अर्थ प्रकृति भी हो सकता है) को ही प्रत्येक कार्य के प्रति कारण मानते थे। नियतिवादी भावीभाव को सुख दुख का कारण स्वीकार करते थे। यदृच्छावादी अकस्मात्—किसी भी कारण के बिना कार्य का होना मानते थे। भूतवादी, पंच महाभूत से ही सृष्टि का उत्पन्न होना बतलाते थे। पुरुषवादी पुरुष को और आत्मवादी आत्मा को जगत् का कारण मानते थे।

इन सब वादियों में कालवादी का प्रचार बहुत अधिक व्यापकरूप से हुआ था। बड़े बड़े महर्षि तक इस वाद को मानने वाले थे। एक दिन संसार में इसी की दुन्दुभि बजा करती थी। सर्व साधारण के हृदय तक में 'कालः पचति भूतानि

कालः संहरते प्रजाः' के भाव स्पष्टरूपेण अंकित हो गए थे। इतना ही नहीं, ऐतिहासिक दृष्टि से भी यह मत बहुत अधिक प्राचीन मालूम होता है। और तो क्या, अथर्वसंहिता में भी उक्तवाद का उल्लेख मिलता है:—

कालो भूमिमसृजत काले तपति सूर्यः।
काले ह विश्वाभूतानि, काले चक्षुर्विपश्यति ॥
(अथ० सं० १६। ६। ५३। ६।)

अर्थ:—काल ने पृथ्वी की सृष्टि की, काल के आधार पर सूर्य तपता है, काल के आधार पर समग्र भूत समूह रहे हुए हैं और काल के आधार से ही आँखें देख सकती हैं।

महाभारत में भी काल की महिमा खूब वर्णन की गई है:—

कालः सृजति भूतानि कालः संहरते प्रजाः।
संहरन्तं प्रजाः कालं कालः शमयते पुनः ॥
कालोहि कुरुते भावान् सर्वलोके शुभाशुभान्।
कालः संक्षिपते सर्वाः प्रजा विसृजते पुनः ॥
(म० भा० आदि पर्व १। २४८-२४६)

अर्थ:—काल भूतों का सर्जन करता है, काल प्रजा का संहार करता है, प्रजा के संहार करने वाले काल को काल ही शान्त करता है। समग्र लोक में शुभाशुभ भावों को काल ही उत्पन्न करता है। किंबहुना समस्त प्रजा का काल संहरण करता है और फिर वही उसका सर्जन करता है।

विश्वनाथ पंचानन ने भी न्यायकारिकावली में काल को जगत् का उत्पादक बतलाया है:—

जन्यानां जनकः कालो जगतामाश्रयो मतः।
(न्या० का० ४५)

अर्थ—काल जन्यपदार्थमात्र का जनक-उत्पादक है। और तीन जगत् का आधारभूत है।

इस प्रकार वैशेषिक तथा न्यायदर्शन ने भी काल को कर्त्ता के रूप में माना है।

स्वभाववाद

काल के समान स्वभाववादियों का भी काफी प्रचार हुआ है। गीता तथा महाभारत में स्वभाववाद का उल्लेख इस प्रकार से किया गया है।

न कर्तृत्वं न कर्माणि लोकस्य सृजति प्रभुः।
न कर्मफलसंयोगं स्वभावस्तु प्रवर्तते॥

(गीता ५। १४)

अर्थ—प्रभु अर्थात् परमेश्वर लोगों के कर्त्तव्य को, उनके कर्म को तथा कर्मफल के संयोग को उत्पन्न नहीं करता। किन्तु स्वभाव ही सब कुछ उत्पन्न किया करता है।

हन्तीति मन्यते कश्चिन्न हन्तीत्यपि चापरः।
स्वभावतस्तु नियतौ भूतानां प्रभवात्ययौ॥

(म० भा० शान्ति प० २५। १६)

अर्थ—कोई यह समझता है कि अमुक ने अमुक का वध किया। इसके विपरीत कोई मानता है कि अमुक ने अमुक का वध नहीं किया। ये दोनों ही मान्यताएँ असत्य हैं। वास्तव में तो प्राणियों के जन्म और मरण स्वभाव से नियत हैं।

नियतिवाद

नियतिवाद गोशालक ने अपनाया था। उसने नियतिवाद के सिद्धान्त पर आजीवक पंथ की नींव डाली थी। पुरुषार्थ का प्रतिपक्षी नियतिवाद है। सूयगडांग सूत्र में उक्त मत का उल्लेख इस प्रकार हुआ है। देखियेः—

न तं सयं कडं दुक्खं कओ अन्नकडं च णं।
सुहं वा जइवा दुक्खं सेहियं वा असेहियं॥
सयं कडं न अन्नेहिं वेदयंति पुढो जिया।
संगइयं तहा तेसिं इहमेगेसिमाहियं॥
(सूय० १।१।२।२-३)

अर्थः—सुख और दुःख अपने पुरुषार्थ से निष्पन्न नहीं होते हैं, तब फिर अन्य कृत तो होंगे ही कहाँ से? अस्तु सैद्धिक (सिद्धि सम्बन्धी), और असैद्धिक सभी सुख दुःख जीव अपने पुरुषार्थ से किए हुए नहीं भोगते हैं। तथैव दूसरे के पुरुषार्थ से किए हुए भी नहीं भोगते हैं। किन्तु यह सब सुख दुःख परंपरा सांगतिक अर्थात् नियति प्राप्त है, इस प्रकार कई एक वादियों का कहना है।

नियति शब्द का स्पष्ट अर्थ क्या है? यह जानने के लिए नीचे का श्लोक देख लेना आवश्यक है:—

प्राप्तव्यो नियतिबलाश्रयेण योऽर्थः सोऽवश्यं भवति नृणां शुभोऽशुभो वा।
भूतानां महति कृतेऽपि हि प्रयत्ने नाभाव्यं भवति न भाविनोऽस्ति नाशः॥
(सूय० टी०)

उपासक दशांग के सातवें अध्ययन में गोशालक के उपासक संकडालपुत्त कुम्हार के साथ—जो कि पीछे से महावीर स्वामी के श्रावक बन गए थे—भगवान महावीर स्वामी का जो वार्तालाप मिलता है उस से यह सिद्ध हो जाता है कि आजीविक मत में नियतिवाद मुख्य सिद्धान्त था।

यदृच्छावाद

यदृच्छा का मूलार्थ अकस्मात् होता है। अस्तु, उक्त वाद की यह मान्यता है कि कार्य के लिए किसी कारण या निमित्त की आवश्यकता नहीं है। बिना किसी निमित्त के प्रत्येक कार्य योंही

अचानक-एकाएक हो जाते हैं। काँटे में जो अग्र भाग पर तीक्ष्णता है उसका कुछ भी कारण नहीं है। उपाय से या किसी निमित्त से अगर मनुष्य का बचाव हो सकता हो तो फिर कोई भी साधन संपन्न मनुष्य दुःखी नहीं हो सकता, राजा महाराजा तो कभी मरें ही नहीं ? परन्तु ऐसा होता नहीं है। कहा भी है:-

"अरक्षितं तिष्ठति दैवरक्षितं सुरक्षितं दैवहतं विनश्यति।"

"दैवी विचित्रा गतिः।"

दैववाद या कुदरतवाद का भी इसी में समावेश हो सकता है। वस्तुतः देखा जाय तो अकारणवाद या अनिमित्ततावाद का ही अपर नाम यदृच्छावाद है। अनिमित्ततावाद का उल्लेख सुप्रसिद्ध न्यायदर्शन में भी आया है। वहाँ चौथे अध्याय के प्रथम आह्निक में लिखा है कि—

अनिमित्ततो भावोत्पत्तिः कण्टकतैक्ष्ण्यादिदर्शनात्।

(न्या० सू० ४। १। २२)

अर्थ—शरीरादि भाव की उत्पत्ति, निमित्त कारण के विना केवल उपादान मात्र से होती है। क्योंकि काँटे में तीक्ष्णता का भाव इसी प्रकार का देखा जाता है।

महाभारत में उक्त वाद का यदृच्छावाद के नाम से ही उल्लेख हुआ है:—

पुरुषस्य हि दृष्ट्वेमामुत्पत्तिमनिमित्ततः।
यदृच्छया विनाशं च शोकहर्षावनर्थकौ॥

(म० भा० शान्ति प० ३३। २३)

अर्थ—मनुष्य के जन्म तथा विनाश निमित्त के विना अकस्मात् होते देखकर शोक या हर्ष करना सर्वथा निरर्थक है।

उपर्युक्त सब वादियों का संग्रह 'पहाणाइ' में आए हुए आदि शब्द से हो जाता है। सूयगडांग के टीकाकार श्री

शीलांग सूरि ने भी ऐसा ही दर्शाया है। गाथा के उत्तरार्ध में "जीवाजीवसमाउत्ते सुहदुक्खसमिन्निए" इस प्रकार लोक के दो विशेषण बतलाए हैं। लोक जीव अजीव से व्याप्त है। अर्थात् सृष्टि जड़ तथा चेतन उभय रूप है। इस में से चैतन्य सृष्टि सुख दुःख से व्याप्त है। इस सम्बन्ध में ईश्वरवादी का तो यह मन्तव्य है कि—जड़ चेतन उभय सृष्टि में तथा पुरुष के सुख दुःख में ईश्वर निमित्त कारण है। जब कि इससे ठीक उलटे रूप में प्रकृतिवादी सांख्य का मन्तव्य है कि—जड़ चेतन उभय सृष्टि में प्रकृति उपादान कारण है। ईश्वर के निमित्त कारण की यहाँ कोई आवश्यता नहीं। आत्माएं दोनों के मत में अनन्त हैं तथा व्यापक हैं। ईश्वरवादी के मत में आत्मा कर्ता भोक्ता सब कुछ है, जब कि प्रकृतिवादी के मत में आत्मा कर्ता न होकर केवल भोक्ता ही है। कर्तृत्व का सारा भार प्रकृति पर डाला गया है। (६)

अवतारवाद और अण्डवाद

मूल-सयंभुणा कडे लोए इति वुत्तं महेसिणा।
मारेण संथुया माया, तेण लोए असासए॥

(सूय० १। १। ३। ७)

छाया—स्वयंभुवा कृतो लोक इति व्युक्तं महर्षिणा।
मारेण संस्तुता माया तेन लोकोऽशाश्वतः॥

भावार्थ—'स्वयंभू ने लोक बनाया है'—ऐसा महर्षि ने कहा है। मार ने माया का विस्तार किया, इस कारण लोक अशाश्वत है।

मूल-माहणा समणा एगे आह अंडकडे जगे।
असो तत्तमकासी य अयाणंता मुसं वदे ॥

(सूय० १ १।३।८)

सं० छा०—ब्राह्मणा श्रमणा एके आहुरण्डकृतं जगत्।
असौ तत्त्वमकार्षीच्च अजानन्तो मृषा वदन्ति ॥

भावार्थ—कई श्रमण ब्राह्मण कहते हैं कि—यह जगत् अंडे में से बना हुआ है। ब्रह्मा ने महाभूतादि तत्त्व रचे हैं। वस्तुस्थिति न समझने वाले, इस प्रकार मिथ्या भाषण करते हैं।

विवेचन—ईश्वरवादियों के निराकार, आत्मविशेष रूप ईश्वर में इच्छा एवं संकल्प आदि किस प्रकार हो सकते हैं? यह शंका अभी तक खड़ी हुई है। ईश्वरवादियों की ओर से उक्त शंका के समाधान के लिए कोई विशेष प्रयत्न नहीं हो सका है। सांख्य की प्रकृति में पुरुष का सांनिध्य सृष्टि का कारण माना गया है। परन्तु यहाँ भी प्रश्न है कि—पुरुष का सांनिध्य तो हमेशा ही बना रहता है अतःसृष्टि हमेशा बनती रहेगी। कभी प्रलय की तो संभावना ही नहीं की जा सकती! यह शंका प्रकृतिवाद में भी बनी रहती है, जिसका कि सांख्य के पास कोई खास उत्तर नहीं है। अब रहे ब्रह्मवादी। इस सम्बन्ध में उनकी अवस्था भी अच्छी नहीं कही जा सकती। उनके मत में भी यह शंका बनी रहती है कि—निर्गुण निराकार ब्रह्म में विकार किस प्रकार आ सकते हैं? इन सब शंकाओं का समाधान करने के लिए एक सगुण, साकार ईश्वर की कल्पना की गई है; जिसका नाम स्वयंभू रक्खा गया है। स्वयंभू का अर्थ है 'स्वयं भवतीति स्वयंभूः' जो अपने आप स्वतंत्र रूप में उत्पन्न होता है। अर्थात् कर्म के योग से नहीं, परन्तु अपनी इच्छा से जो विशिष्ट आत्मा

शरीर धारण करता है, वह स्वयंभू है। टीकाकार इसे विष्णु तथा अन्य नाम से संबोधित करते हैं। परन्तु इतने मात्र से ही इसका परिष्कार नहीं हो सकता। कारण 'स्वयंभू' शब्द के पीछे एक बहुत लम्बी प्रक्रिया है। शरीरधारी सृष्टि कर्ता के रूप में सब से प्रथम स्वयंभू भगवान उपस्थित होते हैं। यहाँ से अवतार-वाद का प्रारम्भ होता है। वैष्णव इसे विष्णु कहते हैं और शैव इसे शिव मानते हैं। सृष्टिवादी इसका ब्रह्मा के नाम से परिचय देते हैं और बौद्ध विद्वान् अमरसिंह ने अपने अमरकोप में—

ब्रह्मात्मभूः सुरज्येष्ठः परमेष्ठी पितामहः।
हिरण्यगर्भो लोकेशः स्वयंभूश्चतुराननः॥

(अम० को० १ । १६)

ब्रह्मा का नाम स्वयंभू बतलाया है। सृष्टि कर्ता के रूप में अधिक प्रसिद्धि ब्रह्मा की है। विष्णु पालक और शिव संहारक के तौर पर पुराणों में वर्णित हैं। अगर वस्तुतः देखा जाय तो उक्त त्रिमूर्तिरूप ही स्वयंभू होता है। त्रिगुणात्मक प्रकृति रूप इसका शरीर है। इसमें से रजोगुण प्रधान ब्रह्मा का उद्भव होता है। इसी प्रकार सत्वगुण प्रधान विष्णु और तमोगुण प्रधान शिव का भी उत्पादक यही है। इस दृष्टि से यह पितामह भी कहा जाता है। उक्त अवतारवाद का मुख्य प्रयोजन क्या है? गीता में इसका अच्छा दिग्दर्शन किया गया है। देखिये:—

यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत।
अभ्युत्थानमधर्मस्य तदात्मानं सृजाम्यहम्॥
परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम्।
धर्मसंस्थापनार्थाय संभवामि युगे युगे॥

(गीता ४ । ७-८)

अर्थ—हे भारत ! संसार में जब जब अन्याय, अनीति, दुष्टता और अंधाधुन्धी का प्राबल्य होने पर साधुओं को कष्ट होने लगता है और दुष्टों की महिमा बढ़ जाती है; तब तब साधुओं का रक्षण करने के लिए, दुष्टों का विनाश करने के लिए तथा धर्म की व्यवस्था करने के लिए युग-युग में मैं अवतार धारण करता हूँ। आत्मसृष्टि अर्थात् आत्मा का शरीर के साथ सम्बन्ध जोड़ कर जगत में उपस्थित होता हूँ।

गीतोक्त अवतार-धारण सृष्टि के बीच का है। क्योंकि सृष्टि की आदि में तो ऐसा कोई प्रयोजन नहीं होता, केवल रात्रि पूरी होने पर प्रलयकाल पूरा हो जाता है और सृष्टि का प्रारंभ काल आ जाता है। इसलिए निम्नोक्त मनुस्मृति के श्लोकानुसार सृष्टि का आरंभ होता है:—

ततः स्वयंभूर्भगवानव्यक्तो व्यञ्जयन्निदम् ।
महाभूतादि वृत्तौजाः प्रादुरासीत्तमोनुदः ॥
(मनु० १ । ६)

अर्थ—अव्यक्त अर्थात् बाह्येन्द्रिय-अगोचर एकमात्र योगाभ्यासियों द्वारा जानने योग्य, सृष्टि रचना में पूर्ण सामर्थ्य रखने वाला स्वयंभू भगवान्, आकाशादि पाँच महाभूतों तथा महत्तत्वादिकों को—जो पहले सूक्ष्मरूप में थे, स्थूलरूप में प्रकाशमान करने वाला और प्रलयावस्था का नाश करने वाला या प्रकृति को प्रेरित करने वाला प्रकट हुआ।

सोऽभिध्याय शरीरात्स्वात् सिसृक्षुर्विविधाः प्रजाः ।
अप एव ससर्जादौ तासु बीजमवासृजत् ॥ (मनु० १ । ८)

अर्थ—उस स्वयंभू ने विविध प्रजा सर्जन करने की इच्छा से प्रकृति रूप अपने शरीर में से 'जल उत्पन्न हो' ऐसा संकल्प

कर के सब से पहले जल की सृष्टि की। तत्पश्चात् उस जल में शक्तिरूप बीज का आरोपण किया।

सूत्रकृतांग की सातवीं गाथा के पूर्वार्द्ध में कहे अनुसार स्वयंभू की सृष्टि यहाँ पूर्ण हो जाती है अस्तु, 'इति वुत्तं महेसिणा' इस पद में के 'महर्षि' शब्द का अर्थ 'मनु' लेने का है। अर्थात् मनु महर्षि ने ऐसा कहा है, यह भावार्थ ग्रहण करना है।

उत्तरार्द्ध में मार एवं माया का उल्लेख आया है। इसका विवेचन आठवीं गाथा के विवेचन में आगे किया जाने वाला है। कारण कि—मनु की इस सृष्टि प्रक्रिया में स्वयंभू, अंड तथा ब्रह्मा इन तीनों का अनुक्रम से संकलित प्रबन्ध है फलतः उक्त अनुक्रम को कायम रखने के लिए हम ने विवेचन पद्धति की योजना भी उसी रूप में की है।

अण्डसृष्टि

स्वयंभू के बाद अंड सृष्टि का नम्बर आता है। अण्ड सृष्टि के मुख्य दो प्रकार हैं। एक बहुत प्रचीन है, जो छांदोग्योपनिषद् में बताया गया है। दूसरा प्रकार मनुस्मृति में दिखलाया है। दोनों की प्रक्रिया भिन्न-भिन्न है और दोनों में काफ़ी अन्तर है। छांदोग्य में अंड के साथ स्वयंभू का कोई संपर्क नहीं है; जब कि—मनुस्मृति की सृष्टि में स्वयंभू अंडे में प्रवेश करके सृष्टि का निर्माण करता है। उक्त विविधता का दिग्दर्शन कराए बिना पाठकों को इस सम्बन्ध में अधिक स्पष्ट ज्ञान नहीं हो सकता इसलिए अंडे की दोनों प्रक्रियाओं का स्वरूप दिखा देना यहाँ अतीव आवश्यक है। 'अंडकडे जगे' सूयगडांग की इस गाथा के अनुसार तो छांदोग्योपनिषद् की प्रक्रिया अधिक प्रकरण-

संगत मालूम होती है। अतः प्रथम छांदोग्योपनिषद् की प्रक्रिया बता कर पीछे मनुस्मृति की प्रक्रिया को उठाया जायगा।

छांदोग्योपनिषद् ३, १६ में लिखा है:—

असदेवेदमग्र आसीत्।

अर्थ—सृष्टि से पहले प्रलयकाल में यह जगत् असत् अर्थात् अव्यक्त नाम रूप वाला था।

तत्सदासीत्।

अर्थ—वह असत् जगत् सत् यानी नाम रूप कार्य की ओर अभिमुख हुआ।

तत्समभवत्।

अर्थ—अंकुरीभूत बीज के समान क्रम से कुछ थोड़ा सा स्थूल बना।

तदाण्डं निरवर्तत।

अर्थ—आगे चलकर वह जगत अंडे के रूप में बना।

तत्संवत्सरस्य मात्रामशयत।

अर्थ—वह एक वर्ष पर्यन्त अंडरूप में रहा।

तन्निरभिद्यत।

अर्थ—वह अंडा एक वर्ष के पश्चात् फूटा।

ते आण्डकपाले रजतं च सुवर्णं चाभवताम्।

अर्थ—अंडे के दोनों कपालों में से एक चाँदी का और दूसरा सोने का बना।

तद्यद् रजतं सेयं पृथिवी।

अर्थ—उनमें जो चाँदी का था, उसकी पृथ्वी बनी।

यत्सुवर्णं सा द्यौः

अर्थ—जो कपाल सोने का था उसका ऊर्ध्वलोक (स्वर्ग) बना।

यज्जरायु ते पर्वताः ।

अर्थ—जो गर्भ का वष्टन था उसके पर्वत बने ।

यदुल्वं स मेघो नीहारः ।

अर्थ—जो सूक्ष्म गर्भ परिवेष्टन था वह मेघ और तुपार बना ।

या धमनयः ता नद्यः ।

अर्थ—जो धमनियाँ थीं वे नदियाँ बन गईं ।

यद्वास्तेयमुदकं स समुद्रः ।

अर्थ—जो मूत्राशय का जल था उसका समुद्र बना।

अथ यत्तद्जायत सोऽसावादित्यः ।

अर्थ—अनन्तर अंडे में से जो गर्भ रूप में पैदा हुआ वह आदित्य-सूर्य बना ।

यह अंडे की आमूलचूल स्वतंत्र सृष्टि है। इसमें स्वयंभू ईश्वर, या विष्णु आदि का कुछ भी सम्बन्ध नहीं है। जहाँ तक वैदिक साहित्य से हमारा परिचय हुआ है यह इस रंग ढंग का वर्णन छांदोग्योपनिषद् में उपलब्ध है। सूत्रोक्त 'अंडकडे जगे' गाथा के अर्थ के साथ उक्त रूपक का सम्बंन्ध ठीक-ठीक लागू पड़ता है ।

मनु महर्षि की अंड सृष्टि ।

तदण्डमभवद्धैमं सहस्रांशुसमप्रभम् ।
तस्मिन्जज्ञे स्वयं ब्रह्मा सर्वलोकपितामहः ॥

(मनु० १ । ६)

अर्थ—स्वयंभू के संकल्प से वह बीज सूर्य के समान अतीव समुज्ज्वल प्रभा वाला सोने का अंडा बना। अनन्तर उस अंडे में

भगवान स्वयंभू योगशक्ति से पूर्वधृत प्रकृतिमय सूक्ष्म शरीर को छोड़कर सर्वलोक पितामह ब्रह्म के रूप में उत्पन्न हुआ ॥ ६ ॥

तस्मिन्नण्डे स भगवानुषित्वा परिवत्सरम्।
स्वयमेवात्मनो ध्यानात्तदण्डमकरोद् द्विधा ॥

अर्थ—वह भगवान् अंडे में ब्रह्मा के एक वर्ष तक निरन्तर रहता रहा और अन्त में उसने अपने ही संकल्प रूप ध्यान से उस अंडे के दो टुकड़े किए।

ताभ्यां स शकलाभ्यां च दिवं भूमिं च निर्ममे।
मध्ये व्योम दिशश्चाष्टावपां स्थानं च शाश्वतम् ॥
मनु० (१ । १३)

अर्थ—तत्पश्चात भगवान् ने उन दो टुकड़ों से—ऊपर के टुकड़े से स्वर्ग और नीचे के टुकड़े से भूमि बनाई। बीच के भाग से आकाश और आठ दिशाएँ तथा पानी का शाश्वत स्थान समुद्र बनाया।

तत्त्वसृष्टि

'असो तत्तमकासी य'

अंड सृष्टि के पश्चात ब्रह्मा की तत्त्वसृष्टि १४ वें श्लोक से शुरू होती है। कारण कि गाथा में 'असो' मूल तथा 'असौ' संस्कृत शब्द ब्रह्मा का परामर्शक है। टीकाकार ने भी यही अर्थ बतलाया है। यहाँ से स्वयंभू का अधिकार ब्रह्मा को प्राप्त होता है। वेदान्त दृष्टि से ब्रह्म स्वयंभू और ब्रह्मा एक आत्मरूप ही हैं। जो भिन्नता है केवल उपाधि जन्य है, अन्य कुछ नहीं। अर्थात् ब्रह्म निराकार, निर्गुण है; स्वयंभू प्रकृतिरूप शरीर धारी है और ब्रह्मा रजोगुण प्रधान है, इस प्रकार उपाधिभेद की विशेषता है। सांख्य की दृष्टि से स्वयंभू का शरीर अव्याकृत

प्रकृतिरूप है तथा ब्रह्मा का शरीर रजोगुण प्रधान व्याकृत प्रकृति रूप है; यह विशेषता है। ब्रह्मा प्राणी सृष्टि रचने के लिए सब से पहले अपना शरीर बनाता है और उसके लिए तत्त्वसृष्टि का आरम्भ करता है:—

> उद्बबर्हात्मनश्चैव मनः सदसदात्मकम् ।
> मनसश्चाप्यहंकारमभिमन्तारमीश्वरम् ॥
> महान्तमेव चात्मानं सर्वाणि त्रिगुणानि च ।
> विषयाणां गृहीतॄणि शनैः पंचेन्द्रियाणि च ॥
>
> (मनु० १ । १४-१५)

अर्थ—ब्रह्मा ने स्वयंभू परमात्मा में से सत् (अनुमान आगम-सिद्ध) असत् (प्रत्यक्षागोचर), ऐसे मन का सृजन किया। मन से पहले अहंकार का निर्माण किया कि जिससे 'मैं ईश्वर (सर्व कार्य करने में समर्थ) हूँ' ऐसा अभिमान हुआ। अहंकार से पहले महत्तत्व की रचना की। टीकाकार मेधातिथि कहता है कि 'तत्त्वसृष्टिरिदानीमुच्यते' अर्थात् यहाँ से तत्त्वसृष्टि का वर्णन किया जाता है। उक्त वाक्य के तत्त्व शब्द का अर्थ महत्तत्व (बुद्धि) समझना चाहिए इस कथन से मन, अहंकार और महत्तत्व की उलटे क्रम से संयोजना करनी चाहिए। अर्थात् सब से प्रथम महतत्व है, उसके बाद अहंकार है और उसके बाद मन का नम्बर आता है। मन के पश्चात् पाँच तन्मात्रा की, तीन गुण वाली विषय ग्राहक पाँच ज्ञानेन्द्रियों की और 'च' कार से पाँच कर्मेन्द्रियों की रचना भी ब्रह्मा ने स्वयंभू में से की।

> तेषां त्ववयवान् सूक्ष्मान् षण्णामप्यमितौजसाम् ।
> सन्निवेश्यात्ममात्रासु सर्वभूतानि निर्ममे ॥
>
> (मनु० १ । १६)

अर्थ[1]—अपरिमित शक्तिशाली पाँच तन्मात्राएँ और एक अहंकार इन छः तत्त्वों को और इन सूक्ष्म अवयवों को आत्मा के सूक्ष्म अंशों में मिला कर ब्रह्मा, देव, मनुष्य आदि सर्वभूतों का सृजन करता है। कारण कि उक्त मिश्रण ही सृष्टि का उपादान कारण है। मेधातिथि तथा कुल्लूकभट्ट दोनों टीकाकारों का उपर्युक्त अभिप्राय है। परन्तु टीकाकार राघवानन्द दोनों से अलग रास्ते पर जाते हैं, और अपना आशय नीचे के शब्दों में व्यक्त करते हैं:—

"...षण्णां मन आदीनाममितौजसाम्..."। आत्ममात्रासु अपरिच्छिन्नस्यैकस्यात्मन उपाधिवशात् अवयववत्प्रतीयमानेषु आत्मसु"..."॥

"ममैवांशो जीवलोके जीवभूतः सनातनः"—इतिस्मृतेः।

"अंशो नानाव्यपदेशादित्यादि सूत्राच्च, तासु मन आदि षडवयवान् सूक्ष्मान् संनिवेश्य सर्वभूतानि सर्वान् जीवान् निर्मम इत्यन्वयः।"

अर्थात् राघवानंद ने पाँच तन्मात्रा के उपरांत छठे अहंकार के बदले मन को रक्खा है। आत्ममात्रा शब्द से एक ब्रह्म के उपाधिभेद से पृथक् हुए अनेक अंश रूप जीवात्माओं का ग्रहण किया है। मन आदि छः तत्त्वों के अवयवों को आत्ममात्रा के साथ मिश्रण कर के ब्रह्मा ने सब जीवों का निर्माण किया। इस प्रकार जीव सृष्टि रचना सम्बन्धी राघवानन्द का अभिप्राय है।

यन्मूर्त्यवयवाः सूक्ष्मास्तस्येमान्याश्रयन्ति षट्।
तस्माच्छरीरमित्याहुस्तस्य मूर्तिं मनीषिणः॥

(मनु० १।१७)

---

१ गीता० १५।७

अर्थ—ब्रह्मा के शरीर के सूक्ष्म अवयव अर्थात् पाँच तन्मात्रा और अहंकार, पाँच महाभूत तथा इन्द्रियों को उत्पन्न करते हैं। फलस्वरूप पाँच महाभूत और इन्द्रिय रूप ब्रह्मा की मूर्ति को विद्वान् लोग षडायतन रूप शरीर कहते हैं।

इस भाँति ब्रह्मा के शरीर की रचना पूरी होने के साथ सांख्य के तत्वों की रचना पूरी हो जाती है। १८ वें श्लोक से ३० वें श्लोक तक भूतों का कार्य आदि छुटकर सृष्टि बताई गई हैं। परन्तु विस्तार बढ़ जाने के कारण उसका उल्लेख यहाँ न कर के ३२ वें श्लोक से ब्रह्मा की जो बाह्य सृष्टि वर्णित की गई है उसका थोड़ा सा दिग्दर्शन कराया जाता है।

द्विधा कृत्वात्मनो देहमर्धेन पुरुषोऽभवत्।
अर्धेन नारी तस्यां स विराजमसृजत्प्रभुः।
(मनु० १। ३२)

अर्थ—ब्रह्मा ने अपने शरीर के दो टुकड़े किए। एक टुकड़े का पुरुष बनाया और दूसरे आधे टुकड़े की स्त्री बनाई। फिर स्त्री में विराट् पुरुष का निर्माण किया।

तपस्तप्त्वा सृजद्यं तु स स्वयं पुरुषो विराट्।
तं मां वित्तास्य सर्वस्य स्रष्टारं द्विजसत्तमाः॥
(मनु० १। ३३)

अर्थ—उस विराट् पुरुष ने तप का आचरण करके जिसका निर्माण किया वह मैं मनु हूं। हे श्रेष्ठ द्विजो! निम्नोक्त समग्र सृष्टि का निर्माता मुझे समझो।

मनुसृष्टि

अहं प्रजाः सिसृक्षुस्तु तपस्तप्त्वा सुदुश्चरम्।
पतीन् प्रजानामसृजं महर्षीनादितो दश॥
(मनु० १। ३४)

अर्थ—मनु कहते हैं कि—दुष्कर तप कर के प्रजा सृजन करने की इच्छा से मैंने प्रारंभ में दश महर्षि प्रजापतियों को उत्पन्न किया।

मरीचिमत्र्यङ्गिरसौ पुलस्त्यं पुलहं क्रतुम्।
प्रचेतसं वशिष्ठं च भृगुं नारदमेव च॥
(मनु० १।३५)

अर्थ—दस प्रजापतियों के नाम ये हैं:— (१) मरीचि, (२) अत्रि, (३) अंगि रस, (४) पुलस्त्य, (५) पुलह, (६) क्रतु, (७) प्रचेतस, (८) वशिष्ठ, (९) भृगु, और (१०) और नारद।

एते मनूंस्तु सप्तान्या-नसृजन्भूरितेजसः।
देवान् देवनिकायांश्च महर्षींश्चामितौजसः॥
(मनु० १।३६)

अर्थ—इन प्रजापतियों ने बहुत तेजस्वी दूसरे सात मनुओं को, देवों को, देवों के स्थान स्वर्गादिकों को तथा अपरिमित तेज वाले महर्षियों को उत्पन्न किया।

उपर्युक्त रचना के सिवाय प्रजापतियों ने जो रचना की, उसका वर्णन ३७वें श्लोक से ४० वें श्लोक तक इस प्रकार आया है। यक्ष, राक्षस, पिशाच, गन्धर्व, अप्सरा, असुर, नाग (सर्प), गरुड़, पितृगण, विद्युत, गर्जना, मेघ, रोहित (दंडाकारतेज), इन्द्र धनुष, उल्कापात, उत्पातध्वनि, केतु, ध्रुव, अगस्त्यादि ज्योतिषी, किन्नर, वानर, मत्स्य, पक्षी, पशु मृग, मनुष्य, सिंहादि, कृमि, कीट, पतंग, जूँ, मक्खी, खटमल, डाँस, मच्छर, वृक्ष लता आदि अनेक प्रकार के स्थावर प्राणी उत्पन्न किए।

पूर्वोक्त सात मनुओं में एक मनु तो यह प्रकृत मनु है। जो स्वायंभुव मनु के नाम से प्रसिद्ध है। दूसरे छः मनुओं के नाम मनुस्मृति के प्रथम अध्याय के ६२ वें श्लोक में बतलाये गये

हैं। वे इस प्रकार हैं:—स्वारोचिष,[1] उत्तम,[2] तामस, रैवत[4], चाक्षुस, त्रिवस्वत्सुत। ये सातों अपने अपने अन्तर काल में स्थावर जंगम रूप सृष्टि उत्पन्न करते हैं।

'मारेण संथुया माया'

सूत्रकृतांग की सातवीं गाथा के उत्तरार्द्ध में मार और माया शब्द आए हैं। वे प्रलयकाल के सूचक हैं। उनमें मार शब्द मृत्युरूप काल वाचक है। और माया शब्द स्वयंभू भगवान् की योगमाया का वाचक है। इस सम्बन्ध में भागवत के तृतीय स्कन्ध के पाँचवें अध्याय में कहा है कि—

"अथ ते भगवल्लीला योगमायोपबृंहिताः।
विश्वस्थित्युद्भवान्तार्था वर्णयाम्यनुपूर्वशः॥"

वाल्मीकि रामायण के उत्तर कांड १०४ सर्ग में टीकाकार राम, माया शब्द का अर्थ संकल्प अर्थात् भगवान् की संकल्प शक्ति करता है:—

"मायासंभावितो वीरः कालः सर्वसमाहरः"

टीका—"मायासंभावितो = मायया संकल्पेन संभावित उत्पादितः। सर्वसमाहरः = सर्व संहारकर्तेति।"

काल स्वयं महर्षि का—तपस्वी का रूप धारण करके भगवान् रामचन्द्र जी के पास आता है और अपना परिचय देते हुए कहता है कि—"भगवन् मुझे ब्रह्मा ने भेजा है। आपने भूलोक में ठहरने की ११ हजार वर्ष की मर्यादा दी थी वह अब पूरी हो गई है। अतएव कृपा करके स्वर्ग में पधारिए। आप मुझे पहचानते हैं न? मैं आपका हिरण्यगर्भ अवस्था का पुत्र हूँ, भगवान् की संकल्प शक्ति रूप माया से पैदा हुआ हूँ।

मैं समस्त चराचर का संहार करने वाला हूँ।" उक्त कथन से काल की भिन्न भिन्न अवस्थाएँ मालूम होती हैं। जैसे कि उत्पादक काल, स्थापक काल, और संहारक काल। सृष्टि का आरंभ काल, उत्पादक काल है। सृष्टि का स्थिति काल, स्थापक काल है, और अन्त में जो प्रलय काल आता है वह संहारक काल है। संहारक काल, यही मार है। यह मार ही तमोगुण प्रधान रुद्र नामधारी स्वयंभू अंश को प्रेरणा करता है कि—"दिन पूरा हुआ, सृष्टि काल समाप्त हुआ; इस लिए सब झगड़े टंटे से अवकाश ग्रहण कर आनन्द से शयन करो। अर्थात् सब का संहार करो।" अतः मार की प्रेरणा से संकल्प रूप माया शक्ति के द्वारा रुद्र जगत का संहार करता है। जगत का संहार होता है—प्रलय होता है, फलतः यह लोक अशाश्वत है। मनुस्मृति में कहा है कि—

एवं सर्वं स सृष्ट्वेदं मां चाचिन्त्यपराक्रमः।
आत्मन्यन्तर्दधे भूयः कालं कालेन पीडयन्॥

(मनु० १।५१)

अर्थ—मनुजी कहते हैं कि—अचिन्त्य पराक्रमशाली ब्रह्मा इस भाँति मुझे और सर्व प्रजा को सर्जन कर अन्त में प्रलय काल के द्वारा सृष्टि काल का नाश करता हुआ पुनः आत्मा में अन्तर्धान-लीन हो जाता है। सृष्टि के बाद प्रलय और प्रलय के बाद सृष्टि-इस प्रकार असंख्य सृष्टि प्रलय अतीत में हुए हैं और भविष्य में होते रहेंगे।

यदा स देवो जागर्ति तदेदं चेष्टते जगत्।
यदा स्वपिति शान्तात्मा तदा सर्वं निमीलति।

(मनु० १।५२)

अर्थ—जब वह ब्रह्मा जागता है तब यह जगत् चेष्टा—प्रवृत्तियुक्त हो जाता है। और जब वह शान्त होकर चुप चाप सो जाता है तब सारा जगत् निश्चेष्ट हो जाता है।

महाभारत में प्रलय का वर्णन इस प्रकार है:—

यथा संहरते जन्तून् ससर्ज च पुनः पुनः।
अनादिनिधनो ब्रह्मा नित्यश्चाक्षर एव च॥
अहः क्षयमथोबुद्ध्वा निशिस्वप्नमनास्तथा।
चोदयामास भगवानव्यक्तोऽहंकृतं नरम्॥
ततः शतसहस्रांशुरव्यक्तेनाभिचोदितः।
कृत्वा द्वादशधात्मानमादित्योऽज्वलदग्निवत्॥
....
जगद्दग्ध्वाऽमितबलः केवलां जगतीं ततः।
अम्भसा बलिना क्षिप्रमापूरयति सर्वशः॥
ततः कालाग्निमासाद्य तदम्भो याति संक्षयम्।
विनष्टेऽम्भसि राजेन्द्र! जाज्वलत्यनलो महान्॥
....
.........................सप्तार्चिषमथाशसा
भक्षयामास भगवान् वायुरष्टात्मकोबली॥
....
तमति प्रबलं भीममाकाशं ग्रसतेऽऽत्मना॥
आकाशमप्यभिनदन् मनो ग्रसतिअधिकम्॥
मनो ग्रसति भुतात्मा सोऽहंकारः प्रजापतिः।
अहंकारो महानात्मा भूतभव्यभविष्यवित्॥
तमप्यनुपमात्मानं विश्वं शम्भुः प्रजापतिः॥

(म० भा० शान्ति प० ३१२ श्लो० २ से १३)

अर्थ—याज्ञवल्क्य मुनि जनक राजा से कहते हैं कि—अनादि, अनन्त, नित्य अक्षर ब्रह्मा जिस पद्धति से बारंबार जन्तुओं का सर्जन एवं संहार करता है, वह सब तुम्हें विस्तार से समझाता हूँ। दिन को समाप्त हुआ जानकर रात्रि में सोने की इच्छा रखने वाले अव्यक्त भगवान् ने अहंकाराभिमानी रुद्र को प्रेरणा की। रुद्र ने लाख किरणों वाले सूर्य का रूप धारण कर, उसके बारह विभाग कर, अग्नि जैसा प्रचंड ताप उत्पन्न किया। जरायुज, अंडज, स्वेदज और उद्भिज्ज प्राणियों को जलाकर पृथ्वीतल को भस्मीभूत किया। इसके बाद अधिक बलवान् वही सूर्य सम्पूर्ण पृथ्वी को जलसे पूरित करता है। तदनन्तर अग्निरूप धारण कर के जल का क्षय करता है। अग्नि को आठों दिशाओं में बहने वाला वायु शान्त कर देता है। अनन्तर वायु को आकाश, आकाश को मन, मनको भूतात्मा, प्रजापति को अहंकार, अहंकार को भूत भविष्य का ज्ञाता महत्तत्व-बुद्धिरूप आत्मा=ईश्वर और उस अनुपम आत्मारूप विश्व को शंभु (रुद्र) ग्रास कर जाता है। अर्थात् उक्त क्रम से समस्त जगत् का ईश्वर में लय हो जाता है।

ब्रह्म पुराण के २३२ अध्याय में प्रलय का वर्णन नीचे लिखे अनुसार किया गया है:—

> सर्वेषामेव भूतानां त्रिविधः प्रतिसञ्चरः।
> नैमित्तिकः प्राकृतिकः तथैवात्यन्तिको मतः ॥१॥
> ब्राह्मो नैमित्तिकस्तेषां कल्पान्ते प्रतिसञ्चरः।
> आत्यन्तिको वै मोक्षश्च प्राकृतो द्विपरार्द्धिकः ॥२॥

अर्थ—सर्वभूतों का प्रलय तीन प्रकार का है—नैमित्तिक, प्राकृतिक और आत्यन्तिक। एक हजार चतुर्युग-परिमित ब्रह्मा

का एक दिवस होता है, वही कल्प कहलाता है। कल्प के अन्त में १४ मन्वंतर पूरे हो जाने पर सृष्टि क्रम से विपरीत रूप में भूलोक आदि अखिल सृष्टि का ब्रह्मा में लय हो जाता है। पृथ्वी एकार्णवस्वरूप बन जाती है और उस समय स्वयंभू जल में शयन करता है वह नैमित्तिक प्रलय कहा जाता है। इसे ही अन्तर प्रलय अथवा खंड प्रलय भी कहते हैं। दो परार्द्ध वर्षों में तीन लोक के पदार्थों का प्रकृति में या परमात्मा में जो लय होता है उसका नाम प्राकृतिक प्रलय या महाप्रलय है। और किसी संस्कारी आत्मा की मुक्ति होना आत्यन्तिक प्रलय कहलाता है।

पहले महाभारत का जो प्रलय बताया गया है वह है तो महा प्रलय, परन्तु उसमें विश्व का लय प्रकृति के बदले ईश्वर में, किया गया हैं। महाभारत की प्रलय प्रक्रिया की अपेक्षा ब्रह्म पुराण की प्रलय-प्रक्रिया किन्हीं अंशों में पृथक् है। वह पार्थक्य इस भाँति है:—महाभारत में प्रथम सूर्य तपता है जब कि ब्रह्म पुराण के प्रलय में सर्व प्रथम सौ वर्ष अनावृष्टि=दुष्काल पड़ता है। इस काल में अल्प शक्ति वाले पार्थिव प्राणियों का नाश हो जाता है। इसके बाद विष्णु रुद्र रूप धारण कर, सूर्य की सात किरणों में प्रवेश कर, समुद्र तालाब आदि का समस्त जल पी जाता है। उक्त कथन के समर्थन में ऋग्वेद की एक ऋचा भी है, वह इस प्रकार है:—

> यस्मिन्वृक्षे सुपलाशे देवैः संपिबते यमः।
> अत्रा नोपि विश्पतिः पिता पुराणां अनुवेनति ॥
>
> (ऋग् १० । १३५ । १)

अर्थ—वृत्ततुल्य संसार में पितृयम = सर्वजीवों का पितृ-स्थानीय सूर्य अपनी किरणों द्वारा जीवों की उत्पत्ति और रक्षा करता है। वही सूर्य वयोहीन जीवों के सत्व को खींच कर स्ववश करता है, अर्थात् मार डालता है।

प्रस्तुत प्रसंग में भी सूर्य जल का शोषण कर जीवों को मारता है। अस्तु, तदनन्तर वही विष्णु भगवान् सप्त सूर्य के रूप में आकाश में ऊँचे नीचे और तिरछे इस प्रकार चारों ओर भ्रमण करके पाताल सहित भूलोक को खूब तपाता है। फल-स्वरूप कूप, नदी, पर्वत निर्भर आदि सब के सब जल स्रोत स्नेहहीन हो जाते हैं। वृक्षलता वगैरह भस्म हो जाते हैं। यह पृथ्वी ऊपर से वीरान होकर कछुवे की पीठ के समान बिल्कुल समतल बन जाती है। तदनंतर रुद्र कालाग्नि का रूप धारण करके पाताल लोक को भी जला देता है, और एक प्रकार से सम्पूर्ण पृथ्वी तल को ही दग्ध कर डालता है। तत्पश्चात् वह अग्नि ज्वाला उर्ध्वलोक में जाकर भुवःलोक और स्वर्ग लोक को भी जलाती है। जिससे गन्धर्वयक्ष राक्षस पिशाच आदि भी नष्ट हो जाते हैं। बाद में रुद्र रूपी विष्णु, मुख के निःश्वास से पाँचों रंग के बादल आकाश में बनाता है। उनमें से मूसलधार वर्षा के बर-सने से अग्नि शान्त हो जाती है। निरन्तर सौ वर्ष तक वर्षा के बरसते रहने से समग्र पृथ्वी एकाकार जलार्णवमय हो जाती है। और वह जल ठेठ सप्तर्षि तक ऊपर चढ़ जाता है और भूर्लोक, भुवर्लोक स्वर्लोक सब एकाकार बन जाते हैं। इसके बाद बादलों को छिन्न भिन्न करने के लिए (बिखेरने के लिए) मुख के निश्वास से प्रचंड वायु बनाता है। सौ वर्ष तक वायु के तूफान से मेघ घटा सर्वथा बिखर जाती है—समूल नष्ट हो जाती है। यह

सब कुछ कर चुकने पर सृष्टि कर्ता विष्णु भगवान्, वायु को भी पीकर एकार्णव जल प्रवाह में शेष शय्या पर सो जाते हैं। इस प्रकार योग निद्रा में सोते हुए एक हजार चतुर्युग परिमित ब्रह्मा की समग्र रात्रि समाप्त हो जाती है। इस समय अर्थात् शयन काल में भग्नावशिष्ट जन लोक और ब्रह्मलोक में रहने वाले सनकादि मुमुक्षु भगवान् की स्तुति करते रहते हैं। यह नैमित्तिक प्रलय कहा जाता है। विष्णु पुराण में भी ऐसा ही मिलता जुलता वर्णन है। कूर्म पुराण में थोड़े से हेर-फेर के साथ उल्लेख हुआ है। वहाँ प्रलय के तीन के बदले चार भेद बतलाए हैं। तीन तो यही ज्यों के त्यों हैं, चौथा भेद नित्य प्रलय का बढ़ाया है। नित्यप्रति जो मनुष्य, पशु, पक्षी, कीड़े, मकोड़े आदि जीव मृत्यु समय आने पर मरते हैं, वह नित्य प्रलय कहलाता है।

प्राकृतिक प्रलय

पूर्वोक्त रूप में अनावृष्टि और कालाग्नि के संपर्क से जब पाताल आदि लोक स्नेहहीन—रूखे सूखे हो जाते हैं, तब महत्तत्वादि से लेकर पृथ्वी पर्यन्त विकार कहलाने वाले द्रव्यों का ध्वंस करने के लिए प्राकृतिक प्रलय उपस्थित होता है। उस समय सर्व प्रथम अनावृष्टयादि कारण से प्राणी शरीर अन्न में लीन होते हैं। अन्न बीजमात्र शेष रह कर अवशिष्ट भूमि में लीन हो जाता है। तदनन्तर भूमि गन्ध गुण में, गन्ध जल में, जल रस में, रस अग्नि में, अग्नि रूप में, रूप वायु में, वायु स्पर्श में, स्पर्श आकाश में, आकाश शब्द में, शब्द तन्मात्रा में, तन्मात्रा इन्द्रियों में, इन्द्रियाँ मन में, मन अहंकार में, अहंकार महत्तत्व (बुद्धि) में, और महत्तत्व अपने मूलद्रव्य प्रकृति में लीन हो जाता है। यह सांख्य का प्राकृतिक प्रलय है।

वेदान्त इन सब से एक क़दम और आगे बढ़ता है। वह कहता है कि—प्रकृति और पुरुष जो शेष रहते हैं, उनका भी एकमेवाद्वितीय परब्रह्म में लय हो जाता है। इस प्रकार एकमात्र ब्रह्म ही शेष रहता है, यह वेदान्त का प्राकृत प्रलय होता है। उक्त महाप्रलय का वर्णन भागवत तृतीय स्कन्ध के चतुर्थ अध्याय में किया है। इस के अतिरिक्त विष्णु पुराण, बृह्मपुराण और कूर्म पुराण में भी ऐसा ही प्रसंग आया है। भागवत, विष्णु पुराण, और ब्रह्म-पुराण में अन्तिम लय विष्णु में किया गया है, जब कि कू र्म पुराण में रुद्र में किया है।

काल परिमाण

मनुष्यों का एक मास अर्थात् तीस अहोरात्र, पितृदेवों का एक अहोरात्र होता है। मनुष्यों का एक वर्ष, वह देवताओं का एक अहोरात्र। देवताओं के बारह हजार वर्ष बीतने पर एक चतुर्युग अर्थात् सत्य, द्वापर, त्रेता और कलियुग होता है। एक हजार चतुर्युग में ब्रह्मा का एक दिवस, और इतने ही काल में ब्रह्मा की एक रात्रि होती है। अस्तु, ब्रह्मा का एक दिवस सृष्टिकाल और ब्रह्मा की एक रात्रि नैमित्तिक प्रलय काल के बराबर है।

इस प्रकार सृष्टि के बाद प्रलय और प्रलय के बाद सृष्टि की परंपरा चलती रहने के कारण सृष्टिवादी सज्जन इस लोक को अशाश्वत मानते हैं। (७-८)

मूल—सएहिं परियाएहिं, लोयं बूया कड़े ति य।
तत्तं ते ण वियाणंति, ण विणासी कयाइवि ॥

(सूयं० १।१।३।६)

सं० छा०—स्वकैः पर्यायैः, लोकं ब्रूयुः कृतमिति च।
तत्वं ते न विजानन्ति, न विनाशी कदाचिदपि ॥

अर्थ—अपनी अपनी युक्तियों (कल्पनाओं) के बल पर "लोक(जगत) बनाया हुआ है" ऐसा जो कहते हैं वे "लोक कदाचित् भी विनाशी नहीं है" इस तत्त्व को नहीं जानते।

विवेचन—वैदिक धर्म में सृष्टिवाद के सम्बन्ध में मुख्य रूप से सात वादी माने जाते हैं। वे सात वादी लोक को देवउप्त, ब्रह्मउप्त ईश्वरकृत, प्रधानादिकृत, स्वयंभू कृत, अण्डकृत और बृह्माकृत मानते हैं। इनका पूर्वपक्ष के रूप में काफ़ी विस्तृत विवेचन किया जा चुका है। लोक कार्य रूप है, बना हुआ है, सृष्टिरूप है—इस बात में सातों एक मत हैं। अर्थात् इस सामान्य सिद्धान्त में वे परस्पर कुछ भी मतभेद नहीं रखते। परन्तु इस जगत् का स्रष्टा (बनाने वाला) कौन है ? इस प्रश्न के उत्तर में सब के सब बहुत विभिन्न मत रखते हैं। आपस में एक दूसरे की मान्यता पर गहरी छींटाकशी हुई है, यही इनकी अज्ञता है। यदि इनका कथन ज्ञान पूर्वक होता तो इतना मतभेद नहीं होता। सत्य सिद्धान्त में कभी मतभेद नहीं होता है। उल्लिखित सातों वादी वेद को प्रमाण रूप मानते हुए भी, एक तत्त्व को नहीं पा सके हैं। इस लिये सूत्रकार ने बहुत ठीक ही कहा है कि—"तत्तं तेन वियाणंति=तत्त्वं ते न विजानन्ति" अर्थात्—ये वादी खरी बात (सत्य सिद्धान्त) को नहीं जानते हैं। अपनी अपनी कल्पना से 'लोक अमुक का किया हुआ है' इस प्रकार कहते हैं। कोई भी सिद्धान्त केवल वादी के

कहने मात्र से निर्णीत नहीं हो सकता, किन्तु "वादिप्रतिवादि-भ्यां निर्णीतोर्थः सिद्धान्तः" अर्थात्—वादी और प्रतिवादी के कथन से निर्णीत हो वही सिद्धान्त माना जाता है। यहाँ वादियों का पक्ष तो ऊपर बता चुके, अब प्रतिवादी का पक्ष क्या है, यह दिखाया जाता है, जिससे कि सत्य सिद्धान्त को समझने में सरलता हो। स्मरण रहे कि—सभी वादी वेद को प्रमाण रूप से मानते हैं, और उसी का अवलम्बन लेते हैं। उस वेद का स्मृतियों तथा पुराणों में कौनसा पक्ष स्थिर होता है, इसकी समालोचना की जाती है।

सभी वादियों के सामने सर्व प्रथम तो यह प्रश्न उपस्थित होता है कि सृष्टि के प्रारंभ से पूर्व क्या तत्व था जिसमें से यह संसार उत्पन्न हुआ है? इसका उत्तर वेद ब्राह्मण और उपनिषद् में कितने प्रकारों से दिया गया है सो दिखाया जाता है—

(१) असद्वा इदमग्र आसीत् (तै० उप० २।७)

अर्थ—सृष्टि के पूर्व यह जगत् असद्रूप था।

(२) सदेव सौम्येदमग्र आसीत् (छान्दो० ६।२)

अर्थ—उद्दालक ऋषि अपने पुत्र श्वेत केतु से कहते हैं कि हे सौम्य! यह जगत् पहले सद्रूप ही था।

ये दोनों उत्तर परस्पर विरोधी हैं। एक कहता है कि जगत् पहले असद्रूप था, तब दूसरा कहता है कि सद्रूप था, यह स्पष्ट विरोध पाया जाता है। जो सद् होता है वह असद् नहीं हो सकता, और जो असद् है वह सद् नहीं हो सकता। ब्रह्म सूत्र में कहा है कि—"नैकस्मिन्नसम्भवात्" सद् और असद्

परस्पर विरोधी धर्म एक वस्तु में नहीं रह सकते, क्योंकि ऐसा होना असंभव है, यद्यपि जैन दर्शन,जो अनेकान्तवादी है, अपेक्षा भेद से परस्पर विरोधी धर्मों का एकधर्मी में समन्वय कर सकता है तथापि उक्त मत तो एकान्त वादियों का है इसलिये ऊपर बताये हुए दोनों उत्तर एक दूसरे के विरोधी ज्ञात होते हैं। अस्तु, आगे और देखिये—

(३) आकाशः परायणम् (छान्दो० १ । ९)

अर्थ—सृष्टि के पूर्व आकाश नाम का तत्व था, क्योंकि वह परायण अर्थात् परात्पर अर्थात् सब से पर है।

(४) नैवेह किञ्चनाग्र आसीत् , मृत्युनैवेदमावृतमासीत्
(बृहदा० १ । २ । १)

अर्थ—सृष्टि के पूर्व कुछ भी नहीं था, यह जगत् मृत्यु से व्याप्त था, अर्थात् नष्ट हो चुका था।

(५) तमोवा इदमग्र आसीत्। (मैत्र्यु० ५ । २)

अर्थ—सब से पहले यह जगत् अन्धकार मय था।

यही भाव मनुस्मृति के प्रथम अध्याय के पांचवें श्लोक में भी वर्णित है, देखिये—

(६) आसीदिदं तमोभूत-मप्रज्ञातमलक्षणम्।
अप्रतर्क्यमविज्ञेयं, प्रसुप्तमिव सर्वतः ॥
(मनु० १।५)

अर्थ—यह जगत् सृष्टि के पूर्व अन्धकार में था, अप्रज्ञात=प्रत्यक्ष दृष्टि गोचर नहीं था, अलक्षण=अनुमान गम्य नहीं था, अप्रतर्क्य=तर्कणा के योग्य नहीं था, अविज्ञेय=शब्द प्रमाण द्वारा अज्ञेय था, और सभी ओर से घोर निद्रा में लीन और शून्याकार था।

जिस आगम प्रमाण के आधार पर पूर्व के आठ वादियों के भिन्न भिन्न प्रकार के मतभेद उपथिस्त हुये, उसी आगम के आधार पर सृष्टि के पूर्व की अवस्था के सम्बन्ध में पुनः पांच या छह मतभेद उपस्थित हुये।

संहितां, ब्राह्मण और उपनिषद् विभाग में तो प्रलयावस्था का वर्णन संक्षेप में बताया गया है, किन्तु पुराणों में तो प्रलय-काल के विस्तार से अध्याय के अध्याय भरे पड़े हैं, जिनमें से महाभारत और ब्रह्मपुराण का किञ्चित् भाग हमने ऊपर बताया है। उनमें नैमित्तिक प्रलय की अवस्था भिन्न और प्राकृतिक प्रलय की अवस्था भिन्न चित्रित की गई है। कोई जल प्रलय बताता है, तो कोई अग्नि प्रलय बताता है। जलाकार प्रलय में भी कोई विष्णु को शेष शय्या में शयन करवाते हैं, कोई रुद्र को, कोई स्वयंभू को, तो कोई प्रजापति को उसमें विराजमान करते हैं। इस प्रकार भिन्न २ मत पाये जाते हैं। आर्य समाजी तो इन पुराणों को प्रमाण रूप ही नहीं मानते, केवल कपोल कल्पित गप्पें बताते हैं। किन्तु शाक्त और सनातनी बन्धु इन पुराणों को प्रमाण रूप स्वीकार करते हैं। थोड़ी देर के लिये यदि इनकी मान्यता का स्वागत कर लिया जाय तो वेद विभाग के साथ इन मान्यताओं का समन्वय होना चाहिये। क्योंकि मूल प्रमाण तो वेद हैं। स्मृति और पुराणों की जो बातें वेद मूलक हों वही प्रामाणिक गिनी जा सकती हैं। वेद में जो प्रलय की अवस्था ऊपर बताई गई है उसमें न तो जल है न अग्नि, न शेष नाग, और न उसकी शय्या बना कर विष्णु भगवान को ही सुलाया गया है। इससे पाया जाता है कि ये पुराणों की

बातें भी प्रमाण रहित हैं। यदि प्रमाण युक्त होतीं तो इनसे अधिक प्रामाणिक और प्राचीन माने जाने वाले वेदों में ऋषि लोग इन बातों का उल्लेख नहीं करते क्या? वेदों में, "कुछ भी नहीं था, अन्धकार था, या असद् था" इस प्रकार क्यों कहा गया? कदाचित् विष्णु या रुद्र का निद्रावस्था में होना कहा जाय तो यह भी ठीक नहीं है, क्योंकि मात्र निद्रावस्था से ही उनका अभाव तो नहीं कहा जा सकता। असली बात तो यह है कि पुराणों की रचना पक्षपात पूर्ण है। शिव पुराण ने शिव का माहात्म्य बता कर विष्णु की निन्दा की, तो विष्णु पुराण के रचयिता ने विष्णु का माहात्म्य गाकर शिव की निन्दा की। ब्रह्म पुराण में ब्रह्मा की सामर्थ्य बताई गई, तो देवी भागवत में देवी की ही सामर्थ्य बताई गई है। यदि वेद में प्रलय काल की अवस्था में किसी व्यक्ति विशेष के होने का खुलासा होता तो पुराणों में इस प्रकार के मतभेद उत्पन्न न होते कारण कि भागवतादि पुराणकार वेद को सर्वोपरि प्रमाण रूप से स्वीकार करते हैं।

सृष्टि की आरंभावस्था के मतभेद

जिस प्रकार प्रलयावस्था के विषय में मत भेद बताये गये उसी प्रकार सृष्टि की प्रारंभावस्था के विषय में भी वेद विभाग में मतभेद दिखाई देते हैं, वे इस प्रकार हैं—

देवानां युगे प्रथमे ऽसतः सदजायत।
तदाशा अन्वजायन्त तदुत्तानपदस्परि॥
(ऋग्० १०। ७२। ३)

* अर्थ—देवताओं की सृष्टि के पूर्व अर्थात् सृष्टि के आरंभ में असद् में से सद् उत्पन्न हुआ, उसके बाद दिशाएं उत्पन्न हुईं, और तत्पश्चात् उत्तानपद = वृक्ष उत्पन्न हुए।

भूर्जज्ञ उत्तानपदो भुव आशा अजायन्त
अदितेर्दक्षो अजायत दक्षाद्वदितिः परि ॥

(ऋग्० १० । ७२ । ४)

अर्थ—पृथ्वी ने वृक्ष उत्पन्न किये, पृथ्वी में से दिशाएं पैदा हुईं, अदिति में से दक्ष और दक्ष से पुनः अदिति उत्पन्न हुई।

अदितिह्यजनिष्ट दक्ष ! या दुहिता तव
तां देवा अन्वजायन्त भद्रा अमृत बन्धवः ॥

(ऋग्० १० । ७२ । ५)

अर्थ—हे दक्ष ! तेरी पुत्री अदिति ने भद्र = स्तुत्य और मृत्यु के बन्धन से रहित देवों को जन्म दिया, [अदिति के अपत्य = पुत्र, इसलिये आदित्य याने देव कहलाते हैं।]

यद्देवा अदःसलिले सुसंरब्धा अतिष्ठत
अत्रा वो नृत्यतामिव तीव्रो रेणुरपायत ॥

(ऋग्० १० । ७२ । ६)

अर्थ—हे देवो ! जब तुम उत्पन्न हुए तब पानी में नृत्य करते हुए तुम्हारा एक तीव्र रेणु (अंश) अंतरिक्ष में गया, [तात्पर्य यह कि वही रेणु सूर्य बन गया]

अष्टौ पुत्रासो अदितेर्येजातास्तन्वस्परि
देवाँ उपप्रैत्सप्तभिः परामार्ताण्डमास्यत् ॥

(ऋग्० १० । ७२ । ८)

---

* इन ऋचाओं का अर्थ प्रायः सायणभाष्य के अनुसार लिखा गया है।

अर्थ—अदिति के शरीर से जो आठ पुत्र उत्पन्न हुये, उनमें से सात पुत्रों के साथ अदिति स्वर्ग में देवताओं के पास गई, आठवाँ पुत्र जो मार्तण्ड=[मृतादण्डाज्जात इति मार्तण्डः] (सूर्य) था उसे स्वर्ग में छोड़ गई।

अदिति के आठ पुत्रों के नाम

मित्रश्च[1] वरुणश्च[3] धाता[4] चार्यमा च।
अंशश्च[5] भगश्च[6] इन्द्रश्च[7] विवस्वांश्चेत्येते[8] ॥
(तै० आ० १।१३।१०)

अर्थ—प्रसिद्ध है, विवस्वान् अर्थात् सूर्य।

[१] इसमें तीसरी ऋचा के पूर्वार्द्ध में यह कहा गया है कि असद् से सद् उत्पन्न हुआ, यह विचारणीय है, असद्=अभाव, शून्य, उसमें से सद् किस प्रकार उत्पन्न हो सकता है? हजारों शून्य एकत्रित करने पर भी एक अङ्क बनना असंभव है। हजारों शून्य की जोड़ भी शून्य ही होती है। गीता में कहा है कि-"नासतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सतः" अर्थात् असत् में से सत्= भाव नहीं उत्पन्न होता और सत् से असत्=अभाव भी उत्पन्न नहीं हो सकता। असत् का अव्याकृत ब्रह्म रूप जो लाक्षणिक अर्थ किया जाता है उसका विचार आगे करेंगे।

[२] तीसरी और चौथी ऋचा परस्पर विरोधी हैं। वह विरोध इस प्रकार है—तीसरी ऋचा में तो कहा है कि सत् में से प्रथम दिशाएँ उत्पन्न हुईं और बाद में वृक्ष उत्पन्न हुए और चौथी ऋचा में कहा कि भूमि ने पहले वृक्ष उत्पन्न किये, बाद में दिशाएँ उत्पन्न कीं।

[३] चौथी ऋचा के उत्तरार्द्ध में बताया है कि अदिति ने दक्ष को उत्पन्न किया, और दक्ष ने अदिति को उत्पन्न किया,

यह भी परस्पर विरुद्ध है, पाँचवीं ऋचा में दक्ष को सम्बोधन करके कहा है कि हे दक्ष ! तेरी पुत्री अदिति ने देवों को उत्पन्न किया है, क्या यह विरोध का समर्थन नहीं है ? अदिति के आठ पुत्र गिनाये हैं। उनमें दक्ष का नाम नहीं आता। इस हिसाब से दक्ष अदिति के पिता सिद्ध होते हैं। वाल्मीकि रामायण के अरण्यकांड के १४ वें सर्ग में भी दक्ष प्रजापति की साठ पुत्रियों में से अदिति को भी एक पुत्री बताई है, तब अदिति ने दक्ष को पैदा किया इसका क्या अर्थ ? स्वयं सायण ने भी अपने भाष्य में यह शंका उठाई है, और उसका समाधान यास्क के वचनों से किया है, किन्तु वह भी संतोष कारक नहीं है।

[४] छठी ऋचा में देवताओं को पानी में नृत्य करते बताया है, किन्तु पानी तो अभी तक उत्पन्न ही नहीं हुआ। पृथ्वी, वृक्ष और दिशाओं की उत्पत्ति बताई गई है; पानी की उत्पत्ति तो नहीं बताई गई ऐसी हालत में जल के अभाव में देवों ने पानी पर नृत्य किस प्रकार किया ?

[५] सातवीं ऋचा में अदिति के आठ पुत्रों में एक सूर्य भी है, जो तैतरिय आरण्यक से सिद्ध होता है। और सात पुत्रों को लेकर अदिति स्वर्ग में जाती है और सूर्य को आकाश में ही छोड़ जाती है, इस प्रकार कहा गया है और छठी ऋचा में कहा है कि देवता नृत्य करते थे उनमें से एक तीव्र रेणु आकाश में उड़ा उसी का सूर्य बनगया। क्या इन दो बातों में परस्पर विरोध नहीं है ? इसके सिवाय मार्तण्ड शब्द की व्युत्पत्ति के अनुसार मृत अण्ड में से सूर्य का उत्पन्न होना बताया गया है। इतनी विरोधी बातों में सत्य बात किसे स्वीकार करें ?

पाठको ! जरा और आगे बढ़ें। ऋग्वेद के १२० वें सूक्त में सूर्य नारायण को खास परमात्मा का पुत्र होना बताया है, और शत्रु के संहारक के रूप में परिचय दिया है, देखियेः—

तदिदास भुवनेषु ज्येष्ठं यतो जज्ञ उग्रस्त्वेषनृम्णः।
सद्यो जज्ञानो निरिणाति शत्रूनतु यं विश्वे मदन्त्यूमाः॥
(ऋग्० १०। १२०। १)

अर्थ—भुवन = तीनों लोक में ज्येष्ठ = प्रशस्त, या सबसे प्रथम जगत् का आदि कारण वह था, [तद् शब्द से ब्रह्म का ग्रहण किया है, किन्तु यह एक देशीय अर्थ है। सामान्य रूप से परमात्मा अर्थ हो सकता है।] वह परमात्मा कि जिससे उग्र = प्रदीप्त तेज वाला त्वेषनृम्ण = सूर्य उत्पन्न हुआ और उस सूर्य ने उत्पन्न होते ही शत्रुओं का संहार किया। उस सूर्य को देख कर सभी प्राणी प्रसन्न होते हैं।

इस सूक्त में सूर्य की उत्पत्ति परमात्मा से बताई गई है। और ७२ वें सूक्त में अदिति के आठवें पुत्ररूप में तथा देवता के तीव्र रेणु कण के रूप में सूर्य का परिचय दिया गया है। क्या ऐसे भिन्न उल्लेखों में पारस्परिक विरोध नहीं है? भाष्यकार सायण ने कहा है कि "सूर्य उत्पन्न होते ही मन्देहादि राक्षसों को मारता है।" इस कथन से भी शंका उत्पन्न होती है कि, परमात्मा के द्वारा सूर्य की उत्पत्ति होने के पहले ही राक्षस कहाँ से आ गये? परमात्मा और सूर्य के बीच में राक्षसों की उत्पत्ति नहीं बताई गई है। कदाचित् राक्षसों की उत्पत्ति मान ली जाय तो सूर्य के साथ उनकी शत्रुता कैसी? यदि पूर्व की शत्रुता कहें तो, यह प्रश्न उपस्थित होता है कि परमात्मा के पुत्ररूप से उत्पन्न हुए सूर्य में ऐसी घातक वृत्ति = क्रूरता कहां से आई? यदि

अन्धकार को सूर्य का शत्रु मानकर उसी का नाश करने के लिए परमात्मा ने सूर्य को पैदा किया ऐसा कहा जाय तो "शत्रून्" इस बहुवचन की अनुपपत्ति होती है । इसके सिवाय सायणाचार्य ने तो मन्देहादि राक्षसों के नाम लेकर उनका बहु शत्रु के रूप में निर्देश किया है। तीसरी असंगति यह है कि—सूर्य को देख कर सभी "इमाः" प्राणी प्रसन्न होते हैं तब क्या सूर्य के उत्पन्न होने के पूर्व सभी प्राणी उत्पन्न हो चुके थे ? यहां परमात्मा और सूर्य के बीच में प्राणियों की सृष्टि नहीं बताई गई है फिर ये प्राणी कहां से आगये ! इस ऋचा से तो उल्टा यह सिद्ध होता है कि राक्षस और प्राणी आदि लोक में पहले से ही उपस्थित थे। केवल सूर्य की अनुपस्थिति से उन्हें कष्ट होता था, राक्षस लोग प्राणियों को डराते थे। किन्तु परमात्मा ने सूर्य को पैदा किया, जिससे राक्षसों और अन्धकार का नाश हुआ होगया और सभी प्राणी प्रसन्न हो गये अथवा इतिहासकारों के कथनानुसार जहाँ जहाँ लंबे समय तक सूर्य दर्शन नहीं होता ऐसे नोर्वे जैसे प्रदेश में रहने वाले मनुष्य आदि प्राणी जब एशिया में आये तब प्रति दिन सूर्य के दर्शन होने से अन्धकार का नाश होते देखकर वे लोग प्रसन्न हुये, उनकी दृष्टि में सूर्य का नूतन आविर्भाव हुआ था। ऐसे सूर्य को परमात्मा के सिवाय दूसरा कौन पैदा कर सकता है ऐसी कल्पना होने पर इन ऋचाओं का उच्चारण उनके मुंह से हुआ हो तो इसमें कौनसी असंगति है ? वास्तव में तो विषुवत् प्रदेश से २३॥ अंश दक्षिण में और २३॥ अंश उत्तर में सूर्य का उदय अस्त होता ही रहता है, किन्तु अन्य प्रदेश से सूर्य वाले प्रदेश में आने वाले

प्राणियों को आश्चर्य अथवा प्रसन्नता हो तो इसमें कोई विशेष बात नहीं है। अस्तु,

अब हम पुरुष सूक्त का जो कि प्रायः सभी वेदों में उपलब्ध होता है, निरीक्षण करें:—

सहस्रशीर्षा पुरुषः सहस्राक्षः सहस्रपात् ।
स भूमिं विश्वतो वृत्वा त्यतिष्ठद्दशाङ्गुलम् ॥

(ऋग्० १० । ९० । १.

अर्थ—सर्व प्राणी समष्टि रूप ब्रह्मांड है देह जिसका, ऐसा विराट् नाम का पुरुष है। उसके हजार=अनन्त मस्तक हैं, अनन्त आँखें हैं, अनन्त पाँव हैं। वह पुरुष भूमि=ब्रह्मांड को चारों तरफ से व्याप्त कर केवल दस अंगुल बाहर निकलता हुआ रहता है, अर्थात् ब्रह्मांड व्यापी है।

पुरुष एवेदं सर्वं यद्भूतं यच्च भव्यम् ।
उतामृतत्वस्येशानो यदन्नेनातिरोहति ॥

(ऋग्० । १० । ९० । २)

अर्थ—वर्तमान काल में जो जगत दिखाई देता है, भूतकाल में जो था, और भविष्य में जो होगा, वह सब पुरुष रूप ही है, वह पुरुष अमृतत्व=देवता का स्वामी है, वह प्राणियों के भोग्य कर्म का भोग करवाने के लिए ही जगदवस्था में प्रकट होता है।

एतावानस्य महिमा-तो ज्यायाँश्च पूरुषः ।
पादोऽस्य विश्वा भूतानि त्रिपादस्यामृतं दिवि ॥

(ऋग्० । १० । ९० । ३.)

अर्थ—यह जगत तो इसकी महिमा है। पुरुष तो इस महिमा से कहीं अधिक है। यह अखिल ब्रह्मांड तो उसका

चतुर्थांश है। तीन हिस्से तो स्वप्रकाश स्वरूप में ही अमृतत्व रूप से रहते हैं।

त्रिपादूर्ध्व उदैत्पुरुषः पादोस्येहाभवत्पुनः।
ततो विष्वङ् व्यक्रामत् साशनानशने अभि॥
(ऋग् १०।९०।४)

अर्थ—जो तीन भाग संसारस्पर्श से रहित हैं वे सदैव शुद्धपुरुषरूप से निर्लेप ही रहते हैं। शेष एक पाद माया से लिप्त होकर जगत् रूप बनता है। माया के योग से वह एक पाद, नरतिर्यंच आदि विविध रूप से अर्थात् साशन=भोजन व्यवहार सहित चेतन और अनशन=भोजन व्यवहार रहित जड़ से व्याप्त हो जाता है।

तस्माद्विराळजायत विराजोऽधिपूरुषः।
स जातोऽत्यरिच्यत पश्चाद्भूमिमथो पुरः॥
(ऋग्० १०।९०।५)

अर्थ—उस आदि पुरुष से विराट्=ब्रह्मांड देह उत्पन्न हुआ, वह आदि पुरुष उस देह में प्रवेश कर ब्रह्मांडाभिमानी देवता रूप जीव बना, उसका नाम है विराट् पुरुष या अधि पुरुष, इसके बाद विराट् पुरुष देवता, तिर्यंच, मनुष्यादि प्राणी रूप बना, अर्थात् विराट् से भिन्न हुआ, फिर उसने भूमि का सर्जन किया, और पुर अर्थात् शरीरों को सात धातुओं से पूरित किया अर्थात् जीवों के शरीरों की सृष्टि की।

यत्पुरुषेण हविषा देवा यज्ञमतन्वत।
वसन्तोऽस्यासीदाज्यं ग्रीष्म इध्मः शरद्धविः॥
(ऋग्० १०।९०।६)

अर्थ—उत्तर सृष्टि की सिद्धि के लिये वाह्य द्रव्य न होने से देवों ने यज्ञ प्रारंभ किया। उस यज्ञ में देवताओं ने विराट् पुरुष को हवि बनाया। वह यज्ञ मानसिक था इसलिए पुरुष आग में होमने के बजाय सङ्कल्प मात्र से ही पशु मान कर यज्ञस्तंभ में बांधा गया और हविरूप से मन में कल्पना कर लिया गया। इस यज्ञ में वसंतऋतु घृत था, ग्रीष्म ऋतु इंधन और शरद् ऋतु हविरूप में मानी गई थी।

तं यज्ञं वर्हिषि प्रौक्षन् पुरुषं जातमग्रतः।
तेन देवा अयजन्त साध्या ऋषयश्च ये॥

(ऋग्० १०। ६०। ७)

अर्थ—सब से प्रथम उत्पन्न हुए विराट् पुरुष को ही यज्ञ पुरुष कहा जाता है। उस यज्ञ पुरुष को वर्हिष् अर्थात् मानस यज्ञ में देवताओं ने होम दिया। सृष्टि साधने योग्य प्रजापति आदि देवों ने तथा तदनुकूल ऋषियों ने उस पशुकर के माने हुए यज्ञ पुरुष से मानस यज्ञ की रचना की।

तस्माद्यज्ञात्सर्वहुतः संभृतं पृषदाज्यम्।
पशून्तांश्चक्रे वायव्यानारण्यान् ग्राम्याश्च ये॥

(ऋग्० १०। ६०। ८)

अर्थ—सर्वात्मक पुरुष जिस यज्ञ में होमा जाता है, उस यज्ञ का नाम "सर्वहुत्" है, उस सर्वहुत्=पुरुषमेधयज्ञ में से देवों ने दधि युक्त घृत आदि भोग्य पदार्थ, वायव्य, आरण्यक, (जंगली) और ग्राम्य पशु बनाये।

तस्माद्यज्ञात्सर्वहुत ऋचः सामानि जज्ञिरे।
छन्दांसि जज्ञिरे तस्माद्यजुस्तस्मादजायत।

(ऋग्० १०। ६०। ६)

अर्थ—उस सर्वहुत यज्ञ में से ऋग्वेद, यजुर्वेद और साम-वेद तथा छन्द गायन उत्पन्न हुये।

तस्मादश्वा अजायन्त ये के चोभयादतः।
गावो ह जज्ञिरे तस्मात्तस्माज्जाता अजावयः॥
(ऋग्० १०।९०।१०)

अर्थ—उस यज्ञ में से घोड़े, ऊपर नीचे दाँत वाले खच्चर गद्हे आदि, गायें, बकरियें, भेड़ें आदि उत्पन्न हुईं।

यत्पुरुषं व्यदधुः कतिधा व्यकल्पयन्।
मुखं किमस्य कौ बाहू का ऊरू पादा उच्येते॥
(ऋग्० १०।९०।११)

अर्थ—प्रजापति के प्राण रूप देवताओं ने जिस विराट् पुरुष को बनाया, उसकी कल्पना कितने प्रकार से की गई? उस पुरुष का मुख क्या था? दोनों भुजाएं क्या थीं? दो जंघाएं और दो पाँव क्या थे?

ब्राह्मणोस्य मुखमासीद्बाहू राजन्यः कृतः।
ऊरू तदस्य यद्वैश्यः पद्भ्यां शूद्रोऽजायत॥
(ऋग्० १०।९०।१२)

अर्थ—ब्राह्मण उस पुरुष के मुख में से पैदा हुए, क्षत्रिय भुजा में से, वैश्य ऊरू में से, और शूद्र पाँव में से उत्पन्न हुये।

चन्द्रमा मनसो जातश्चक्षोः सूर्यो अजायत।
मुखादिन्द्रश्चाग्निश्च प्राणाद्वायुरजायत॥
(ऋग्० १०।९०।१३)

अर्थ—उस पुरुष के मन में से चन्द्र, आंख में से सूर्य, मुख में से इन्द्र और अग्नि तथा प्राण में से वायु उत्पन्न हुए।

नाभ्या आसीदन्तरिक्षं शीर्ष्णोद्यौः समवर्तत ।
पद्भ्यां भूमिर्दिशः श्रोत्रात्तथा लोकाँ अकल्पयन् ॥
(ऋग्० १० । ९० । १४)

अर्थ—उस पुरुष की नाभि में अन्तरिक्ष की, मस्तक में स्वर्ग की, पाँव में भूमि-लोक की तथा कान में दिशाओं की कल्पना की गई ।

सप्तास्यासन् परिधयस्त्रिःसप्त समिधः कृताः ।
देवा यद्यज्ञं तन्वाना अबध्नन् पुरुषम् पशुम् ॥
(ऋग्० १० । ९० । १५)

अर्थ—उस यज्ञ की गायत्री आदि सात छन्द रूपी सात परिधियां थीं, बारह मास, पांच ऋतुएं, तीन लोक और सूर्य ये इक्कीस समिध्—इंधन थे । प्रजापति के प्राण और इन्द्रिय रूप देवताओं ने मानस यज्ञ करते हुए विराट् पुरुष को पशुत्व की भावनाओं से हविरूप मान कर यज्ञ स्तंभ में बांधा।

यज्ञेन यज्ञमयजन्त देवास्तानि धर्माणि प्रथमान्यासन् ।
तेह नाकंमहिमानः सचन्त यत्र पूर्वे साध्याः सन्ति देवाः ॥
(ऋग्० १० । ९० । १६)

अर्थ—देवताओं ने मानस यज्ञ से पुरुष यज्ञ या प्रजापति यज्ञ किया; उस यज्ञ में जगन्निर्माण रूप मुख्य धर्म था। उस यज्ञ के उपासक विराट् प्राप्ति रूप स्वर्ग को प्राप्त करते हैं, जहाँ साध्य देवता = सृष्टि साधने के योग्य देवता रहते हैं, यह यज्ञ का दूसरा फल है ।

पुरुष सूक्त की समालोचना

पहली चार ऋचाएं पुरुष और जगत् का स्वरूप बताती हुई परस्पर व्याप्य व्यापकता दिखाती हैं। प्रथम ऋचा में पुरुष

के हजार मस्तक और हजार आँखें तथा पांव दिखाये हैं, यह घटना बराबर घटित नहीं होती है क्योंकि एक मस्तक के साथ दो आँखें और दो पाँव होने ही चाहिये। यदि एक मस्तक के साथ एक ही आँख और एक ही पाँव हो तो वह मनुष्य काना और लंगड़ा कहा जाता है। इस असंगति का परिहार करने के लिये भाष्यकार ने अच्छा खुलासा कर दिया है कि सहस्र शब्द उपलक्षण मात्र है। सायण ने सहस्र का अर्थ "अनंत" किया है, रामानुज ने "असंख्य" अर्थ किया है, और मंगलाचार्य तथा महीधर ने "बहुत्व" अर्थ किया है। अर्थात्— मस्तक, आँख और पाँव वाले जीव जगत् में असंख्य=अगणित =अनंत हैं। वे सभी अवयव आदि पुरुष के गिने जाते हैं, इसलिये वह पुरुष अनन्त मस्तक, अनन्त आँख और अनन्त हाथ पाँव वाला है। इस पुरुष का नाम, विराट् पुरुष कहा जाता है, क्योंकि विराट् ब्रह्मांड उसका शरीर है, और उस शरीर का अभिमानी, उस शरीर में प्रवेश करने वाला विराट् पुरुष है। ब्रह्मांड और विराट् पुरुष परस्पर व्याप्य व्यापक हैं। दूसरा आदि पुरुष या मुख्य पुरुष जगद् व्यापक तो है पर जगत् से बाहर भी रहता है। प्रथम ऋचा बताती है कि वह जगत् से दस अंगुल बाहर रहता है, अर्थात् विराट् पुरुष या ब्रह्मांड से आदि पुरुष—परमात्मा दस अंगुल चारों तरफ बाहर रहते हैं और तीसरी ऋचा में कहा है कि आदि पुरुष का एक पाद ब्रह्मांड व्यापी है, और शेष तीन पाद ब्रह्मांड से बाहर अलिप्त रहते हैं। यह अभिप्राय सायण और महीधर का है। इस हिसाब से पहली और तीसरी ऋचा में परस्पर विरोध दिखाई देता है। मंगलाचार्य और रामानुज उक्त विरोध को इस प्रकार दूर करते हैं कि—"दिवि" शब्द का अर्थ उर्ध्वलोक, अथवा जनलोक, और सत्यलोक

समझना चाहिए। इसका मतलब यह हुआ कि तीन चरण तो ऊर्ध्वलोक में प्रकाश करते हैं और एक चरण अधोलोक में प्रकाश करता है। इसीलिये भूलोक से स्वर्गलोक में अधिक सुख और अधिक प्रकाश है। इस हिसाब से पहली और तीसरी ऋचा का पारस्परिक विरोध तो दूर हो जाता है, किन्तु भाष्य-कारों का मतभेद तो बना ही रहता है, क्योंकि सायण और महीधर के मत से आदि पुरुष ब्रह्मांड से तीन गुणा बड़ा है। तब मंगलाचार्य और रामानुज के मत से ब्रह्मांड व्यापी—ब्रह्मांड परिमित आदि पुरुष है, अर्थात् आदि पुरुष और विराट् पुरुष लगभग बराबर हैं। यह एक मतभेद हुआ।

(२) प्रथम ऋचा में भूमि शब्द आता है। उसका प्रसिद्ध अर्थ तो पृथ्वी होता है, किन्तु भाष्यकारों ने इस अर्थ को छोड़ कर नये ही अर्थ किये हैं। सायण ने भूमि शब्द का अर्थ ब्रह्मांड का गोला किया है। महीधर ने भूमि शब्द को भूतोपलक्षक मान कर उसका अर्थ पृथ्वी, जल, आदि पांच भूत किया है। मंगला-चार्य ने भूशब्दोपलक्षित भूर्भुवः स्वः यह त्रैलोक्य अर्थ किया है। रामानुज ने सशब्द को भूमि के साथ जोड़ कर समस्त भूमि शब्द का अर्थ किया है। प्रकृति सहित अर्थात् भूमि याने प्रकृति, उस सहित जीव, काल और स्वभावरूप समुदाय, इतना अर्थ सभूमि शब्द का किया है। इस प्रकार भिन्न-भिन्न अर्थ करते हुए भी ब्रह्मांड व्यापित्व रूप तात्पर्य में चारों एक मत हो जाते हैं। किन्तु पांचवीं ऋचा में जो भूमि शब्द आता है उसके अर्थ में सभी क्यों मत भेद रखते हैं? महीधर और सायण तो भूमि अर्थात् पृथ्वी अर्थ करते हैं। मंगलाचार्य अतल, वितल आदि सात भुवन या पाताल लोक पचास करोड़ योजन विस्तार

वाला अर्थ करते हैं। तब रामानुजाचार्य भूम्यन्त समुदाय ऐसा अर्थ करते हैं, इनका समन्वय कहाँ होगा? एक ही सूक्त में एक ही शब्द का एक स्थान पर एक अर्थ और दूसरे स्थान पर दूसरा अर्थ करना यह कल्पना नहीं तो क्या है?

(३) इसी प्रकार चौथी ऋचा में आये हुए साशन और अनशन शब्द के सम्बन्ध में भी मत भिन्नता है। सायण तो साशन अर्थात् भोजन व्यवहार सहित चेतन जगत् और अनशन अर्थात् भोजन व्यवहार रहित जड़ जगत् अर्थ करते हैं। तात्पर्य यह है कि परमात्मा का चतुर्थांश जड़ चेतन व्याप्त होता है, और तीन हिस्से चेतन ही चेतन रहते हैं। यह सायण का अर्थ हुआ। महीधर का भी यही अभिप्राय है। मंगलाचार्य ने साशन शब्द का अर्थ अधोलोक और अनशन शब्द का अर्थ उर्ध्व लोक किया है, क्योंकि अशन अर्थात् कर्म फल कर्तृत्व भोक्तृत्वादि व्यवहार उससे युक्त वह साशन और ऐसे व्यवहार से रहित वह अनशन। अधोलोक में ऐसा व्यवहार है इसलिए वह साशन और उर्ध्वलोक में ऐसा व्यवहार नहीं है अतः वह अनशन है। रामानुजाचार्य ने अशना का अर्थ वासना किया है। साशना अर्थात् वासना सहित अधो लोक और अनशना अर्थात् वासना रहित उर्ध्वलोक। इस हिसाब से सायण और महीधर का एक मत और मंगलाचार्य तथा रामानुजाचार्य का दूसरा मत होता है। इस अर्थ भेद से आदि पुरुष की महत्ता में भी बड़ा अन्तर हो जाता है। वह इस प्रकार है कि सायण और महीधर के मतानुसार आदि पुरुष के तीन हिस्से संसार स्पर्श से रहित और एक हिस्सा—चतुर्थ भाग संसारस्पर्शी—जगद्विकार सहित है। और मंगलाचार्य और

रामानुजाचार्य के मतानुसार परमात्मा के तीन हिस्से उर्ध्व लोक में और एक हिस्सा अधोलोक में प्रकाशमान होता है, इस प्रकार चारों हिस्से ब्रह्मांड में ही आजाते हैं। फर्क मात्र इतना ही कि—उर्ध्व लोक में तीन हिस्से होने से अधिक प्रकाश होता है, तब अधोलोक में एक हिस्सा होने से थोड़ा प्रकाश रहता है।

पांचवीं ऋचा में सृष्टि का क्रम संक्षेप से बताया गया है सब से प्रथम विराट् की उत्पत्ति होती है। विराट् के दो अर्थ होते हैं—जगत् और ईश्वर स्थानीय विराट् पुरुष। जिसकी यहाँ प्रथम उत्पत्ति बताई है, वह विराट् पुरुष नहीं किन्तु ब्रह्मांड जगत् है। ब्रह्मांड तैयार हो जाने के बाद उसमें प्रवेश करने वाला और ब्रह्मांड को अपना देह बनाकर उस देह का अभिमान रखने वाला विराट् पुरुष (हजार मस्तक आदि अवयवों वाला ईश्वर) उत्पन्न होता है। तत्पश्चात् वह विराट् पुरुष देव, तिर्यंच, मनुष्य आदि जीवरूप धारण करता है। वह जीवों को अपने से अलग करता है। बाद में भूमि पृथ्वी बनाता है। उसके बाद ऊपर बताये हुए जीवों के शरीर बनाता है। बस इस एक श्लोक में विराट की सृष्टि का क्रम पूरा होजाता है। इसी बात को यदि स्पष्टता से कहें तो इस प्रकार कह सकते हैं—

१ वह पुरुष—आदि पुरुष,
२ विराट् ब्रह्मांड—जगत्,
३ विराट् पुरुष,
४ देवादि जीव,
५ पृथ्वी,
६ जीवों के शरीर।

यह क्रम सायण और महीधर के मतानुसार है। मंगलाचार्य विराट् पुरुष को विराट् जगत् से उत्पन्न होना बताते हैं, आदि पुरुष से नहीं। और देवादि जीवों की भिन्न सृष्टि भी नहीं बताते हैं। इसके सिवाय छट्ठे नम्बर में जीवों के शरीर की जगह जरायुजादि चतुर्विध भूत योनि उत्पन्न होना कहते हैं। देवादि जीवों की उत्पत्ति के बदले उर्ध्वलोक में पुरुष प्रकाश करता है—ऐसा कहते हैं।

मंगल भाष्य का स्पष्ट सृष्टि क्रम इस प्रकार है:—

१ वह पुरुष—आदि पुरुष,
२ विराट् ब्रह्मांड शरीर,
३ वैराज पुरुष,
४ वैराज पुरुष का उर्ध्वलोक प्रकाशन,
५ भूमि-पृथ्वी,
६ जरायुजादि भूत योनि।

रामानुज के भाष्यानुसार सृष्टि क्रम—

१ वह पुरुष—अन्तर्यामि आदि पुरुष,
२ कार्य कारण रूप प्रकृत्यधिष्ठाता विराट् पुरुष,
३ महत्तत्वादि कार्याधिष्ठाता अधि पुरुष,
४ महत्तत्व अहंकारादि रूप कार्य परिणत-स्वतंत्र अतिरिक्त,
५ भूम्यन्त समुदाय = पंच भूत समुदाय सर्जन,
६ देह आदि।

उक्त प्रकार से चारों भाष्यकारों के भिन्न-भिन्न अभिप्राय हैं। स्वामी दयानन्दजी का अभिप्राय तो इनसे भी अलग है। इन्होंने तो बहुत से स्थानों पर अर्थ में परिवर्त्तन किया है जिसकी समा-

लोचना करनेसे विस्तार बढ जायगा जिससे यहाँ उसका उल्लेख नहीं किया है, आगे अवसर मिला तो इसको दिग्दर्शन कराया जायगा।

इसमें आदि पुरुष वाचक तत् शब्द रक्खा हुआ है। वह पूर्व परामर्शक है। पूर्व में तो पुरुष शब्द आया है। पुरुष शब्द खास करके सांख्य और योग दर्शन को अभिमत-इष्ट वाचक है, उसे ब्रह्मवाद में क्यों अपना लिया गया? भाष्यकार प्रायः ब्रह्मवादी हैं, इसीलिये उन्होंने उसे वेदान्त शास्त्र प्रसिद्ध परमात्मा बना दिया है। कुछ भी हो, इस चर्चा में उतरने की अधिक आवश्यकता नहीं हैं। परन्तु ब्रह्मवादियों को इतना तो बताना चाहिये कि निर्गुण, निर्विकारी, परब्रह्म रूप, आदि पुरुष में से ब्रह्मांड-जड़ जगत् किस प्रकार उत्पन्न हुआ? निरवयव में से सावयव किस प्रकार बना? निराकार में से साकार किस प्रकार पैदा हुआ? निर्गुण में से सगुण किस प्रकार बना? जब कि भूमि और भूत योनि पीछे से बने हैं, तब ब्रह्मांड किस वस्तु का बना हुआ था? क्या ब्रह्मांड का ढाँचा या नक्शा पहिले बनाया गया था और उसकी रचना भूमि बनाने के बाद की गई है? क्या, ऊर्ध्वलोक प्रथम बनाकर पीछे भूलोक बनाया गया? ऊर्ध्वलोक में परमात्मा का तीन गुणा प्रकाश और भूमि लोक में चतुर्थांश प्रकाश, इस न्यूनाधिकता का क्या कारण है? परमात्मा के तीन हिस्से निर्लिप्त रहते हैं और एक हिस्से में सृष्टि प्रलय रूप जगद्विकार होता है इसका क्या कारण? निरवयव एक वस्तु के हिस्से कैसे हुए? आदि पुरुष में से विराट् पुरुष छोटा और विराट पुरुषसे जीव छोटे हुए, तो इस प्रकार बड़े में से छोटा होने में महिमा बढ़ी या घटी? जीव में से शिव होना

यह तो महिमा बढ़ने का लक्षण है, किन्तु शिव में से जीव का होना यह तो प्रत्यक्ष महिमा घटने का लक्षण है, इस प्रकार परमात्मा की महिमा घटाना क्या उचित है? महिमा घटाने वाली लीला वासना वाले पुरुषों को हो सकती है, वासना रहित परमात्मा को लीला कैसी? आनन्दघनजी ने ठीक ही कहा है कि—

"दोषरहित ने लीला नवि घटेरे, लीला दोष विलास"

एक तरफ तो यह कहना कि—"पुरुष एवेदम्" यह जगत् पुरुष रूप ही है और दूसरी तरफ़ यह कहना कि "सजातोऽत्यरिच्यत" विराट् पुरुष देव तिर्यञ्च मनुष्यादि जीव रूप से अलग हुआ, क्या इन दोनों बातों में परस्पर विरोध नहीं है। पहले जीव बनाये, फिर भूमि बनाई, और उसके बाद जीवों के शरीर बनाये, तो बताइये कि—जब तक शरीर न बने थे तब तक जीवों को कहाँ रक्खा गया? शरीर बनने के पूर्व ही परमात्मा के लिये "सहस्र शीर्षा" इत्यादि विशेषण लगाना कहाँ तक घटित हो सकते हैं? ऐसे अनेक प्रश्न, अनेक मत भेद पांच ऋचाओं की समालोचना में उपस्थित होते हैं, इसलिये यह प्रक्रिया खास विचारने के योग्य है। अब जरा पीछे की ऋचाओं पर विचार करें।

छट्ठी से दसवीं तक की पाँच ऋचाएँ देव सृष्टि का प्रतिपादन करती हैं। विराट् का अधिकार देवताओं को मिलता है। विराट् रिटायर हो जाते हैं और देवता उनका कार्य-भार उठा लेते हैं। सायण और महीधर कहते हैं कि उत्तर सृष्टि के लिये द्रव्यान्तर की ज़रूरत होने से देवताओं को यज्ञ आरम्भ करना पड़ता है, यज्ञ में हवि दी जाती है, और हवि के लिये किसी उत्तम वस्तु की आवश्यकता रहती है। दूसरी उत्तम वस्तु के नहीं मिलने से

पुरुष का हवि रूप में उपयोग करने का देवता संकल्प करते हैं। भाष्यकार के कथनानुसार यह यज्ञ मानस-यज्ञ है अर्थात् मनकी कल्पना से यज्ञारंभ होता है। इस पुरुषमेध यज्ञ में देवता वलि देने के लिये विराट् पुरुष को यज्ञस्तम्भ में वांधते हैं। अर्थात्-बाँधने का संकल्प करते हैं। फिर वसन्त ऋतु की घृत रूप से, ग्रीष्म ऋतु का इंधन रूप से और शरद ऋतु की हवि रूप से कल्पना करते हैं। गायत्री आदि सात छन्दों को परिधि-वेदिका, और बारह मास, पाँच ऋतुएँ, तीन लोक, और सूर्य इन इक्कीस वस्तुओं को समिध् रूप से मान लेते हैं। साध्य देवता और ऋषि मिल कर यह यज्ञ करते हैं। इस सर्वहुत यज्ञ में से देवता, जंगल और ग्राम के पशु तथा ऋग्, यजु और साम यह तीनों वेद और यज्ञ के पशु घोड़े, गायें, बकरी, भेड़ आदि उत्पन्न करते हैं। सृष्टि का तीसरा टुकड़ा यह देव सृष्टि हुई।

यहाँ अनेक प्रश्न उपस्थित होते हैं, जैसे कि-विराट् पुरुष को रिटायर क्यों होना पड़ा? थक जाने से, या शक्ति हीन हो जाने से? किसी कार्य को वीच में छोड़ देने की अपेक्षा उसे आरम्भ ही न करना क्या अधिक उचित नहीं है?

अनारंभो मनुष्याणां, प्रथमं बुद्धिलक्षणम्।
आरब्धस्यान्तगमनं, द्वितीयं बुद्धिलक्षणम्॥

ठीक है, पिता का कार्य पुत्र करे इसमें कोई नई बात नहीं है। विराट् पुरुष ने उत्तर सृष्टि का कार्य देवताओं को सौंपा तो साथ ही उतनी शक्ति भी क्यों नहीं दी? यज्ञ करके उन्हें बाद में क्यों शक्ति उपार्जन करनी पड़ी? और मजे की बात तो यह है कि देवताओं को वलि देने योग्य कोई वस्तु ही नहीं मिली जिससे उन्हें अपने पूज्य पिता परमात्मा को ही वलि बनाना पड़ा?

स्तम्भ और रस्सी नहीं होने से बाह्य बन्धन से वे उन्हें नहीं बांध सके, किन्तु बांधने का संकल्प तो किया ? मन से भी यदि किसी को गाली दी जाय,शाप दिया जाय या द्वेष किया जाय तो क्या सामने वाले को बुरा नहीं लगेगा ? क्या संकल्पी हिंसा से पाप नहीं लगता ? इसके सिवाय इस कल्पनामय यज्ञ में से घृत, पशु, घोड़ा, गाय, बकरी, भेड़ आदि का उत्पन्न होना बताया गया है तो क्या यह उत्पत्ति भी काल्पनिक ही हुई या सच्ची हुई जो घृत दूध दे सके और सवारी के काम में आसके ? काल्पनिक यज्ञ में से काल्पनिक वस्तु की उत्पत्ति होना बड़ी बात नहीं है किन्तु सच्ची वस्तुओं के उत्पन्न होने की बात तो आश्चर्यकारी ही कही जायगी। यदि उनकी संकल्प शक्ति ऐसी थी कि वे जो चाहें सो उत्पन्न कर सकते थे तो ऐसी हालत में उन्हें संकल्प मात्र से ही उत्तर सृष्टि उत्पन्न करनी थी अथवा यज्ञ के लिए नूतन द्रव्य निर्माण कर लेने थे, जिससे पिता को ही होम देने वाले कलंक युक्त नरमेध की आवश्यकता तो नहीं पड़ती ? ऐसे वर्णनों से ही नरमेध, अजामेध, अश्वमेध आदि हिंसा प्रधान यज्ञों को उत्तेजन मिलने से पापमय प्रवृत्ति की परम्परा चालू हुई है, यह कहना क्या असंगत है ?

बारहवीं ऋचा में प्रजापति के अधिकार देवों को सौंपे जाते हैं अर्थात् प्रजापति के मुख में से मुख रूप ब्राह्मण, भुजा में से भुजा रूप क्षत्रिय, उरु में से उरु रूप वैश्य, और पाँव में से पाँव रूप शूद्र उत्पन्न होना बताया है। किन्तु यह नहीं बताया कि इस प्रकार अधिकारों को बदलने का क्या कारण है। यह भी नहीं बताया कि प्रत्येक वर्ण के स्त्री और पुरुष दोनों उत्पन्न हुये या एक ही, और वह एक ही स्त्री थी या पुरुष ? यदि दोनों

हुये हों तो एक स्थान से उत्पन्न होने के कारण क्या वे भाई बहन नहीं माने जायँगे ? वास्तव में इस प्रकार की उत्पत्ति प्रकृति से विरुद्ध ही है। प्रजापति को सृष्टि नियम के विरुद्ध इस प्रकार करने का क्या कारण था ? शूद्रों ने प्रजापति का कौनसा अपराध किया कि जिससे वे नीच बनाये गये ? और ब्राह्मणों ने क्या उपकार किया, जिससे वे उच्च बनाये गये ? जीव जब उत्पन्न हुये तब तो परमात्मा के अंश रूप से होने से सभी समान ही उत्पन्न हुये होंगे ! अंशी के गुण ही अंश में आते हैं, फिर उच्चता और नीचता बीच में कहाँ से आ खड़ी हुई ? जीव और शरीर तो विराट् के बनाये हुए हैं, उनमें भेद भाव उत्पन्न करने का प्रजापति को क्या अधिकार था ? क्या इस प्रकार करने से विराट् पुरुप का अपमान नहीं होता है ? मनुष्य के जीव और शरीर एक बार विराट् से बन चुके फिर उन्हीं को प्रजापति के मुंह और पैर से उत्पन्न करने का क्या कारण था ? यहां तो सृष्टि के आरम्भ काल की बात चल रही है, यहाँ पुनर्जन्म का प्रसंग कहां से आगया ? वस्तुतः परमात्मा ने समान दृष्टि और न्याय दृष्टि पूर्वक जिस मनुष्य वर्ग को एक रूप बनाया है उसी को प्रजापति उच्च नीच बना कर किसी वर्ग का अपमान करे यह विराट् पुरुप की समान दृष्टि के सामने प्रजापति का बलत्रा नहीं तो क्या है ?

तेरहवीं और चौदहवीं ऋचा में प्रजापति के मन में से चन्द्रमा, आंख में से सूर्य, मुंह में से इन्द्र और अग्नि, प्राण में से आकाश, मस्तक में से द्युलोक—स्वर्ग, पांव में से भूमि और कान में से दिशाएं उत्पन्न होना बताया है।

सूर्य की उत्पत्ति के दो तीन प्रकार तो पहले बता चुके हैं। अदिति का आठवां पुत्र सूर्य, देवताओं का तीव्र रेणुकण सूर्य और मृत अण्ड में से उत्पन्न होने वाला सूर्य, यह तीन प्रकार

और चौथा प्रजापति की आँख में से उत्पन्न होने वाला सूर्य। क्या ये चारों सूर्य एक ही हैं या भिन्न-भिन्न? क्या सूर्य पहले छोटा था, और क्रम से बढ़ते बढ़ते इतना बड़ा हुआ? या प्रारम्भ से ही ऐसा बड़ा था? बढ़ता हुआ तो दिखाई नहीं देता है यदि पहले से ही इतना बड़ा था, तो वह आंख में से किस प्रकार उत्पन्न हुआ? क्या प्रजापति की आंख सूर्य से भी बड़ी थी आंखें तो बाईं और दाहिनी ऐसी दो होती हैं। इनमें से कौनसी आंख में से सूर्य उत्पन्न हुआ? यदि एक आंख में से सूर्य की उत्पत्ति बताते हो तो दूसरी आँख में से चन्द्र की उत्पत्ति क्यों नहीं बताते? चन्द्र का उत्पत्ति स्थान मन है, ऐसा बताने की क्या आवश्यकता है? अदिति के आठ पुत्रों में इन्द्र भी एक है, फिर उसी इन्द्र का प्रजापति के मुख में से उत्पन्न होना क्या परस्पर विरोधी नहीं है। नाभि में से अन्तरिक्ष की उत्पत्ति बताई तो क्या अन्तरिक्ष से नाभि बड़ी थी? मस्तक में से स्वर्गलोक बनने का कहा तो क्या स्वर्गलोकसे भी मस्तक बड़ा था? पाँव में से भूमि उत्पन्न हुई तो पाँव कितने बड़े होंगे? कान में से दिशाएं उत्पन्न हुईं तो कान कितने बड़े होंगे? कान तो दो होते हैं, और यहाँ "श्रोतयत्" यह एक वचन है, तब बताइये कि किस एक कान से दिशाएं उत्पन्न हुईं। "अजात" के बदले "अकल्पयन्" क्रिया पद है। उत्पत्ति के बजाय यह सब कल्पना तो नहीं है? ब्रह्मवादी के मत से जगत् मात्र कल्पित है—वस्तुतः कुछ भी नहीं है। तब "अजायत अजायत" ऐसा कहने का क्या प्रयोजन है?

पन्द्रहवीं ऋचा में २१ समिध् बताई गई हैं, जिन में ऋतुएं पांच ही गिनाई हैं किन्तु बारह मास की छः ऋतुएं होती हैं। फिर यहाँ पाँच ही क्यों बताई गईं।

सोलहवीं ऋचा में यज्ञ के दो फल बताये हैं एक सृष्टि रचना रूप मुख्य फल और दूसरा स्वर्ग में प्रजापति पद की प्राप्ति। इससे फलित होता है कि—सृष्टि रचना का फल मुक्ति नहीं है, "जैसी करणी, वैसी भरणी और वैसी ही पार उतरणी" संसार रचना का फल संसार प्रवृत्ति ही हो सकता है, संसार से निवृत्ति रूप मुक्ति नहीं हो सकता।

उपसंहार

ऊपर बताए गये सात वादियों में से दो वादी इस सृष्टि क्रम में आ जाते हैं। वे (१) देवउत्त और (२) बंभउत्त हैं। विराट् और प्रजापति ये दो नये सृष्टिकर्त्ता 'पुरुष सूक्त' में मिलते हैं। मनुस्मृति के सृष्टि क्रम म स्वयंभू, अड और ब्रह्मा यह तीन सृष्टिकर्त्ता सात वादियों में से हैं। विराट्, मनु और प्रजापति यह तीन नये हैं। विराट् और प्रजापति 'पुरुष सूक्त' साधारण हैं, एक मनु नया है। सातों में से पांच मनुस्मृति और पुरुष सूक्त में आ जाते हैं। ईश्वर और प्रकृति ये दोनों इनसे बाहर रहते हैं। विराट्, मनु और प्रजापति, इन तीनों को सातों में मिलाने से दस सृष्टिकर्त्ता उपस्थित होते हैं।

मनुस्मृति और पुरुष सूक्त का सृष्टि क्रम बराबर नहीं मिलता है। देखिये—

मनुस्मृति-सृष्टिक्रम	पुरुष सूक्त-सृष्टिक्रम
१ स्वयंभू	१ आदि पुरुष—ब्रह्म
२ अंड	२ विराट्—ब्रह्मांड
३ ब्रह्मा	३ विराट्—पुरुष
४ विराट्	४ देव—यज्ञ द्वारा

५ सात मनु ५ प्रजापति
६ मरीचि आदि दस प्रजापति

पुरुष सूक्त का विराट्, आदि पुरुष और ब्रह्मांड का योग होने से उत्पन्न होता है जब कि मनुस्मृति का विराट् ब्रह्मा के शरीर के नर और नारी रूप दोनों विभागों के योग होने से मैथुनी सृष्टि से उत्पन्न होता है। ये दोनों विराट् एक हैं या भिन्न-भिन्न हैं? इतने बड़े भेद का क्या कारण है? क्या मनुस्मृति की सृष्टि वेदमूलक नहीं है? यदि वेद मूलक है तो पुरुष सूक्त के साथ समन्वय क्यों नहीं होता? पुरुष सूक्त के सृष्टि क्रम में तीनों वेदों का यज्ञ द्वारा देवों से उत्पन्न होना बताया है। किन्तु मनुस्मृति के सृष्टि क्रम में अग्नि, वायु और सूर्य में से ब्रह्म ने तीनों वेदों का दूध की तरह दोहन किया है ऐसा लिखा है, इसका क्या कारण है?

श्रुति-श्रुति में भेद

ऋग् वेद और मनुस्मृति में यदि भेद हो तो उसमें कालान्तर का भी दोष हो सकता है, पर श्रुति ;श्रुति में ही भेद हो उसका क्या किया जाय? पुरुष सूक्त में सृष्टि रचना में अनेक हिस्सेदार बनाकर अनेक वादियों का अपने में अन्तर्भाव करने की कोशिश की गई है, किन्तु १२१ वें नंबर के हिरण्यगर्भ सूक्त में तो प्रजापति के सिवाय अन्य सृष्टि कर्त्ताओं की अपेक्षा की गई है, देखिये—

हिरण्यगर्भः समवर्त्तताग्रे भूतस्य जातः पतिरेक आसीत्।
स दाधार पृथिवींद्यामुतेमां कस्मै देवाय हविषा विधेम।
(ऋग्० १०। १२१। १)

अर्थ—अग्रे = सृष्टि के पहले हिरण्यगर्भ = स्वर्ण के अंड में से उत्पन्न होने वाला प्रजापति विद्यमान था। वह हिरण्यगर्भ की अध्यक्षता में सृष्टि उत्पन्न करने वाले परमात्मा से उत्पन्न हुआ। उत्पन्न होते ही सारे जगत् का स्वामी बन गया? उसने स्वर्गलोक द्युलोक-अन्तरिक्ष और भूमि को धारण किया। उस प्रजापति की हम हवि द्वारा सेवा करते हैं।

येन द्यौरुग्रा पृथिवी च दृढा येन स्वः स्तभितं येन नाकः।
यो अन्तरिक्षे रजसो विमानः कस्मै ॥
(ऋग्० १० । १२१ । ५)

अर्थ—जिस प्रजापति ने अन्तरिक्ष, पृथ्वी, और स्वर्ग को स्थिर किया, तथा नाक = सूर्य को आकाश में रोक रक्खा और जो आकाश में पानी का निर्माण करता है, उस प्रजापति देव की हम हवि द्वारा सेवा करते हैं।

मानो हिंसीज्जनिता यः पृथिव्या, यो वा दिवं सत्यधर्मा जजान
यश्चापश्चन्द्रा बृहतीर्जजान कस्मै ॥
(ऋग्० १० । १२१ । ६)

अर्थ—जो प्रजापति पृथ्वी को उत्पन्न करने वाला है, जिस सत्यधर्म वाले प्रजापति ने स्वर्ग को उत्पन्न किया, जिसने आह्लादजनक बहुत पानी को पैदा किया, उस प्रजापति देव की हम हवि द्वारा सेवा करते हैं।

प्रजापते न त्वदेतान्यन्यो विश्वा जातानि परिता बभूव।
(ऋग्०१० । १२१ । १०)

अर्थ—हे प्रजापते! तेरे सिवाय अन्य कोई भी देव विश्व-व्यापी महाभूतादि सर्जन करने के लिए समर्थ नहीं है।

इन चार ऋचाओं में या दस ऋचा वाले सूक्त में अकेले प्रजापति को ही सृष्टि कर्ता बताया गया है। दसवीं ऋचा में तो भार पूर्वक कहा गया है कि—तेरे सिवाय अन्य कोई सर्व भूतों को सर्जने में समर्थ नहीं है।इससे हम पूंछते हैं कि—क्या इस सूक्त से पुरुप सूक्त और मनुस्मृति की वातां का खंडन नहीं हो जाता है? इस से प्रजापति के सिवाय वाकी के सभी उम्मेदवारों को अपनी अपनी सृष्टि का दावा नहीं उठा लेना पड़ता है? पहली ऋचा के अवतरण में सायण ने हिरण्यगर्भ को प्रजापति के पुत्र रूप से दिखाया है। क्या इस वात में परस्पर विरोध नहीं है?

ऋचादि सृष्टि

ऋतं च सत्यं चाभीद्धात्तपसोऽध्यजायत।
ततो राध्यजायत ततः समुद्रोऽर्णवः ॥
(ऋग्० १०।१६०।१)

अर्थ—ऋत=मानसिक सत्य, और सत्य=वाचिक सत्य तपे हुए तप से उत्पन्न हुए, उसके वाद रात्रि=अन्धकार उत्पन्न हुआ, उसके वाद पानी वाले समुद्र उत्पन्न हुये।

समुद्रादर्णवा दधि सम्वत्सरो अजायत।
अहोरात्राणि विदधद्विश्वस्य मिपतो वशी ॥
(ऋग्० १०।१६०।२)

अर्थ—समुद्र के वाद सम्वत्सर उत्पन्न हुआ (सम्वत्सर सर्वकाल का उपलक्षक है, अर्थात् सर्वकाल उत्पन्न हुआ) वह सूर्य अहोरात्रि को (उपलक्षण से सर्व भूतों को) उत्पन्न करता हुआ सर्व जगत् का स्वामी वना।

सूर्याचन्द्रमसौ धाता यथापूर्वमकल्पयत् ।
दिवं च पृथिवीं चान्तरिक्षमथो स्वः ॥
(ऋग्० १० । १९० । ३)

अर्थ—काल के ध्वज रूप सूर्य और चन्द्र, सुखरूप स्वर्ग, पृथ्वी और अन्तरिक्ष को धाता ने पूर्व की तरह बनाया।

यहाँ प्रजापति की जगह धाता को सृष्टि कर्ता बताया है। कदापित् प्रजापति और धाता को एक रूप मान लिया जाय तो भी सृष्टि क्रम तो नया ही है। मनुस्मृति और पुरुष सूक्तके प्रजापति की अपेक्षा इस धाता रूप प्रजापति की सृष्टि का क्रम कितना विलक्षण है? क्योंकि इसमें धाता को तपस्या करनी पड़ती है, तपस्या के योग से ऋत और सत्य उत्पन्न होते हैं! फिर विचित्र बात यह है कि सत्य से रात्रि—अन्धकार की उत्पत्ति होती है। सत्य से तो प्रकाश की उत्पत्ति होनी चाहिये थी, अन्धकार क्यों? (अहोरात्रि शब्द बाद में आता है, इसकेलिये रात्रि शब्द का अर्थ गीता रहस्य की प्रस्तावना में तिलकने अंधकार किया है। अंधकार से पानी वाले समुद्र किस प्रकार उत्पन्न हुए। समुद्र से काल किस प्रकार उत्पन्न हुआ। सायण भाष्य में कहा है कि काल में से अहो-रात्रि अर्थात् सर्वभूत उत्पन्न हुए। तब प्रश्न यह उठता है कि सर्वभूत उत्पन्न होने से पूर्व समुद्र में पानी किस प्रकार उत्पन्न हुआ? पानी भी तो पाँच भूतों में एक भूत है। सूर्य-चन्द्र बाद में उत्पन्न होते हैं और अहोरात्रि इनके पहले। क्या यह भी विरोध नहीं है। सूर्य चन्द्र के बिना रात्रि दिन कैसे हो सकते हैं। अन्तरिक्ष बाद में और सूर्य चन्द्र पहले यह भी क्या परस्पर विरोधी बात नहीं है। बिना अन्तरिक्ष के सूर्य चन्द्र कहां रहे होंगे। अब धाता का सृष्टि क्रम भी देखिये।

धाता का सृष्टि क्रम—

१ ऋत	६ अहोरात्रि—सर्वभूत	
२ सत्य	७ सूर्य चन्द्र	
३ रात्रि (अन्धकार)	८ स्वर्ग	त्रैलोक्य
४ समुद्र	९ पृथ्वी	त्रैलोक्य
५ सम्वत्सर—काल	१० अन्तरिक्ष	त्रैलोक्य

प्रजापति की सृष्टि का चौथा प्रकार

आपो वा इदमग्रे सलिल मासीत् । तेन प्रजापतिरश्रम्यत् । कथमिदं स्यादिति । सो पश्यत्पुष्करपर्णं तिष्ठत् । सोऽमन्यत् । अस्तिवैतत् । यस्मिन्निदमधितिष्ठतीति । स वराहो रूपं कृत्वोपन्यमज्जत् । स पृथिवी मध आच्छ्र्त् । तस्या उपहत्योदमज्जत । तत्पुष्करपर्णेऽप्रथयत् । यद्-प्रथयत् । तत्पृथिव्यै पृथिवित्वम् ।

(कृ० यजु० तै० ब्र० १ । १ । ३ । ७)

अर्थ –सृष्टि के पूर्व यह जगत् जलमय था । इसलिये प्रजा पति ने तप किया और विचार किया कि यह जगत किस प्रकार बने इतने में उसे एक कमल पत्र दिखाई दिया । उसको देखलेने पर उन्होंने तर्क किया कि इसके नीचे भी कुछ होना चाहिए । इसलिये प्रजापति ने वराह का रूप धारण कर के पानी में डुबकी लगाई, और भूमि के पास पहुँच कर दाढ़ से कुछ गीली मिट्टी खोदर ऊपर लाया, उस मिट्टी को कमल पत्र पर फैलाई, जिससे यह बड़ी पृथ्वी बन गई । बस यही पृथ्वी का पृथ्वी पन है । यह देख कर प्रजापति को संतोष होगया कि स्थावर जंगम की आधार भूत पृथ्वी तो बन गई अब अन्य भी सब ठीक हो जायगा ।

पहले कहा गया था कि—सृष्टि के पूर्व “नैवेह किंचनाग्र

आसीत्" कुछ भी नहीं था। और यहाँ कहा गया है कि पहले पानी था, और उसके नीचे गीली मिट्टी भी थी। इन दोनों बातों में परस्पर विरोध है। प्रजापति वराह का रूप धारण कर के पानी में से मिट्टी लाया, तो क्या बिना वराह बने पानी में से मिट्टी लाने की शक्ति उसमें नहीं थी? वराह का रूप बनाने का क्या कारण था? कमल पत्र पर मिट्टी फैलाई गई तो कमल पत्र कितना बड़ा रहा होगा? क्या कमल के पत्ते जितनी ही पृथ्वी बनी। जब पानी के नीचे मिट्टी थी, तो बिना पृथ्वी के मिट्टी कहाँ से आगई? या पानी के नीचे एक पृथ्वी थी और पानी पर दूसरी पृथ्वी बनाई गई? क्या पानी पर इतनी भारी और वजनदार पृथ्वी तैरती रही? कमल के पत्र पर पृथ्वी, पत्थर और पहाड़ किस तरह रह सकते हैं? क्या यह बात विज्ञान विरुद्ध नहीं है?

प्रजापति की चेतन सृष्टि

प्रजापतिरकामयतात्मन्वन्मे जायेतेति। सोऽजुहोत्। तस्यात्मन्वद जायत। अग्निर्वायुरादित्यः। तेऽब्रुवन् प्रजापतिरहौषीदात्मन्वन्मेजायेतेति। तस्य वयमजनिष्महि। जायतां न आत्मन्वदिति तेऽजुहवुः। प्राणानामग्नि। तनुवै वायु। चक्षुष आदित्य। तेषां हुतादजायत गौरेव इति। तस्यैव पयसि व्यायच्छन्त। मम हुतादजनि ममेति। ते प्रजापतिं प्रश्नमायन्"।

(कृ० यजु० तै० ब्रा० २। १। ६। १)

अर्थ—गिरि नगर आदि उत्पन्न करने के पश्चात् प्रजापति को चेतन सृष्टि बनाने की इच्छा उत्पन्न हुई। उसने होम किया, जिससे अग्नि, वायु और आदित्य रूप चेतन सृष्टि उत्पन्न हुई। इन तीनों के मन में यह विचार हुआ कि प्रजापति ने होम कर

के हम को उत्पन्न किया है तो हम भी होम कर के दूसरे चेतन प्राणियों को उत्पन्न करें। इन्होंने भी होम किया। अग्नि ने प्राण उत्पन्न करने का संकल्प किया ? वायु ने शरीर और सूर्य ने आंख उत्पन्न करने का संकल्प किया। तीनों के संकल्पपूर्वक होम से गाय उत्पन्न हुई। गाय के दूध के लिये तीनों में कलह उत्पन्न हो गया। एक दूसरे को कहने लगा कि मेरे होम से गाय उत्पन्न हुई है, इसलिये दूधका अधिकारी मैं ही हूँ। तीनों प्रजापति के पास जाकर पूछने लगे कि गाय का दूध किसे मिलना चाहिये। तब प्रजापति ने पूछा कि तुम्हारा संकल्प क्या-क्या था ? अग्नि ने कहा कि प्राण के लिए मैंने होम किया था, वायु ने कहा कि शरीर के लिये मेरा होम संकल्प था, और सूर्य ने कहा कि आँख के लिये मेरा होम था। प्रजापति ने समाधान करते हुए कहा कि शरीर और आँख की अपेक्षा प्राण प्रधान हैं, बिना प्राण के शरीर और आँख निष्फल हैं। इसलिये यह गाय प्राण के उद्देश्य से होम करने वाले की है। इस न्याय से अग्नि का गाय पर अधिकार प्रमाणित हुआ। वायु और सूर्य हताश होगये। आज भी दूध घृत, अग्नि में होमे जाते हैं।

सूर्य की उत्पत्ति के तीन चार प्रकार तो पहले बता चुके हैं। यह प्रकार इनसे भिन्न है। अदिति के आठ पुत्रों में एक पुत्र सूर्य है। और यहाँ भी प्रजापति के होम से सूर्य उत्पन्न हुआ है। क्या इन दोनों बातों में परस्पर विरोध नहीं है ? मात्र होम से ही देवताओं और गाय की उत्पत्ति किस प्रकार हो गई ? अग्नि वायु और सूर्य ये तीनों प्रजपति के पुत्र थे। क्या इन तीनों के लिये एक-एक गाय उत्पन्न कर देने की प्रजापति में शक्ति नहीं थी ? अथवा इन तीनों में एक-एक गाय उत्पन्न करने

की शक्ति नहीं थी ? अगर तीनों ही एक एक गाय उत्पन्न कर लेते तो ऐसे बड़े देवों को दूध के लिये क्लेश नहीं करना पड़ता। केवल प्राण शरीर और आंख से ही पूर्ण गाय नहीं हो जाती। कान आदि की भी जरूरत होती है। यदि कान आदि को शरीर के अन्दर अन्तर्गत मान लिया जाय तो क्या आंख शरीर के अंतर्गत नहीं है ? प्राण अलग मांगने की क्या आवश्यकता थी ? क्या गाय में ही प्राण का समावेश नहीं हो जाता। प्रजापति अग्नि, वायु और सूर्य जैसे बड़े बड़े देवों में एक गाय उत्पन्न करने की भी शक्ति नहीं थी तो उन्होंने सम्पूर्ण जगत् को किस प्रकार उत्पन्न किया होगा ?

प्रजापति की अशक्ति का दूसरा उदाहरण

प्रजापतिर्देवताः सृजमानः। अग्निमेव देवतानां प्रथममसृजत। सोऽन्य दालम्भ्य मवित्त्वा प्रजापतिमभि पर्यावर्तत। स मृत्योरबिभेत्। सोऽमुमादित्य मात्मनो निरमिमीत। तं हुत्वा पराङ् पर्यावर्तत। ततो वै स मृत्युमपाजयत्। (कृ० यजु० तै० ब्रा० २। १। ६)

अर्थ—प्रजापति ने देवताओं की सृष्टि बनाने के पूर्व अग्नि का सर्जन किया, अग्नि अन्य कोई आलंभनीय (होम्य पशु) न मिलने से प्रजापति की ओर बढ़ी। प्रजापति को मृत्यु का भय हुआ। उसने शीघ्र ही अपने में से सूर्य का निर्माण किया और सूर्य को आग में होम कर स्वयं पीछे हट गया। इससे वह मौत से बच गया।

क्या इससे प्रजापति की अल्पज्ञता और अल्प शक्ति का परिचय नहीं होता है ? यदि प्रजापति को यह ज्ञान होता कि जिस अग्नि को मैं उत्पन्न कर रहा हूँ वह मेरा ही भक्षण करेगी तो बिना अन्य आलभ्य के उत्पन्न किये, अग्नि को कैसे उत्पन्न

करता ? प्रजापति को मृत्यु का भय हुआ तो क्या वह सामान्य मनुष्य की तरह डरपोक था ? यदि अग्नि, देव है तो क्या उस में इतनी सज्जनता नहीं थी कि अपने पिता पर तो आक्रमण न करता। अग्नि को शान्त करने के लिये प्रजापति ने सूर्य को उत्पन्न किया और उसे अग्नि में होम दिया। क्या यह प्रजापति की क्रूरता नहीं है ? सामान्य मनुष्य भी अपने पुत्र को बचाने के लिये अपना भाग देने के लिए तय्यार हो जाता है। क्या प्रजापति में इतनी भी वत्सलता नहीं थी कि अपने पुत्र को तो आग में न होमते।

प्रजापति की सृष्टि का पांचवां प्रकार

इदं वा अग्रे नैव किञ्चनासीत्। न द्यौरासीत्। न पृथिवी। नान्तरिक्षम्। तदस देव सन् मनोऽकुरुत स्यामिति। तदतप्यत। तस्मात्तेपाना द्धूमोऽजायत। तद्भूयोऽतप्यत। तस्मात्तेपानादग्निरजायत। तद्भूयोऽतप्यत। तस्मात्ते पानाज्ज्योति रजायत। तद्भूयोऽतप्यत। तस्मात्तेपाना दर्चिरजायत। तद्भूयोऽतप्यत। तस्मात्तेपानान्मरीचयोऽजायन्त। तद्भूयोतप्यत। तस्मात्तेपाना दुदारा अजायन्त। तद्भूयोऽतप्यत। तद अभ्रमिव समहन्यत। तद्वस्तिमभिनत्। स समुद्रोऽभवत्। तस्मात्समुद्रस्य न पिबन्ति। प्रजननमिव हि मन्यन्ते। (कृ० यजु० तै० ब्रा० २। २ ६)

अर्थ—सृष्टि के पहिले यह जगत् कुछ भी नहीं था। न स्वर्ग न पृथ्वी, न अन्तरिक्ष। उस असत् को सत् रूप बनने की इच्छा हुई और उसने तप किया। तप करने वाले से धूम उत्पन्न हुआ। फिर तप किया, अग्नि उत्पन्न हुआ। पुनः तप किया उसमें से ज्योति उत्पन्न हुई। फिर तप किया, ज्वाला उत्पन्न हुई। पुनः तप करने से ज्वाला का प्रकाश फैला। पुनः तप किया, उस में से बड़ी ज्वाला उत्पन्न हुई। पुनः तप किया,

जिससेवह धूम ज्वालादिक सब बादल की तरह घन स्वरूप बना गया, वह परमात्मा का वस्तिस्थान (मूत्राशय) बना। उसका भेदन किया तो वह समुद्र बन गया। लोग समुद्र का पानी नहीं पीते हैं क्योंकि उसे जननेन्द्रिय के समान मानते हैं।

तद्वा इदमाप: सलिलमासीत्। सो रोदीत्प्रजापतिः। स कस्माज्ञि। यद्यस्या अप्रतिष्ठाया इति। यदप्स्ववापद्यत। सा पृथिव्यभवत्। यद्व्य मृष्ट तदन्तरिक्षमभवत्। यदूर्ध्वमुदमृष्ट साद्यौरभवत्। यद्रोदीत्तदन योरोदस्त्वम्। (कृ० यजु० तै० ब्रा० २। २। ६)

अर्थ—अथवा सृष्टि के पहले यह जगत् पानी रूप था। यह देख कर प्रजापति रुदन करने लगा। इस रुदन का कारण यह था कि केवल पानी ही पानी भरा है, इस में किस प्रकार जगत् पैदा करूँगा ? बैठने की या खड़े रहने की भी जगह नही है। इससे तो यही अच्छा होता कि मैं जन्म ही नहीं लेता। इस प्रकार इस दुःख से रोते-रोते प्रजापति की आंख में से आंसू निकल कर पानी पर गिर पड़े। आंसु गिर कर पानी पर जम गये। इसी से यह पृथ्वी बन गई। ऊँचे-नीचे स्थानों को साफ किया गया। उनका अन्तरिक्ष बन गया। दो हाथों को ऊँचा करके जिस स्थान का प्रजापति ने प्रमार्जन किया उसका स्वर्ग बन गया। प्रजापति के रोने से पृथ्वी और स्वर्ग बने हैं। इसी कारण द्यावा-पृथ्वी को "रौदसी" शब्द से विद्वान् लोग पुकारते हैं।

असुर सृष्टि

स इमां प्रतिष्ठां वित्वाऽकामयत-प्रजायेयेति। स तपोतप्यत। सोऽन्तर्वानभवत्। स जघनादसुरानसृजत। तेभ्यो मृन्मये पात्रेऽन्नमदुहत्। याऽस्य सातनूरासीत्। तामपाहत। सा तमिस्रा भवत्।

(कृ० यजु० तै० ब्रा० २। २। ६)

अर्थ—उस प्रजापति को बैठने की जगह मिल जाने से उसने प्रजा उत्पन्न करने की इच्छा की। तप किया, जिससे वह गर्भवान् हुआ। जघन भाग में से असुरों को उत्पन्न किया और उनके लिये मिट्टी के पात्र में अन्न डाला, जो उनका शरीर था वह छोड़ दिया और उसका अन्धकार बन गया, अर्थात् रात्रि हो गई।

मनुष्य सृष्टि

सोऽकामयत प्रजायेयेति । स तपोऽतप्यत। सोऽन्तर्वानभवत्। स प्रजननादेव प्रजा असृजत। तस्मादिमा भूयिष्ठाः। प्रजननाध्येन्त असृजत। ताभ्यो दारुमये पात्रे पयोऽदुहत्। याऽस्य सा तनूरासीत् तामपहत। सा ज्योत्स्नाऽभवत्।

(कृ० यजु० तै० ब्रा० २। २। ६)

अर्थ—उस प्रजापति ने प्रजा उत्पन्न करने की इच्छा की फिर तप किया वह गर्भवान् बना। जननेन्द्रिय से मनुष्यादि प्रजा उत्पन्न की। जननेन्द्रिय के कारण से प्रजा बहुत हुई, उसे काष्ठ पात्र में दूध दिया, जो उनका शरीर था उसे छोड़ा, वह ज्योत्स्ना-प्रकाश रूप बन गया।

ऋतु सृष्टि

सोऽकामयत प्रजाये येति। स तपोऽतप्यत। सोऽन्तर्वान भवत्। स उपपक्षाभ्यामेवर्तूनसृजत। तेभ्यो रजते पात्रे घृतमदुहत्। यास्य तनूरासीत् तामपाहत। साऽहोरात्रियोः सन्धिरभवत्।

(कृ० यजु० तै० ब्रा० २। २। ६)

अर्थ—प्रजापति ने प्रजा उत्पन्न करने की इच्छा की, तप किया, वह गर्भवान् हुआ, दोनों पार्श्वों (पासे) से ऋतु—काला-

भि मानी नक्षत्रादि सृष्टि उत्पन्न की, उन्हें चांदी के पात्र में घृत दिया, उन्होंने जो शरीर छोड़ा वह सन्ध्या रूप बना।

देव सृष्टि

सोऽकामयत प्रजायेयेति। स तपोऽतप्यत। सोन्तर्वानभवत्। स मुखाद्देवानसृजत। तेभ्यो हरिते पात्रे सोममदुहत्। याऽस्य सा तनूरासीत। तामपाहत। तदहरभवत्।

(कृ० यजु० तै० ब्रा० २। २। ६)

अर्थ—प्रजापति ने प्रजा उत्पन्न करने की इच्छा की, तप किया, और गर्भवान् बना, मुंह में से देवों को उत्पन्न किया, उन्हें हरित पात्र में सोम रस दिया, जो शरीर धारण किया था उसे छोड़ा, उसका दिन हो गया। देव उत्पन्न करने वाला शरीर दिन रूप हुआ यही देवों का देवपन है।

सृष्टि क्रम का कोष्टक

१ धूम	४ प्रकाश,—७ समुद्र
२ अग्नि	५ बड़ी ज्वाला,
३ ज्वाला	६ धूमादि का घन स्वरूप वास्ति रूप बादल,

अथवा

१ पानी २ पृथ्वी ३ अन्तरिक्ष ४ स्वर्ग ५ असुर और रात्रि, ६ मनुष्य और ज्योत्स्ना—प्रकाश ७ ऋतु नक्षत्रादि और सन्ध्या, ८ देवता और दिन।

समालोचना

जब कि पहले कुछ भी नहीं था, तो धुआं किस प्रकार और किस में से उत्पन्न हुआ? अग्नि से धूएं की उत्पत्ति तो न्याय

शास्त्र में प्रसिद्ध है, किन्तु धूएं से अग्नि उत्पन्न होती है यह आश्चर्य की बात है। समुद्र के पानी से भाफ़ उत्पन्न होकर उसके बादल होते हैं, और उनसे वृष्टि होती है, यह प्राकृतिक नियम तो इस समय भी प्रसिद्ध है। किन्तु धूम्र के बादल बन कर उनसे वृष्टि हो और समुद्र बन जाय यह प्रकृति के विरुद्ध बात है। एक ही प्रकरण में एक बार तो लिखा है कि परमात्मा के वस्ति स्थान में से—मूत्राशय में से पेशाब रूप पानी निकला और उसका समुद्र बन गया, जिससे वह पानी पीने योग्य नहीं रहा। और शीघ्र ही यद्वा कह कर कहना कि— नहीं, नहीं, इस प्रकार नहीं, पर पहले से ही पानी भरा हुआ था। इस प्रकार का कथन क्या लेखक की अनिश्चितता नहीं बताता है? जहां ग्रन्थकार को ही निश्चयात्मक ज्ञान नहीं है, वहां पढ़ने वालों को कहाँ से निश्चय हो सकता है। दूसरे क्रम में पानी के बाद पृथ्वी बताई गई है। इसमें प्रश्न यह होता है कि-बिना पृथ्वी के पानी रहा किस पर? असुरादि को उत्पन्न करने के लिये प्रजापति को गर्भधारण करना पड़ा था। प्रजापति का स्वरूप क्या पुरुष रूप था या स्त्रीरूप? जघन में से असुरों को उत्पन्न किया बताया गया है सो जघन शब्द तो स्त्री के अवयव का वाचक है, देखो अमरकोश में—

पश्चान्नितम्बः स्त्री कट्याः क्लीबे तु जघनं पुरः

(अम० २।६।७४)

यहाँ जघन शब्द से स्त्री के अवयव का ग्रहण किया गया है, और प्रजापति शब्द तो स्वयं पुरुष लिंग वाचक है। एक ही प्रजापति एक ही समय में पुरुष और स्त्री रूप कैसे हो सकता है? यदि वह पुरुष रूप ही था तो उसको गर्भ रहना क्या असंभव नहीं है? प्रजापति को परमात्मा रूप मान कर उसी से सृष्टि

उत्पन्न करवाने को उसे गर्भवान बनाना, क्या यह परमात्म पद की अवहेलना नहीं है ? असुर, मनुष्य और देवता एक ही गर्भ से पैदा हुए, फिर भी जन्म हरएक का भिन्न-भिन्न स्थान से होता है अर्थात् असुरों का जघन स्थान से, मनुष्यों का जननेन्द्रिय से, और देवताओं का मुँह से। इसका कारण क्या है ? एक ही प्रजापति रूप पिता के समान पुत्र होते हुए भी, एक को मिट्टी के पात्र मे, दूसरे को काष्ट पात्र में, तीसरे को रजत पात्र में और चौथे को स्वर्ण पात्र में, आहार देना और वह भी भिन्न-भिन्न प्रकार का देना, इसका क्या कारण है ? क्या परम पिता को भी ऐसी भेद दृष्टि रखना उचित है ? असुरों के साथ रात्रि उत्पन्न की गई मनुष्यों के साथ प्रकाश, ऋतुओं के साथ सन्ध्या, और देवताओं के साथ दिन उत्पन्न किया। विना दिन के रात्रि और संन्ध्या कैसे घट सकती हैं ? दिन और रात्रि का सन्धि काल ही तो संन्ध्या कही जाती है। सूर्य के उदय अस्त से ही दिन, रात्रि, संध्या और प्रकाश आप ही वन जाते हैं। इन्हें उत्पन्न करने का प्रजापति को कष्ट क्यों उठाना पड़ा? इसके सिवाय पशु, पक्षी, कीट, वृक्ष, लता, वायु, आकाश आदि की तो सृष्टि वताई ही नहीं, क्या ये अपने आप उत्पन्न हो गये, या किसी दूसरे ने इन्हें उत्पन्न किया है ? ग्रन्थान्तर में तो इन सब की सृष्टि भी वताई गई है।

प्रजापति की सृष्टि का छट्ठा प्रकार

आपो वा इदमग्रे सलिलमासीत्। तस्मिन् प्रजापतिर्वायुर्भूत्वाऽचरत। स इमामपश्यत्तां वराहो भूत्वाऽहरत्तां विश्वकर्मा भूत्वा व्यमार्ट्सा प्रथत। सा पृथिव्यभवत्तत्पृथिव्यै पृथिवीत्वम्।

(कृ० यजु० तै० सं० ७।१।५)

अर्थ—सृष्टि के पूर्व केवल पानी ही था। प्रजापति वायु रूप होकर उस में फिरने लगा। पानी के नीचे उसने इस पृथ्वी को देखा। उसे देख कर प्रजापति ने वराह—सूअर का रूप धारण किया और पानी में से पृथ्वी को खोद कर ऊपर ले आया! फिर वराह का रूप छोड़ कर प्रजापति विश्वकर्मा बना, और पृथ्वी का प्रमार्जन किया, फिर उसका विस्तार किया, जिससे यह बड़ी पृथ्वी बन गई। विस्तार के कारण से ही इस पृथ्वी का पृथ्वीपन है।

आपो वा इदमग्रे सलिल मासीत्। स प्रजापतिः पुष्करपर्णे वातो भूतोऽलेलायत्। स प्रतिष्ठां नाविन्दत। स एतदपां कुलायमपश्यत्। तस्मिन्नग्निमचिनुत। तदियमभवत्। ततो वै स प्रत्यतिष्ठत्।

(कृ० यजु० तै० सं० ५। ६। ४)

अर्थ—सृष्टि के पूर्व केवल पानी ही था। वह प्रजापति पवन रूप होकर कमल पत्र पर हिलने लगा, उसे कहीं भी स्थिरता नहीं मिली, इतने में उसे शेवाल (काई) दिखाई दी! उस शेवाल पर उस ने ईंटों से अग्नि की चुनाई (चुनना-बनवाना) की, जिससे पृथ्वी बनगई! उसके ऊपर उसे बैठने का स्थान (प्रतिष्ठा) मिल गया।

कृष्ण यजुर्वेद तैत्तरीय संहिता के ऊपर कहे हुए दो पाठ तथा कृष्ण यजुर्वेद तैत्तरीय ब्राह्मण के प्रथम कांड प्रथम प्रपाठक के तीसरे अनुवाक का एक पाठ जो कि सृष्टि के चौथे प्रकार में बताया गया है, उक्त तीनों पाठों की प्रक्रिया एक ही पृथ्वी बनाने की है। फिर भी तीनों में क्रम भिन्न-भिन्न है।

(१) ब्राह्मण के पाठ में प्रजापति तप करता है और किस प्रकार सृष्टि बनाना इसकी चिन्ता भी करता है। कमल पत्र

देखते ही उस पर बैठता है! पानी के नीचे गीली मिट्टी देखता है और वराह का रूप धारण कर पानी के नीचे से मिट्टी खोद लाता है! उस मिट्टी को कमल पत्र पर फैला कर पृथ्वी बनाता है।

(२) संहिता के सातवें कांड के पाठ में, कमल पत्र नहीं है, तप या आलोचना करने का भी उल्लेख नहीं मिलता। प्रजापति वायु रूप बनकर नीचे की पृथ्वी देखता है, उसे ऊपर लाने को वराह का रूप बनाता है, और उसका प्रमार्जन करने के लिए विश्वकर्मा का रूप बनाता है, उसके बाद पृथ्वी बनाता है।

(३) संहिता के पांचवें कांड के पाठ में पुनः कमल पत्र उपस्थित होता है। प्रजापति वायु रूप बनकर कमल पत्र पर डोलता है। स्थिर आसन कहीं नहीं मिलता है। फिर शेवाल (काई लील) के दर्शन होते हैं, शेवाल पर अग्नि की चुनाई करने से पृथ्वी तैयार होती है। इस उल्लेख में वराह या विश्वकर्मा कोई भी दिखाई नहीं पड़ते। शेवाल का पाया (नींव) डाला, और अग्नि तथा ईंटों की चुनाई कर के पृथ्वी तय्यार करली। यहां प्रजापति ने वायु रूप रह कर ही पृथ्वी बनाई या दूसरा रूप लिया, इसका कुछ भी खुलासा नहीं है।

एक ही यजुर्वेद के उक्त तीनों पाठों में भिन्न भिन्न प्रक्रिया होने का क्या कारण है? कमल पत्र के आधार से या शेवाल के आधार से पानी पर सारी पृथ्वी को टिकाये रखने में प्रजापति ने विज्ञान के किस नियम का पालन किया है यह नहीं मालूम होता है। पानी और शेवाल के ऊपर अग्नि की चुनाई की गई तो क्या पानी ने अग्नि को बुझाया नहीं? कदाचित यह वड़वानल अग्नि हो तो दूसरी बात है, किन्तु पृथ्वी और मिट्टी के

ईंटें कहाँ से आईं? और बनीं कैसे? यद्यपि मूल में ईंटें नहीं हैं किन्तु भाष्यकार सायणाचार्य ने कहा है कि—"तस्मिन् शैवालेऽग्निमिष्टकाभिश्चितवान्" और यह अग्नि लकड़ी की थी। या कोयले की थी? पृथ्वी और वृक्ष के बिना लकड़ी और कोयला कैसे मिल सकते हैं?

प्रजापति की सृष्टि का सातवाँ प्रकार

आपो वा इदमग्रे सलिलमासीत्। स एतां प्रजापतिःप्रथमां चितिमपश्यत्। तामुपाधत्त तदियमभवत्।

(कृ० यजु० तै० सं० ५।७।५)

अर्थ—सृष्टि के पहले केवल पानी था, प्रजापति ने प्रथम चिति = अग्नि में दी जाने वाली आहुति देखी, प्रजापति ने उसका अधिष्ठान बनाया, तब वह चिति पृथ्वी रूप बन गई।

तं विश्वकर्माऽब्रवीत्। उपत्वाऽयानीति नेह लोकोस्तीत्यब्रवीत्। स एतां द्वितीयां चितिमपश्यत्। तामुपाधत्त। तदन्तरिक्षमभवत्।

(कृ० यजु० तै० सं० ५।७।५)

अर्थ—विश्वकर्मा ने प्रजापति को कहा कि—मैं तेरे समीप आऊँ? प्रजापति ने उत्तर दिया कि यहाँ अवकाश नहीं है। इतने में विश्वकर्मा ने दूसरी चिति = आहुति देखी, उसका आश्रय किया तब वह चिति अन्तरिक्ष बन गया।

स यज्ञः प्रजापतिमब्रवीत् उप त्वायऽानीति नेह लोकोऽस्तीत्यब्रवीत् स विश्वकर्माणमब्रवीत् उपत्वाऽयानीति। केनमोपैष्यतीति। दिश्याभिरित्यब्रवीत्तम्। दिश्याभिरुपैत्ता उपाधत्त। ता दिशोऽभवन्।

(कृ० यजु० तै० सं० ५।७।५)

अर्थ—उस यज्ञपुरुष ने प्रजापति से कहा कि मैं तेरे समीप पृथ्वी पर आऊँ ? प्रजापति ने कहा कि यहाँ जगह नहीं है। तब उस यज्ञपुरुष ने विश्वकर्मा को पूछा कि मैं तुम्हारे पास अन्तरिक्ष में आऊँ ? विश्वकर्मा ने पूछा कि क्या वस्तु लेकर तू मेरे पास आयेगा ? यज्ञपुरुष ने कहा कि—दिशाओं में देने की आहुति लेकर आऊँगा। विश्वकर्मा ने उसे स्वीकार कर लिया। यज्ञपुरुष ने अन्तरिक्ष में दिशा का आश्रय किया और प्राची आदि दिशाएँ बन गईं।

स परमेष्ठी प्रजापतिमब्रवीत्। उपत्वाऽयानीति। नेह लोकोऽस्तीत्यब्रवीत्। स विश्वकर्माणञ्च यज्ञञ्चाब्रवीत्। उप वामाऽयानीति। नेह लोकोऽस्तीत्य-ब्रूताम्। स एतां तृतीयां चितिमपश्यत्। तामुपाधत्त तद्सावभवत्।

(कृ० यजु० तै० सं० ५।७।५)

अर्थ—(उसके बाद चौथा परमेष्ठी आता है) परमेष्ठी ने प्रजापति, विश्वकर्मा और यज्ञपुरुष को पूछा कि मैं तुम्हारे पास आऊँ ? तीनों ने उत्तर दिया कि हमारे पास जगह नहीं है। इतने में परमेष्ठी ने तीसरी चिति = आहुती देखी, उसका आश्रय लिया तो वह स्वर्ग लोक बन गई।

स आदित्यः प्रजापतिमब्रवीत्। उपत्वाऽयानीति नेह लोकोऽस्तीत्यब्रवीत्। स विश्वकर्माणं च यज्ञं चाब्रवीत्। उप वामाऽयानीति। नेह लोकोऽस्तीत्यब्रूताम्। स परमेष्ठिनमब्रवीत्। उपत्वाऽयानीति। केनमोपैष्यसीति लोकं पृणयेत्यब्रवीत्तम्। लोकंपृणयोपैत्तस्मादयातयाम्नी। लोकं पृणाऽयातयामा ह्यसा वादित्यः।

(कृ० यजु० तै० सं० ५।७।५)

अर्थ—उस सूर्य ने प्रजापति को कहा कि मैं तेरे पास आऊँ प्रजापति ने कहा कि यहां अवकाश नहीं है। उसके बाद विश्व-

कर्मा और यज्ञपुरुष को पूछा तो उन दोनों ने भी मना कर दिया। तब सूर्य ने परमेष्ठि को पूछा, परमेष्ठि ने कहा कि क्या लेकर मेरे पास आयगा? सूर्य ने कहा कि लोकंपृणा (बार बार उप-योग करने पर भी जिसका तत्वक्षीण नहीं हो और चिति में जहां छिद्र हो जाय, वहाँ जिससे छिद्र बन्द किया जाय, वह लोकंपृणा कहलाती है) लेकर मैं आऊँगा। परमेष्ठी ने स्वीकार किया, सूर्य ने लोकंपृणा के साथ स्वर्ग में आश्रय लिया और प्रति दिन आवृति करके लोक को प्रकाश देने का कार्य चालू रक्खा। लोकंपृणा अक्षीण-सारा है, इस लिये सूर्य भी अक्षीण-सार है, अर्थात् अक्षय प्रकाश वाला है।

तानृषयोऽब्रुवन्नुप व आयामेति। केन न उपैष्यथेति। भूम्नेत्यब्रुवन् तान् द्वाभ्यां चितीभ्यामुपायन्त।

(कृ० यजु० तै० सं० ५।७।५)

अर्थ—ऋषियों ने प्रजापति आदि पाँचों से पूछा कि हम तुम्हारे पास आवें? पाँचों ने पूछा कि तुम हमें क्या दोगे? ऋषियों ने कहा कि हम बहुत बहुत देंगे। पाँचों ने स्वीकार किया। ऋषियों ने चौथी और पाँचवीं दो चितियों के साथ आश्रय लिया।

यह सृष्टिक्रम सब से विलक्षण है। प्रजापति ने भूलोक बनाया, विश्वकर्मा ने अन्तरिक्ष लोक बनाया, परमेष्ठी ने स्वर्गलोक बनाया, यज्ञ पुरुष ने दिशाएं बनाईं। अनेक भागीदारों (हिस्से-दारों) ने मिल कर सृष्टि बनाई है यह कहना क्या ठीक नहीं है? एक की बनाई हुई सृष्टि में दूसरे को पैर रखने का भी अधि-कार नहीं है वैसी हालत में भागीदारी कैसी? बदले में रिश्वत

(लांच) लेकर स्थान देना, यह स्वार्थ वृत्ति नहीं है क्या ? चिति=अग्नि, अथवा आहुति से त्रैलोक्य की रचना कैसे हुई ? जब अग्नि पाँच भूतों में से एक भूत है, तो उस में से पाँचों भूतों की उत्पत्ति कैसे हो सकती है ? तीन चितिओं में से तीन लोक बने तो ऋषियों की चौथी व पाँचवीं चिति से क्या बना ? क्या उन में से चेतन सृष्टि उत्पन्न हुई ? सब को भिन्न भिन्न सृष्टिकर्त्ता मानें या सब को एक कंपनो मानें। कंपनी भी नहीं कही जा सकती, क्योंकि इनमें से किसी को भी एक दूसरे की सहायता नहीं है।

प्रजापति की अशक्ति का एक और नमूना देखिये—

प्रजापतिः प्रजाः सृष्ट्वा प्रेणानु प्राविशत्। ताभ्यः पुनः संभवितुं नाशक्नोत्। सोऽब्रवीत्। ऋध्नवदित् स यो मेतः पुनः संचिनवदिति। तं देवाः समचिन्वन्। ततो वै त आध्नुवन्।

(कृ० यजु० तै० सं० ५।५।२)

अर्थ—प्रजापति ने प्रजा का सर्जन करके प्रेम से उस प्रजा में प्रवेश किया। किन्तु उसमें से पीछे निकल न सका तब उसने देवताओं को कहा कि जो मुझे इसमें से निकाल देगा वह ऋद्धिमान् होगा। देवताओं ने उसे बाहर निकाल दिया जिससे वे ऋद्धिवन्त हो गये।

प्रजापति प्रजा में फँस जाता है। अपने को उसमें से निकलवाने के लिये देवों को लालच देकर प्रार्थना करनी पड़ती है। क्या यह प्रजापति की कमजोरी नहीं है ? क्या इससे यह स्पष्ट नहीं होता है कि देवों से प्रजापति की शक्ति न्यून है ?

प्रजापति की सृष्टि का आठवाँ प्रकार

एकयाऽस्तुवत । प्रजाअधियन्त । प्रजापतिरधिपतिरासीत् । तिसृभिरस्तुवत । ब्रह्माऽसृज्यत । ब्रह्मणस्पतिरधिपतिरासीत् । पञ्चभिरस्तुवत । भूतान्यसृज्यन्त । भूतानां पतिरधिपतिरासीत् । सप्तभिरस्तुवत । सप्तर्षयोऽसृज्यन्त । धाताधिपतिरासीत् ।

(शु० यजु० माध्यं० सं० १४ । ३० । २८

अर्थ—प्रजापति ने प्राणाधिष्ठायक देवों को कहा कि तुम मेरे साथ स्तुति में सम्मिलित होओ। हम लोग स्तुति करके प्रजा उत्पन्न करें। देवताओं ने यह वात स्वीकार करली। प्रजापपि ने पहले अकेली वाणी के साथ स्तुति की, जिससे प्रजा पति के गर्भ रूप से प्रजा उत्पन्न हुई। उसका वह अधिपति हुआ (१) उसके वाद प्राण, उदान और व्यान इन तीनों के साथ प्रजापति ने दूसरी स्तुति की, जिससे ब्राह्मण जाति उत्पन्न हुई, उसका अधिपति देवता ब्रह्मणस्पति हुआ (२) उसके वाद पाँचों प्राणों के साथ तीसरी स्तुति की, उससे पाँच भूत उत्पन्न हुये, उनका अधिपति भूतपति वना (३) तत्पश्चात् दो कान, दो आँख, दो नाक और वाणी इन सातों के साथ प्रजापतिने चौथी स्तुति की तो उससे सप्तऋषि उत्पन्न हुए, धाता उनका अधिपति देव वना (४)।

नवभिरस्तुवत । पितरोऽसृज्यन्त । अदितिरधिपत्नी आसीत् । एकादशभिरस्तुवत । ऋतवोऽसृज्यन्त । आर्तवा अधिपतय आसन् । त्रयोदशभिरस्तुवत । मासा असृज्यन्त । संवत्सरोऽधिपतिरासीत् । पञ्चदशभिरस्तुवत । क्षत्रमसृज्यत । इन्द्रोऽधिपति रासीत् । सप्तदशभिरस्तुवत । ग्राम्याः पशवोऽसृज्यन्त । बृहस्तिरधिपतिरासीत् ।

(शु० यजु० माध्यं० सं० १४ । ३० । २९)

अर्थ—दो आंख, दो कान, दो नाक, एक वाणी, यह सात उर्ध्वप्राण तथा दो अधःप्राण इस तरह नौ प्राणों के साथ प्रजापति ने पाँचवीं स्तुति की, जिससे पितरों की उत्पत्ति हुई। अदिति इनकी अधिपत्नी हुई (५) दस प्राण और एक आत्मा इन ११ के साथ प्रजापति ने छठी स्तुती की, जिससे ऋतुओं की उत्पत्ति हुई, आर्तव देव इनका अधिपति बना (६) दस प्राण, दो पाँव और एक आत्मा इन तेरह के साथ प्रजापति ने सातवीं स्तुति की, जिस से महीनों की उत्पत्ति हुई, संवत्सर इनका अधिपति बना (७) हाथों की दस अंगुलियां, दो हाथ, दो बाहु, और एक नाभि के ऊपर का भाग, इन पन्द्रहों के साथ प्रजापति ने आठवीं स्तुति की, जिससे क्षत्रिय जाति की उत्पत्ति हुई, इन्द्र इनका अधिपति बना (८) पैरों की दस अंगुलियां, दो ऊरु, दो जंघाएँ और एक नाभि के नीचे का भाग, इन सत्रह के साथ प्रजापति ने नववीं स्तुति की, जिससे ग्राम्य पशुओं की उत्पत्ति हुई, बृहस्पति इनका अधिपति हुआ (९)

नव दशभिरस्तुवत। शूद्रार्यावसृज्येतामहोरात्रे अधिपत्नी आस्ताम्। एकविंशत्याऽस्तुवत। एकशफाः पशवोऽसृज्यन्त वरुणोऽधिपतिरासीत्। त्रयो विंशत्याऽस्तुवत। क्षुद्राःपशवो ऽसृज्यन्त। पूषाऽधिपतिरासीत्। पञ्चविंशत्याऽस्तुवत। आरण्यः पशवोऽसृज्यन्त। वायुरधिपतिरासीत्। सप्तविंशत्याऽस्तुवत। द्यावापृथिवीव्यैतां। वसवो रुद्रा आदित्या अनुव्यायंस्त एवाधिपतय आसन्।

(शु० यजु० माध्यं० सं० १४। ३०। ३०)

अर्थ—हाथों की दस अंगुलियाँ और ऊपर, नीचे रहे हुए शरीर के नौ छिद्र यों १९ प्राणों के साथ प्रजापति ने दसवीं स्तुति की, जिससे शूद्र और वैश्य उत्पन्न हुए, अहोरात्रि इनका अधि-

पति हुआ (१०) हाथ और पैर की बीस अंगुलियें और एक आत्मा, इन इक्कीस के साथ प्रजापति ने ११ वीं स्तुति की, जिस से एक खुर वाले पशुओं की उत्पत्ति हुई, वरुण उनका अधिपति हुआ।(११) हाथ पैर की वीस अंगुलियें, दो पाँव, एक आत्मा यों तेईस के साथ प्रजापति ने बारहवीं स्तुति की, जिससे क्षुद्र पशुओं की उत्पत्ति हुई। पूषा उनका अधिपति हुआ (१२) हाथ पाँव की बीस अंगुलियाँ, दो हाथ, दो पाँव, एक आत्मा, यों पच्चीस के साथ प्रजापति ने तेरहवीं स्तुति की, जिससे आरण्यक पशुओं की उत्पत्ति हुई। वायु इनका अधिपति हुआ (१३) हाथ पांव की वोस अंगुलियां दो भुजाएँ, दो उर, दो प्रतिष्ठा और एक आत्मा, यों सत्ताईस के साथ प्रजापति ने चौदहवीं स्तुति की, जिससे स्वर्ग और पृथ्वी उत्पन्न हुई। वैसे ही आठ वसु, ग्यारह रुद्र, और बारह आदित्य भी उत्पन्न हुए, और इनके अधिपति भी ये ही बने (१४)

नवविंशत्याऽस्तुवत। वनस्पतयोऽ सृज्यन्त। सोमोऽ धिपतिरासीत्।
एकत्रिंशताऽ स्तुवत। प्रजा असृज्यन्त। यवाश्चा यवाश्चाधिपतय आसन्।
त्रयस्त्रिंशताऽस्तुवत। भूतान्यशाम्यन् प्रजापतिः परमेष्ठ्यधिपति रासीत्।
(शु० यजु० माध्यं० सं० १४। ३०। ३१)

अर्थ—हाथ पाँव की वीस अंगुलियां और नौ छिद्र रूप प्राण, यों २६ के साथ प्रजापति ने पन्द्रहवीं ईंट की स्तुति की, जिससे वनस्पतियें उत्पन्न हुईं, सोम उनका अधिपति हुआ, (१५) वीसअंगुलियां दस इन्द्रियाँ और आत्मा यों इकत्तीस के साथ प्रजापति ने सोलहवीं स्तुति ईंट की की, जिससे प्रजा उत्पन्न हुई, इसके अधिपति यव और अयव देव हुए, (१६) बीस अंगुलियाँ दस इन्द्रियाँ दो पाँव, और एक आत्मा, यों तेंतीस के

साथ प्रजापति ने सत्रहवीं स्तुति की, जिससे सभी प्राणी सुखी हुये। परमेष्ठी प्रजापति इनका अधिपति बना, (१७)

सृष्टि क्रम कोष्टक

१	सामान्य प्रजा	९	ग्राम्य पशु,
२	ब्राह्मण,	१०	शूद्र और वैश्य,
३	पाँच भूत,	११	एक खुर वाले पशु
४	सप्त ऋषि,	१२	क्षुद्र पशु—अजा आदि,
५	पितर,	१३	जंगली पशु,
६	ऋतुएँ,	१४	द्यावा पृथ्वी, वसु आदि देवता,
७	मास,	१५	वनस्पति,
८	क्षत्रिय,	१६	सामान्य प्रजा,

१७ प्राणियों की सुख सम्पत्ति

समालोचना

उक्त क्रम में पृथ्वी चौदहवें नंबर पर उत्पन्न हुई है। तब यह शंका उत्पन्न होती है कि—बिना पृथ्वी के ब्राह्मण आदि चार वर्ण के मनुष्य, और गाँव तथा जंगल के पशु कहाँ रहे होंगे? पहले के क्रम में देवता की उत्पत्ति पहले और इस क्रम में पहले मनुष्य और बाद में देवताओं का पैदा होना लिखा है इसका क्या कारण है? प्रजापति ने स्तुति करने में प्राण और शरीर के अवयवों की सहायता ली है। क्या इनके बिना अकेले प्रजापति की शक्ति नहीं थी? यदि शक्ति थी, तो दूसरों की सहायता की क्या आवश्यकता थी? ईंट की स्तुति करने से सृष्टि उत्पन्न हुई है। क्या यह भी कोई वैज्ञानिक नियम है? इस सारे क्रम में सूर्य

चन्द्र की उत्पत्ति होने का तो उल्लेख ही नहीं है। फिर इनके विना ही ऋतु और महीनों की उत्पति कैसे हो गई ? पंच महाभूतों की उत्पत्ति के पूर्व ही ब्राह्मण जाति के शरीर किस प्रकार उत्पन्न हो गये ? विना महाभूतों के शरीर वनना शक्य ही नहीं है।

प्रजापति की सृष्टि का नौवाँ प्रकार

स वै नैव रेमे तस्मादेकाकी न रमते। स द्वितीयमैच्छत्। स हैता वानास यथा स्त्री पुमांसौ संपरिष्वक्तौ स इममेवात्मानं द्वधाऽपातयत्ततः पतिश्च पत्नी चाभवतां तस्मादिदमर्धबृगलमिव स्व इति ह स्माह याज्ञवल्क्यस्तस्मादयमाकाशः स्त्रिया पूर्यत एव तां समभवत्ततो मनुष्या अजायन्त।

(वृहदा० १।४।३।)

अर्थ—उस प्रजापति को चैन नहीं पड़ा। एकाकी होने से रति (आनन्द) नहीं हुई, वह दूसरे की इच्छा करने लगा, वह आलिंगित स्त्री पुरुप युगल के समान वड़ा हो गया वाद में प्रजा पति ने अपने दो भाग किये, उसमें से एक भाग पति और दूसरा भाग पत्नी रूप वना। याज्ञवल्क्य ने कहा है कि जिस प्रकार एक चने की दाल के दो भाग होते हैं वैसे ही दो भाग उसके हुए आकाश का आधा हिस्सा पुरुष से और आधा हिस्सा स्त्री से पूरित हुआ, पुरुप भाग ने स्त्री भाग के साथ रति क्रीड़ा की, जिससे मनुष्य उत्पन्न हुए।

साहेयमीक्षांचक्रे कथं नु मात्मन एव जनयित्वा संभवति हन्त तिरोऽसानीति सा गौरभवदृषभ इतरस्तां समेवाभवत् ततो गावोऽजायन्त। वडवेतराभवदश्व वृष इतरः। गर्दभीतरा गर्दभइतरस्तां समेवाभवत्तत एकशफमजायत। अजेतरा भवद्वस्त इतरोऽविरितरा मेष इतरस्तां

समेवाभवत्ततोऽजावयोऽजायन्तैवमेव यदिदं किंच मिथुन मापीपिल्लिका-भ्यस्तत्सर्वं मसृजत (बृहदा० १ । ४ । ४)

अर्थ—स्त्री भाग का नाम शतरूपा रखा गया। वह शत रूपा विचार करने लगी कि मैं प्रजापति की पुत्री हूँ क्योंकि उसने मुझे उत्पन्न किया है और पुत्री का पिता के साथ सम्बन्ध करना स्मृति में भी निषिद्ध है, तब यह क्या अकृत्य कर डाला ? मैं कहीं छिप जाऊँ ! ऐसा सोच कर वह गाय बन गई। तब प्रजापति ने बैल बन कर उसके साथ समागम किया,जिससे गायें उत्पन्न हुईं। शतरूपा घोड़ी बनी तो प्रजापति घोड़ा बना, शतरूपा गदही बनी तो प्रजापति गदहा बना, दोनों का समागम हुआ, जिससे एक खुर वाले प्राणियों की सृष्टि हुई, पश्चात् शत-रूपा बकरी बनी, प्रजापति बकरा बना, शतरूपा भेड़ बनी, प्रजापति भेड़िया बना, दोनों के संभोग से बकरे और भेड़ियों की सृष्टि हुई। इस प्रकार प्रत्येक प्राणी के युगल रूप बनते बनते कीड़ों मकोड़ों तक की सृष्टि उत्पन्न हुई।

समालोचना

ऊपरके प्रसंग में प्रजापति में ईश्वरत्त्व जैसा कुछ भी नहीं दिखाई देता है बल्कि प्रजापति को सामान्य विषयी मनुष्य से भी गया बीता बताया गया है। स्वयं भाष्यकार शंकराचार्य प्रस्तुत मंत्र के भाष्य में लिखते हैं कि—"संसार विषय एव प्रजापतित्वं यतः स प्रजा पतिर्वैनैव रेमे रतिं नान्व भवदरत्याविष्टोऽभूदित्यर्थो ऽस्मदादिव देव" भाष्य के टीकाकार आनन्दगिरि भी कहते हैं कि—"प्रजा पतेर्भयाविष्टत्वेन संसारान्तर्भूतत्वमुक्तमिदानीं तत्रैव हेत्वन्तर माह इनश्चेति अरत्या विष्टत्वे प्रजापतेरेकाकित्वं हेतू करोतियत

इति" अर्थात् एकाकी रहते हुए प्रजापति को भय लगा, तथा अरति मालूम हुई, जिससे प्रजापति हमारे जैसे संसारी ही प्रतीत होते हैं। भाष्यकार और टीकाकार के कथनानुसार प्रजापति को सामान्य मनुष्य की कोटि में गिन भी लें तोभी, उसकी विषय लीला देखते हुए, उसमें सभ्यता या शिष्टता जैसा गुण कैसे स्वीकार करें? स्वयं शतरूपा को लज्जित होकर छिप जाना पड़ा फिर भी प्रजापति को कुछ भी भान नहीं हुआ। नीच मनुष्य भी पुत्री संगम नहीं करता ऐसा अकृत्य कार्य प्रजापति ने क्यों किया? ऐसा नहीं करने से या ऐसी सृष्टि के बिना प्रजापति का कौनसा राज्य नष्ट हो जाता था? यदि प्रजापति का यह कार्य श्रेष्ठ था तो फिर शतरूपा को लज्जा के मारे छिप जाने की क्या जरूरत थी? और घोड़ी, गदही, कुत्ती जैसे स्वांग बनाने की क्या आवश्यकता थी? जिस जिस पाप के भय से शतरूपा को भगना पड़ा उस उस पाप कार्य के लिये प्रजापति को घोड़े, गदहे, कुत्ते जैसे स्वांग धारण करने पड़े, इसमें प्रजापति की इज्जत बढ़ी या घटी? प्रजापति ने उक्त निन्दनीय कार्य से संसार को व्यभिचार और विषयासक्ति का पाठ पढ़ाया है ऐसा कहने में अतिशयोक्ति नहीं है। जो कार्य प्रजापति ने किया है उसका निषेध स्मृतिकारों ने क्यों किया "यद्यदाचरति श्रेष्ठस्तत्तदेवेतरो जनः स यत्प्रमाणं कुरुते लोकस्तदनुवर्तते" गीता की उक्त नीति के अनुसार प्रजापति ने जैसा आचरण किया है वैसा ही दूसरे भी करें तो कोई अपराध है क्या? क्या प्रजापति श्रेष्ठ कोटि में नहीं गिने जाते हैं? इस प्रकार की विषय क्रीड़ा से मनुष्य की श्रेष्ठता भी कायम नहीं रह सकती है तो प्रजापति की कैसे रह सकती है।

प्रजापति की सृष्टि का दसवाँ प्रकार

प्रजापतिर्वै स्वां दुहितरमभ्यध्यायत्। तामृश्यो भूत्वा रोहितं भूता-मभ्यैत्तं देवा अपश्यन्नकृतं वै प्रजापतिः करोतीति ते तमैच्छन्य एन मारि-ष्यत्येतमन्योऽन्यस्मिन्नाविन्दं स्तेषां या एव घोरतमास्तन्व आसंस्ता एकधा समभरंस्ताः संभृता एष देवोऽ भवत्तदस्यैतद्भूतवन्नाम।.........

तं देवा अब्रुवन्नयं वै प्रजापतिरकृतमकरिमं विध्येति. स तथेत्य ब्रवीत्स वै वो वरं वृणा इति वृणीष्वेति स एतमेव वरमवृणीत पशूना-माधिपत्यं तदस्यै तत्पशुमन्नाम।........

तमभ्यायत्याविध्यत्स विद्ध ऊर्ध्वं उदप्रपतत्तमेतं मृग इत्याचक्षते, य उ एव मृगव्याधः स उ एव स या रोहित्सा रोहिणी यो एवेषु स्त्रिकाण्डा सो एवेषु स्त्रिकाण्डा। (ऐत० ब्रा० ३। ३। ६)

अर्थ—प्रजापति ने अपनी पुत्री को पत्नी बनाने का विचार किया। फिर प्रजापति ने मृग बनकर लालवर्ण वाली मृगी रूप पुत्री के साथ समागम किया। यह देवताओं ने देख लिया, देव-ताओं को विचार हुआ कि प्रजापति अकृत्य कर रहा है इसलिए इसे मार डालना चाहिए। मारने की इच्छा से देवता लोग ऐसे व्यक्ति कोढूँढने लगे, जो प्रजापति को मारने में समर्थ हो। किन्तु अपने में ऐसा कोई शक्तिशाली उन्हें नहीं मिला, इसलिए जो घोर—उग्र शरीर वाले थे वे सभी मिल कर एक रूप हुए, अर्थात सब मिलकर एक महान् शरीर धारी देव बना, उसका नाम रुद्र रक्खा गया। वह शरीर भूतों से निष्पन्न हुआ इसलिये उसका नाम भूतवत् या भूतपति भी प्रसिद्ध हुआ।

देवताओं ने रुद्र से कहा कि—प्रजापति ने अकृत्य किया है इसलिये उसे बाँण से छेद डालो। रुद्र ने यह बात स्वीकार करली।

देवताओं ने उससे कहा कि इस कार्य के बदले में तुम हमसे कुछ माँगो। रुद्र ने पशुओं का आधिपत्य माँगा। देवताओं ने यह स्वीकार कर लिया जिससे रुद्र का नाम पशुवत् या पशुपति प्रसिद्ध हुआ।

प्रजापति को लक्ष्य करके रुद्र ने धनुष खींच कर बाण छोड़ा जिससे, मृग रूपी प्रजापति बाण से विंधकर अधो मुख से ऊँचा उछला, और आकाश में मृगशिर नक्षत्र के रूप में रह गया। रुद्र ने उसका पीछा किया। वह भी मृगव्याध के तारे के रूप में आकाश में रह गया। लालवर्ण वाली जो मृगी थी वह भी आकाश में रोहिणी नक्षत्र के रूप में रह गई। रुद्र के हाथ से जो बाण छुटा था वह अणीशल्य, और पांवरूप तीन अवयव वाला होने से, त्रिकाण्ड तारा रूप से रह गया। आज तक भी ये आकाश में एक दूसरे के पीछे घूमा करते हैं।

मनुष्य-सृष्टि

तद्वा इदं प्रजापते रेतः सिक्तमधावत् तत्सरोऽभवत् ते देवा अब्रुवन् मेदं प्रजापते रेतो दुषदिति यदब्रुवन्मेदं प्रजापते रेतो दुषदिति तन्मादुषम भवत् तन्मादुषस्य मादुषत्वम्। मादुषं ह वै नामैतद्यन्मानुषं सन्मानुषमित्याचक्षते परोक्षेण परोक्षप्रिया इव हि देवाः।

(ऐत० ब्रा० ३।३।६)

अर्थ—मृग रूप प्रजापति ने मृगी में वीर्य सिंचन किया, वह वीर्य बहुत होने से बाहर निकल कर पृथ्वी पर पड़ा, उसका प्रवाह चलकर ढालू जमीन में एकत्रित हुआ, जिससे तालाब बन गया। देवताओं ने प्रजापति का यह वीर्य दूषित न हो जाय इस लिए इस तालाब का नाम "मादुष" रख दिया। यही मादुष का

मादुग्पम है। लोगों ने पीछे से मादुप शब्द में के "द" के स्थान पर "न" कार का उच्चारण किया जिससे मानुप शब्द (मनुष्य वाचक) बन गया। देवता परोक्ष प्रिय होते हैं, इसलिए परोक्ष में जिस नकार का प्रवेश होकर मानुप शब्द बन गया उसको देवताओं ने स्वीकार कर लिया। तात्पर्य यह कि प्रजापति के द्वारा संचित वीर्य के तालाब में से मनुष्य सृष्टि उत्पन्न हुई।

देव सृष्टि

तदग्निना पर्यादधुस्तन्मरुतोऽधून्वंस्तदग्निर्न प्राच्यावयत् तदग्निना वैश्वानरेण पर्यादधु स्तन्मरुतोऽ धून्वंस्तदग्निर्वैश्वानरः प्राच्यावयत्तस्य यद्रेतसः प्रथममुददीप्यत तदसावादित्योऽभवद्यद् द्वितीय मासीत्तद् भृगुरभवत्तं वरुणा न्यगृह्णीत तस्मात्स भृगुर्वारुणिरथ यत्तृतीयमदीदेदिव त आदित्या अभवन्। ये ऽङ्गारा आसंस्तेऽङ्गिरसोऽभवन् यदङ्गाराः पुनरवशान्ता उददीप्यन्त तद् बृहस्पतिरभवत्। (ऐत० आ० ३ ३—१०)

अर्थ—मनुष्य बनने के बाद जो प्रजापति का वीर्य अवशिष्ट रहा, उसको घनीभूत बनाने और उसमें रहे हुए द्रवत्व को दूर करने के लिये देवों ने उस तालाब के चारों किनारों पर अग्नि प्रज्वलित की और वायु ने उसकी आर्द्रता को शोषित करने का प्रयत्न किया। इतना करने पर भी वह वीर्य नहीं पका अर्थात् उसका गीलापन दूर नहीं हुआ। तब वैश्वानर नाम के अग्नि ने पकाने का काम किया, और वायु ने शोषण करना चालू रक्खा, जिससे वह वीर्य पक कर पिण्डी भूत होगया। उस पिंड में से एक प्रथम पिंडिका उद्दीप्त हुई और प्रकाश करने लगी वह आदित्य—सूर्य बना। दूसरी पिंडिका निकली वह भृगु ऋषि

बनी, जिसको वरुण ने ग्रहण किया, जिससे भृगु वरुण का पुत्र कहलाया। तीसरी पिंडिका निकली उससे अदिति के, सूर्य के सिवाय बाकी के पुत्र—देव बने। जो आग के अंगार बच रहे वे अंगिरस ऋषि बने, और जो अंगार उत्कर्ष से दीप्त हुआ वह बृहस्पति बना।

पशु सृष्टि

यानि परिक्षाणान्यासंस्ते कृष्णाः पशवोऽभवन् या लोहिनीमृत्तिका ते रोहिता, अथ यद् भस्माऽऽसीत् तत्परूष्यं व्यसर्पद् गौरो गवय ऋश्य उष्ट्रो गर्दभ इति ये चैतेऽरुणाः पशवस्ते च। (ऐत० ब्रा० ३ ।३—१०)

अर्थ—जो काले रंग की लकड़ियां रहीं, वे काले रंग के पशु बने। अग्नि दाह से जो मिट्टी लाल रंग की हो गई थी, उससे लाल रंग के पशु बन गये। जो राख बन गई थी, उससे कठोर शरीरवाले गौर, रोझ, मृग, ऊँट, गर्दभ आदि आरण्यक—जंगली पशु बन गये और जंगल में फिरने लगे।

समालोचना

प्रजापति का जो कृत्य शतरूपा को अकृत्य रूप लगा, वह कृत्य देवों को भी अकृत्य रूप से मालूम हुआ। इतनाही नहीं देवताओं ने तो इस कृत्य के लिये प्रजापति को दण्ड भी दिया है। इस प्रकार अधम प्रवृत्ति से सृष्टि उत्पन्न करने वाले को क्या अपराधी नहीं कहेंगे ?। इसके सिवाय प्रजापति को मृगशिर नक्षत्र के रूप में किसने बनाया ? रुद्रने, या अपने आपही बन गया। यदि रुद्रने बनाया तो क्या रुद्र की शक्ति प्रजापति से अधिक थी ? और रुद्र को मृग व्याध के तारे के रूप में किसने

वनाया ? रुद्रने प्रजापति को मारने के लिये ही व्याध रूप धारण किया था किन्तु वह प्रजापति को आजतक नहीं मार सका है। फिर सदेव वाण लेकर पीछे-पीछे फिरने की क्या आवश्यकता थी। यदि यह कहा जाय कि प्रजापति ने अपराध किया था जिस से उसको दण्ड दिया गया था किन्तु शतरूपाने क्याअपराध किया था कि जिससे उसको भी रोहिणी वन कर मृगशिर के पीछे २ फिरना पड़ा। कदाचित् इसे रूपकालंकार कहा जाय तो भी यह घटित नहीं होता है। क्यों कि मिथुनी कृत्य में शतरूपा आगे और प्रजापति पीछे स्वाँग वदलते हैं, तव आकाश भ्रमण में मृगशिर रूप प्रजापति आगे. और रोहिणी रूपी शतरूपा पीछे रहती है। क्या यह उचित है ? प्रजापति के वीर्य से सारे सरोवर के भरजाने का जो उल्लेख किया गया है सो क्या संभवित है ? माढुष या मानुप इस उच्चारण से माढुप या मानुप शव्द की सिद्धि हो सकती है, किन्तु मनुष्य जाति की उत्पत्ति किस प्रकार हो सकती है। वीर्य से मनुष्य शरीर वनने की वात कही गई है। उस में यह प्रश्न उपस्थित होता है कि—ये शरीर गर्भ में रहकर वने या गर्भ के विना ही। यदि गर्भ में रह कर वने तो किस के गर्भ में रह कर वने। अभी तक मनुष्य जाति उत्पन्न नही हुई है। यदि विना गर्भ के ही वनने का कहा जाय तो क्या यह संभवित है। वीर्य को अग्नि से पकाने पर सूर्य आदि देव वने, ऐसा कथन भी क्या बुद्धिगम्य है ? सूर्य की उत्पति तो पहले अनेक प्रकार से वताई गई है। और दूसरे देव भी अदिति और प्रजापति से उत्पन्न हुए हैं ऐसा उल्लेख है। फिर यह नई उत्पति किस प्रयोजन से वताई गई है। यह वात भी बुद्धिग्राह्य नहीं है कि

काष्ठ, मिट्टी और राख में से विविध प्रकार के पशु पैदा हुए हैं।

सृष्टि का ग्यारहवाँ प्रकार (आत्म सृष्टि)

तस्माद्वा एतस्मादात्मनः आकाशः सम्भूतः। आकाशाद्वायुः। वायोरग्निः। अग्नेरापः। अपः पृथिवी। पृथिव्या ओषधयः। ओषधिभ्योऽन्नम्। अन्नाद्रेतः रेतसः पुरुषः।

(तै० उप० ब्र०—प्रथमखण्डः २। १)

अर्थ—उस प्रसिद्ध आत्मा से आकाश उत्पन्न होता है और आकाश से वायु, वायु से अग्नि, अग्नि से जल, जल से पृथ्वी, पृथ्वी से औषधियाँ, औषधि से अन्न, अन्न से रेत—वीर्य और वीर्य से पुरुष उत्पन्न होते हैं।

सृष्टि क्रम कोष्टक

१	आत्मा,	६	पृथ्वी,
२	आकाश,	७	औषधि,
३	वायु,	८	अन्न,
४	अग्नि,	९	रेत—वीर्य,
५	जल,	१०	पुरुष,

समालोचना

सृष्टि के चौथे, छठे और सातवें प्रकार में "आपो वा इदमग्रे आसीत्" —सब से पहले पानी था, यह बताया गया है। और इस क्रम में सबसे पहले आत्मा, उसके बाद आकाश, वायु अग्नि, उत्पन्न हुए और उसके बाद पांचवे नंबर में जल की उत्पत्ति बताई गई है। क्या ये पारस्परिक विरोधी बातें नहीं है? सृष्टि के छट्ठे प्रकार में वायु के पहले पानी होना बताया है,

और इस क्रम में वायु के पहले ही आकाश की उत्पत्ति बताई गई है। अर्थात् वायु का कारण आकाश, और आकाश का कार्य वायु इस प्रकार का कार्य कारण भाव और किसी में नहीं बताया गया है। यहाँ नूतन क्रमकी योजना क्यों की गई है। औषधि, अन्न और रेत की भी इस क्रम में नवीनता है। आत्मा चेतनरूप है, उससे जड़रूप आकाश की उत्पत्ति किस प्रकार संभवित हो सकती है। चेतन से चेतन और जड़ से जड़ की उत्पति हो यह तो संभवित बात है परन्तु चेतन से जड़ की उत्पत्ति होना क्या नियम विरुद्ध नहीं है। यह भी विचारणीय है कि पुरुष के उत्पन्न होने के पूर्व ही अन्न में से वीर्य कैसे उत्पन्न हो गया।

सृष्टि का बारहवाँ प्रकार (स्कंभ सृष्टि)

अथर्वण वेद काण्ड १० अनुवाक ४ के सातवें सूक्त में सब स बड़ा सृष्टि कर्ता देव स्कम्भ बताया गया है। सातवें सूक्त के प्रारम्भ में ही भाष्यकार लिखते हैं कि—

स्कंभ इति सनातनतमो देवो ब्रह्मणोप्याद्यभूतः। अतो ज्येष्ठं ब्रह्मेति तस्य संज्ञा। तस्मिं सर्वमेतत्तिष्ठति। तत्सर्वमेतेनाविष्टम्। विराडपि तस्मिन्नेव समाहितः। तस्मिन्नेव देवादयः सर्वे समाहिताः। इत्यादिवर्णनम्।

अर्थ—ब्रह्म से भी पहले का और सबसे पुराना देव स्कंभ है, इसलिये इसका नाम ज्येष्ठ ब्रह्म है। उसी में सब रहता है। सब इसी से व्याप्त है। विराट का भी समावेश इसी में हो जाता है। सब देव भी इस में स्थापित किये हुए हैं।

यस्मिन्त् स्तब्ध्वा प्रजापतिर्लोकान्त् सर्वां अधारयत् स्कम्भं तं ब्रूहि कतमः स्विदेव सः

(अथ० सं० १०। ४। ७। ७)

अर्थ—जिसमें स्तब्ध हो कर प्रजापति सर्व लोक को धारण करके रहता है, उस स्कंभ को बताओ कि वह कौन है ?

यस्मिन् भूमिरन्तरिक्षं द्यौर्यस्मिन्नध्याहिता यत्राग्निश्चन्द्रमाः सूर्यो वातस्तिष्ठन्त्यार्पिताः स्कंभं तं ब्रूहि कतमः स्विदेव सः ।

(अथ० सं० १० । ४ । ७ । १२)

अर्थ—जिस में भूमि, अन्तरिक्ष और स्वर्ग समाये हुए हैं, अग्नि, चन्द्रमा, सूर्य और वायु जिसे अर्पण किये हुए हैं, उस स्कंभ का वर्णन करो कि वह कैसा देव है ।

यस्य त्रयस्त्रिंशद् देवा अंगे सर्वे समाहिताः
स्कंभं तं ब्रूहि कतमः स्विदेव सः ।

(अथ० सं० १० । ४ । ७ । १३)

अर्थ—जिस के अंग में तेंतीस देवता प्रतिष्ठित हैं, उस स्कंभ को बताओ कि वह कैसा देव है ?

यत्रादित्याश्च रुद्राश्च वसवश्च समाहिताः
भूतं च यत्र भव्यं च सर्वे लोकाः प्रतिष्ठिताः

स्कंभं तं........ (अथ० सं० १० । ४ । ७ । २२)

अर्थ—जिस में आदित्य रुद्र और वसु देवता प्रतिष्ठित हैं भूत और भावि सर्व लोक जिस में प्रतिष्ठा पाये हुए हैं, उस स्कंभ को बताओ कि वह कौन है ?

हिरण्यगर्भं परममनत्युद्यं जना विदुः ।
स्कंभस्तदग्रे प्रासिञ्चद्धिरण्यं लोके अन्तरा ।

(अथ० सं० १० । ४ । ७ । २८)

अर्थ—जिस परम हिरण्यगर्भ को लोक अवर्णनीय समझते हैं, उस हिरण्यगर्भ को सब से पहले स्कंभ ने ही प्रासिंचन किया था।

स्कंभो दाधार द्यावा पृथिवी उभे इमे स्कंभो दाधारोर्वऽन्तरिक्षम् स्कंभो दाधार प्रदिशः षडुर्वीः स्कंभ इदं विश्वं भुवनमाविवेश।

(अथ० सं० १० । ४ । ७ । ३५)

अर्थ—स्कंभने पृथिवी को धारण कर रक्खा है। स्कंभ ने ही इस विशाल अन्तरिक्ष को धारण किया हुआ है। स्कंभ ही प्रदिशा तथा छ उर्विओं को धारण करता है। और स्कंभ ही इस भुवन में प्रविष्ट है।

सृष्टि का तेरहवाँ प्रकार (अज सृष्टि)

पंचौदन नामक यज्ञ में अज की हवि दी जाती है। वह अज इन्द्र को तृप्त करके तीसरे स्वर्ग—पुण्य लोक में जाता है। ऐसा अथर्वण के नौवें काण्ड के तीसरे अनुवाक के पाँचवे सूक्त के प्रारंभ में भाष्यकार ने कहा है।

अजो वा इदमग्रे व्यक्रमत तस्योर इयमभवद् द्यौः पृष्ठम्। अन्तरिक्षम् मध्यं दिशः पार्श्वे समुद्रौ कुक्षी।

(अथ० सं० ९ । ३ । ५ । २०)

अर्थ—सृष्टि बनाने के पूर्व सब से पहले अज ने (बकरेने) व्यक्रमण किया, अज का उर—छाती, पृथ्वी बनी। उसकी पीठ (पृष्ठ) स्वर्ग बनी। उसका मध्यभाग अन्तरिक्ष बना। उसके दोनों पार्श्व दिशाएँ बनी, और कुक्षि भाग समुद्र बना।

सत्यं चर्तं च चक्षुषी विश्वं सत्यं श्रद्धा प्राणो विराट् शिरः।
एष वा · अपरिमितो यज्ञो यदजः पञ्चौदनः॥
(अथ० सं० ६ । ३ । ५ । २१)

अर्थ—उसके दो नेत्र सत्य और ऋत बने, उसके प्राण संपूर्ण सत्य और श्रद्धा बने, उसका सिर—मस्तक विराट बना इसलिए यह पंचौदन अज अपरिमित है।

समालोचना

यहाँ यज्ञ और यज्ञ में होमने के बकरे की प्रशंसा करते हुए सृष्टि का स्वरूप बताया गया है। अथर्व संहिता जैसी आदर्श पुस्तक में, केवल अलंकार रूपसे ही यह कथन नहीं होना चाहिए। यदि प्रशंसा रूप कथन है तो वहाँ खोटी प्रशंसा नहीं होनी चाहिये। यदि सच्ची प्रशंसा है तो उसका अर्थ ऊपर बताये अनुसार ही होगा। किन्तु इस में प्रश्न यह होता है कि—यह बकरा जीवित था या मृतक? जीवित नहीं हो सकता क्योंकि—उसका तो बलिदान दिया जा चुका है। वह इन्द्र को तृप्त करके तीसरे स्वर्ग में पहुँच गया है। शेष मृतक बकरा ही रहा, अर्थात् बकरे का शव। उस से ऊपर बताये माफिक स्वर्ग, पृथ्वी, अन्तरिक्ष दिशाएँ, समुद्र, सत्य, ऋत, श्रद्धा, विराट आदि बनाने का पहले कहा जा चुका है। क्या यह प्रशंसा युक्तिहीन मिथ्यातिशयोक्ति रूप नहीं है? दूसरी बात यह है कि—सब से पहले बकरा कहाँ से आया! पशु सृष्टि बनने के पहले ही बकरे की उत्पत्ति कहाँ से और कैसे हो गई? और मनुष्य सृष्टि या देव सृष्टि बनने के पहले ही यज्ञ समारंभ किसनेकर दिया? अज की आहुति किसने दी? जिस अज में इतनी शक्ति है उसकी आहुति देना कृतघ्नता नहीं है क्या?

सृष्टि का चौदहवां प्रकार (ब्रह्म सृष्टि)

केनेयं भूमि र्विहिता केन द्यौरुत्तरा हिता
केनेदमूर्ध्वं तिर्यक् चान्तरिक्षं व्यचो हितम्
ब्रह्मणा भूमिर्विहिता ब्रह्म द्यौरुत्तरा हिता
ब्रह्मेदमूर्ध्वं तिर्यक्-चान्तरिक्षं व्यचोहितम् ॥
(अथ० स० १० । १ । २ । २४-२५)

अर्थ—यह पृथ्वी किसने बनाई ? उत्तर द्यौ—स्वर्ग किसने बनाया ? ऊर्ध्व भाग तिर्यग् भाग और जिस में प्राणी गमनागमन करते हैं ऐसा अन्तरिक्ष किसने बनाया है ? (उत्तर) ब्रह्म ने भूमि बनाई, ब्रह्म ने ही श्रेष्ठ स्वर्ग बनाया, ऊर्ध्व भाग, तिर्यग् भाग, और प्राणियों के गमनागमन वाला अन्तरिक्ष भी ब्रह्मने ही बनाया है ।

समालोचना

एक ही अथर्व संहिता में, भूमि, अन्तरिक्ष और स्वर्ग को बनाने वाले तीन भिन्न भिन्न व्यक्ति—स्कंभ, अज और ब्रह्म बताये गये हैं । स्कंभ को ज्येष्ठ ब्रह्म कहकर उसी से सर्व सृष्टि बन जाने की बात कही है । फिर इस लघु ब्रह्म को त्रिलोककर्त्ता बताने का क्या कारण है ? क्या तीनों ने मिलकर अमुक अमुक हिस्से बनाये, या अलग अलग ?

सृष्टि का पन्द्रहवाँ प्रकार (कर्म-सृष्टि)

यन्मन्युर्जायामावहत् संकल्पस्य गृहादधि,
क आसं जन्या कौवराः कउ ज्येष्ठ वरोऽभवत् ।

तपश्चैवास्तां कर्म चान्तर्महत्यर्णवे
त आसं जन्यास्ते वरा ब्रह्म ज्येष्ठ वरोऽभवत् ॥
अथ० सं० ११ । ४ । १० । १-२)

अर्थ—इस ऋचा में सृष्टि के समय में वर-वधू और बराती कौन कौन थे यह प्रश्न है। मन्यु शब्द का अर्थ "सर्वंजानातीतिसर्वज्ञः" किया है। जब मन्यु ईश्वर का संकल्प के घर में विवाह हुआ, तब बराती कौन थे। कन्या पक्ष और वर पक्ष के सम्बन्धी कौन कौन थे ? और कन्या तथा प्रधान वर कौन था ? उत्तर-प्रलय काल रूप समुद्र में सृष्टि से पूर्व पर्यालोचन रूप तप और प्राणियों के भोग्य कर्म विद्यमान थे। ये ही कन्या पक्ष और वर पक्ष के सम्बन्धी थे। अर्थात्—ये ही बराती थे। जगत् कारण रूप ब्रह्म ज्येष्ठ वरराज और माया शक्ति उस की वधू थी।

दश शाकमजायन्त देवा देवेभ्यः पुरा ।
....
(अथ० सं ११ । ४ । १० । ३)

अर्थ—उक्त वर वधू के लग्न होते ही उन से अग्नि आदि अधिष्ठातृ देवों के पहले पाँच ज्ञानेन्द्रियां और पाँच कर्मेन्द्रियाँ रूपी दस देव एक साथ प्रकट हुये। अर्थात् प्रथम दस पुत्र हुये। अथवा दो कान, दो नाक, दो आँखें, एक मुख यह सात शिर-प्राण एक मुख्य प्राण, और दो गौणप्राण ये दस देवता प्रकट हुए। अथवा नीचे लिखे हुए दस देवता हुये—

प्राणापानौ चक्षुः श्रोत्रमक्षितिश्च क्षितिश्च या ।
व्यानोदानौ वाङ्मनस्ते वा आकूतिमावहन् ॥
(अथ० सं० ११ । ४ । १० । ४)

अर्थ—हृदय कमल स्थिति क्रियाशक्तिरूप मुख्य प्राणकी प्राण और अपान नामकी दो वृत्तियाँ, नेत्र, श्रोतेन्द्रिय, अक्षिति = अक्षीण ज्ञानशक्ति, अन्नरस को सभी नाड़ियों में प्रेरित करने वाली व्यान वृत्ति, डकार के व्यापार को करने वाली उदान वृत्ति, बोलने में साधन भूत वाणी और मन = अंतःकरण, ये दस देव प्रकट हुए।

अजाता आसन्नृतवो थो धाता बृहस्पतिः
इन्द्राग्नी अश्विना तर्हि कं ते ज्येष्ठमुपासत ॥
तपश्चैवास्तां कर्म चान्तर्महत्यर्णवे
तपो ह जज्ञे कर्मणस्तत् ते ज्येष्ठमुपासत ॥
(अथ० सं० ११ । ४ । १० । ५-६)

अर्थ—सृष्टि के समय वसन्त आदि ऋतुएं उत्पन्न नहीं हुई थीं। धाता, बृहस्पति, इन्द्र, अग्नि और अश्विनी कुमार ये ऋतु चक्र के अधिपति देवता भी उत्पन्न नहीं हुये थे, उस समय धाता आदि देवों ने अपनी उत्पत्ति के लिये ज्येष्ठ कारण भूत किस उत्पादक की अभ्यर्थना की थी ? उत्तर—प्रलय काल रूप महा-समुद्र में जगत् स्रष्टा के पर्यालोचन रूप तप और प्राणियों के भोग्य कर्म विद्यमान थे। तप की उत्पत्ति प्राणियों के भोग्य कर्म से होती है, इसलिये धाता आदि देव अपनी उत्पत्ति के लिये ज्येष्ठ कारण कर्म की ही उपासना करते हैं।

कुत इन्द्रः कुतः सोमः कुतो अग्निरजायत ।
कुतस्त्वष्टा समभवत् कुतो धाताऽजायत ॥
इन्द्रादिन्द्रः सोमात्सोमोऽग्नेरग्निरजायत ।
त्वष्टा ह जज्ञे त्वष्टुर्धातुर्धाताऽजायत ॥
(अथ० सं० ११ । ४ । १० । ८-९)

अर्थ—वर्तमान सृष्टि में इन्द्र कहाँ से हुआ? सोम कहां से हुआ? अग्नि किस में से हुई? त्वष्टा कहाँ से उत्पन्न हुआ? और धाता किस में से उत्पन्न हुआ? उत्तर—इस प्रलय के पहले जो सृष्टि थी, उसमें इन्द्र था, उस इन्द्र में से ही वर्तमान सृष्टि का इन्द्र हुआ है। आगे के कल्प में जो सोम था, उसमें से वर्तमान कल्प का सोम हुआ, इसी प्रकार पूर्व की अग्नि में से वर्तमान अग्नि, पूर्व के त्वष्टा में से वर्तमान का त्वष्टा, और पूर्व के धाता में से वर्तमान धाता उत्पन्न हुआ। अथवा पूर्व का इन्द्र शब्द कर्म वाचक है, उस इन्द्रत्व योग्य पूर्व कर्म से वर्तमान इन्द्र उत्पन्न हुआ। ऐसे ही सोमादि के विषय में भी जान लेना चाहिये।

समालोचना

जब कि सृष्टि की उत्पत्ति में जीवों के कर्म ही मुख्य कारण हैं, कर्मानुसार ही पद की प्राप्ति होती है और धाता आदि भी कर्म की ही उपासना करते हैं। वैसी हालत में जीव और कर्म के बीच ईश्वर या ब्रह्म के पड़ने की क्या आवश्यकता है? 'कारण से कार्य उत्पन्न होता है,' इस प्रसिद्ध नियम के अनुसार कर्म रूप कारण से उस कार्य की उत्पत्ति अपने आप हो जाती। ब्रह्म को माया शक्ति के साथ विवाह करने की, और वर-वधू की जोड़ी की कल्पना करने की भी क्या आवश्यकता थी? संसार में परिभ्रमण करके जो मुक्त हो चुके हैं, उनको फिर से संसार चक्र में फँसाने की कल्पना क्यों की जाती है?

सृष्टि का सोलहवाँ प्रकार (ओंकार सृष्टि)

ब्रह्म ह वै ब्रह्माणं पुष्करे ससृजे, स खलु ब्रह्मा सृष्टिश्चिन्तामापेदे केनाहमेकेनाक्षरेण सर्वांश्चकामान् सर्वांश्च लोकान् सर्वांश्च

वेदान् सर्वांश्च यज्ञान् सर्वांश्च शब्दान् सर्वांश्च व्युष्टीः सर्वाणि च भूतानि स्थावरजंगमान्यनुभवेयमिति स ब्रह्मचर्यमचरत् । स ओमित्ये तदक्षरमपश्यद् द्विवर्णं चतुर्मात्रं सर्वव्यापि सर्वं विभ्वयातयामब्रह्म ब्राह्मी व्याहृतिं ब्रह्मदैवतं, तया सर्वांश्च कामान् सर्वांश्च लोकान्......सर्वाणि च भूतानि स्थावरजंगमान्यन्वभवत् । तस्य प्रथमेन वर्णेनापस्नेहश्चान्वभवत् । तस्य द्वितीयेन वर्णेन तेजो ज्योतींष्यन्वभवत् ।

(गो० ब्रा० पू० भा० १ । १६)

अर्थ—ब्रह्म ने ब्रह्मा को कमल में उत्पन्न किया। उत्पन्न होकर ब्रह्मा ने चिन्ता की कि—मैं एक अक्षर मात्र से सर्व काम, सर्व लोक, सर्व देवता, सर्व वेद, सर्व यज्ञ, सर्व शब्द, सर्व वसतियाँ, सर्व भूत, स्थावर जंगम को किस प्रकार उत्पन्न करूँ ? ऐसी चिंता करके उसने ब्रह्मचर्य रूप ब्रह्म तप का आचरण किया। उसने ओंकार अक्षर देखा जो कि दो अक्षर वाला, चार मात्राओं वाला, सर्वव्यापी, सर्वशक्तिमान्, अयातयाम—निर्विकार ब्रह्मवाला, ब्राह्मी व्याहृति और ब्रह्म देवता वाला है। उस ओंकार से ब्रह्मा ने सर्व काम, सर्व लोक, सर्व देव, सर्व यज्ञ, सर्व शब्द, सर्व वसतियाँ, सर्व भूत और स्थावर जंगम रूप सब प्राणी उत्पन्न किये। ओंकार के पहिले वर्ण से जल और चिकनापन उत्पन्न किये। दूसरे वर्ण से तेज और ज्योति उत्पन्न की।

तस्य प्रथमया स्वरमात्रया पृथिवीमग्निमोषधिवनस्पतीन्, ऋग्वेदं भूरिति व्याहृतिर्गायत्रं छन्दस्त्रिवृत्तं स्तोमं प्राचीदिशं वसंतमृतुं वाचमध्यात्मं जिह्वां रसमितीन्द्रियाण्यन्व भवत् ।

(गो० ब्रा० पू० भा० १ । १७)

अर्थ—उस ओंकार की प्रथम स्वर मात्रा से ब्रह्मा ने पृथ्वी, अग्नि, औषधि, वनस्पति, ऋग्वेद, भू नाम की व्याहृति, गायत्री छन्द, ज्ञान, कर्म और उपासना युक्ति स्तोत्र, स्तुति, पूर्व दिशा, वसंत ऋतु, अध्यात्म वाणी, जिह्वा और रस ग्राहक इन्द्रियाँ बनाईं।

तस्य द्वितीयया स्वरमात्रयाऽन्तरिक्षं, यजुर्वेदं, भुवइति व्याहृतिस्त्रैष्टुभं छन्दः पंचदशं स्तोमं, प्रतीचीं दिशं ग्रीष्ममृतुं प्राणमध्यात्मन्नासिके गन्धघ्राणमितीन्द्रियाण्यन्वभवत्।

(गो०ब्रा० पू० भा० १।१८)

अर्थ—उसकी दूसरी स्वर मात्रा से ब्रह्मा ने अंतरिक्ष, वायु, यजुर्वेद, भुव इस प्रकार की व्याहृति, त्रैष्टुभ छन्द, पांच प्राण, पांच इन्द्रियाँ और पांच भूत यों पन्द्रह प्रकार की स्तुति, पश्चिम दिशा, ग्रीष्म ऋतु, आध्यात्मिक प्राण, दो नासिका, और गंध ग्राहक घ्राणेन्द्रिय बनाये।

तस्य तृतीयया स्वरमात्रया दिवमादित्यं सामवेदं स्वरिति व्याहृतिर्जागतं छन्दः सप्तदशं स्तोममुदीचीं दिशां वर्षाऋतुं ज्योतिरध्यात्मं चक्षुषी दर्शनमितिन्द्रियाण्यन्वभवत्।

(गो० ब्रा० पू० भा० १।१९)

अर्थ—उस ओंकार की तीसरी स्वर मात्रा से ब्रह्मा ने स्वर्ग लोक, आदित्य-सूर्य, सामवेद, स्वर् इस प्रकार की व्याहृति, जगति छंद, दस दिशाएं, सत्व रजस् और तमस् तीन गुण, ईश्वर, जीव, और प्रकृति इन सोलहों से युक्त सत्रहवां संसार, यों सत्रह प्रकार की स्तुति, उत्तर दिशा, वर्षा ऋतु, अध्यात्म ज्योति, दो आंखें और रूप ग्राहक इन्द्रियाँ उत्पन्न कीं।

तस्य वकारमात्रयाऽऽपन्चन्द्रमसमथर्ववेदं नक्षत्राणि, ओमिति स्वमात्मानं जनदित्यंगिरसामानुष्टुभं छन्दः एकविंशं स्तोमं दक्षिणां दिशं शरदमृतुं मनोऽध्यात्मं ज्ञानं ज्ञेयमितीन्द्रियाण्यन्वभवत्।

(गो० ब्रा० पू० भा० १।२०)

अर्थ—उसकी वकार मात्रा से ब्रह्मा ने पानी, चन्द्रमा, अथर्ववेद, नक्षत्र, ओं रूप अपने स्वरूप को उत्पन्न करते हुए ज्ञान, अनुष्टुप् छन्द, पांच सूक्ष्म भूत, पांच स्थूल भूत, पांच ज्ञानेन्द्रियाँ, पांच कर्मेन्द्रियाँ और अन्तःकरण ये २१ स्तोत्र—स्तुतियें, दक्षिण दिशा, शरद् ऋतु, आध्यात्मिक मन, ज्ञान, जानने योग्य वस्तु और इन्द्रियां उत्पन्न कीं।

तस्य मकारश्रुत्येतिहासपुराणं वाकोवाक्यगाथा, नाराशंसीरुप निषदोऽनुशासनामिति वृधत् करद् गुहन् महत्तच्छमोमिति व्याहृतीः स्वरशम्यनानातंत्रीः स्वरनृत्यगीतवादित्राण्यन्वभवत् चैत्ररथं दैवतं वैद्युतं ज्योतिर्बार्हतं छन्दस्तृणवत् त्रयस्त्रिंशौ स्तोमौध्रुवामूर्ध्वां दिशं हेमन्तशिशिरावृतू श्रोत्रमध्यात्मं शब्दश्रवणमितिन्द्रियाण्यन्वभवत्।

(गो० ब्रा० पू० भा० १।२१)

अर्थ—उसकी मकार मात्रा से ब्रह्म ने इतिहास, पुराण, बोलने की सामर्थ्य, वाक्य, गाथा, और वीर नरों की गुणकथाएं, उपनिषद्, अनुशासन = शिक्षा, उपदेश वृधत् = वृद्धि वाला परिपूर्ण ब्रह्म, करत्-सृष्टिकर्ता ब्रह्म, गुहत् = छिपा हुआ अन्तर्यामी ब्रह्म महत्-पूजनीय ब्रह्म, तत् = फैला हुआ ब्रह्म, ये पांच महाव्याहृतियां, शम्-शान्ति रक्षक ब्रह्म, ओं सर्व रक्षक ब्रह्म, ये दोनों पांच में मिलने से सात महाव्याहृति, स्वर से शान्ति उपजाने वाली नाना प्रकार की वीणा आदि विद्याएं, स्वर, नृत्य, गीत, वादिन्त्र बनाये और विचित्र गुण वाले दिव्य पदार्थों के समूह, विविध प्रकाश वाली

ज्योति वेद वाणी युक्त छन्द, तीनों कालों में स्तुति किये गये तेंतीस देवता, सृष्टि प्रलय रूप दो स्तोम—स्तुति, ऊंची नीची दिशाएं, हेमंत और शिशिर ऋतु, आध्यात्मिक श्रोत्र, शब्द और सुनने की सामर्थ्य, ज्ञान कर्म साधन रूप इन्द्रियाँ ब्रह्म ने बनाईं।

समालोचना

यदि ब्रह्म में पूर्ण सामर्थ्य था तो उसने ब्रह्मा को उत्पन्नकर के उसके द्वारा सारी सृष्टि क्यों उत्पन्न करवाई? क्या ब्रह्मा के बिना ब्रह्म में सृष्टि उत्पन्न करने की सामर्थ नहीं थी? ब्रह्माने भी ॐकर की सहायता से सृष्टि बनाई है। ब्रह्म बड़ा है या ॐकार? ब्रह्म से ॐकार में शक्ति अधिक है या ॐकार से ब्रह्म में? यदि ब्रह्म में अधिक शक्ति थी तो फिर उसे ॐकार की सहायता क्यों लेनी पड़ी? ॐकार तो शब्द मात्र है, शब्द की एक एक मात्रा में भूलोक स्वर्गलोक, अन्तरिक्ष आदि पूर्ण जगत् या जगत् के बीजक भरे थे या बीजक के बिना ही भूलोकादि प्रकट हुये? यदि यह कहा जाय कि उपादान कारण ब्रह्म है उसी में से भूलोकादि प्रकट हुये तब यह प्रश्न होता है कि ॐकार की मात्रा से क्या उत्पन्न हुआ! यदि सृष्टि से पहले कुछ भी नहीं था तो ॐकार का उच्चारण किसने किया! ब्रह्म तो निरंजन निराकार है, उसके शरीर या मुख है ही नहीं। ॐकार शब्द कहां से प्रगट हुआ? क्या बिना उच्चारण किये ही वह अपने आप उत्पन्न हो गया? यदि ॐकार बिना कारण के ही उत्पन्न हो गया तो जगत् को भी बिना कारण उत्पन्न होने में क्या बाधा थी? यदि जगत् अपने आपही उत्पन्न हो जाय तो ॐकार और ब्रह्म की आवश्यकता ही क्या रहती है?

सृष्टि का सत्रहवाँ प्रकार (प्रस्वेद सृष्टि)

सृष्टि के आरंभ के पहले ब्रह्म के सिवाय कुछ भी नहीं था ब्रह्म ने अपने को अकेला देखकर यह विचार किया कि मैं इतना बड़ा होकर भी अकेला क्यों दूसरे देवों को बनाऊं ? इस विचार से उसने तप किया, तप के कारण से भाल पर पसीना झलका उसने फिर अधिक तप किया, जिससे प्रत्येक रोम में से पसीने की धारा छूटने लगी। उस धारा का पानी बन गया। उसपानी में उसने अपनी छाया (परछाई) देखी। इतने में ही उसका वीर्य स्खलित होगया, वह वीर्य पानी में गिरा। फिर ब्रह्मा ने उस पानी को चारों ओर से तपाया, जिससे वीर्य सहित पानी के दो भाग होगये। उसमें एक भाग नहीं पीने योग्य क्षार समुद्र बन गया, दूसरा भाग पेय—पीने योग्य स्वादिष्ट और रोचक हुआ। पानी को तपाने से वीर्य परिपक्व हुआ उससे भृगु उत्पन्न हुआ वह उत्पन्न होकर पूर्व दिशा की ओर चलने लगा, वहाँ वाणी ने उसे रोका। तब वह दक्षिण की ओर चलने लगा। वहाँ भी वाणी ने उसे रोका। वह पश्चिम की तरफ चलने लगा। वहां भी वाणी ने उसे रोका। उसके बाद वह उत्तर की तरफ चलने लगा वहां भी वाणी ने उसे रोक कर कहा कि—सामने के जल में उस पुरुष को ढूँढ। भृगुने ढूंढा तो उसे जल में उत्पन्न हुआ, अथर्व दिखाई दिया। ब्रह्म ने अथर्वा ऋषि को तपाया, तो उसमें से अथर्वणवेद की उत्पत्ति हुई। उस वेद को तपाया तो उसमें से ॐ अक्षर की उत्पत्ति हुई। ब्रह्म ने फिर तप किया और अपने में से ही तीनों लोक और देवादिका निर्माण किया जो इस प्रकार हैं।

स खलु पादाभ्यामेव पृथिवीं निरमिमत। उदरादन्तरिक्षम्। मूर्ध्नो दिवम्। स तां स्त्रींल्लोकानभ्यश्राम्यदभ्यतपत्समतपत्, तेभ्यः श्रान्तेभ्य स्तप्तेभ्यः सन्तप्तेभ्यस्त्रीन् देवान् निरमिमत—अग्निं वायुमादित्यमिति। स खलु पृथिव्या एवाग्निं निरमिमत अन्तरिक्षाद्वायुं दिव आदित्यम्। सतांस्त्रीन् देवानभ्यश्राम्यदभ्यतपत् समतपत् तेभ्यः श्रान्तेभ्यस्तप्तेभ्यः संतप्तेभ्यस्त्रीन् वेदान्निरमिमत—ऋग्वेदं, यजुर्वेदं, सामवेदमिति। अग्नेऋग्वेदं, वायोर्यजुर्वेदमादित्यासामवेदम्।

(गो० ब्रा० पू० भा० २।१।६)

अर्थ—उस ब्रह्म ने पांव में से पृथ्वी का निर्माण किया। उदर में से अंतरिक्ष और मस्तक में से स्वर्ग का निर्माण किया। उसके बाद उसने तीनों लोकों को तपाया, उनमें से अग्नि, वायु और आदित्य इन तीनों देवों की उत्पत्ति हुई। उसने पृथ्वी में से अग्नि, अन्तरिक्ष में से वायु और स्वर्ग में से आदित्य को उत्पन्न किया। उसने तीनों देवों को तपाया तो उनमें से ऋग्वेद, यजुर्वेद, और सामवेद इन तीन वेदों की उत्पत्ति हुई। अग्नि से ऋगवेद, वायु से यजुर्वेद और आदित्य से सामवेद बना।

स भूयोऽश्राम्यत् भूयोऽतप्यत, भूय आत्मानं समतपत्स मनस एव-चन्द्रमसन्निरमिमत, नखेभ्यो नक्षत्राणि, लोमभ्य ओषधिवनस्पतीन्, क्षुद्रेभ्यः प्राणेभ्योऽन्यान् बहून् देवान्।

(गो० ब्रा० पू० भा० १।१२)

अर्थ—उस ब्रह्म नेश्रमपूर्वक तप किया। मन से चन्द्रमा, नखों से नक्षत्र, रोम राजि से औषधि तथा वनस्पति और क्षुद्र प्राणों से अन्य बहुत से देव उत्पन्न किये

समालोचना

ब्रह्म को तप करने से परिश्रम हुआ जिससे ललाट पर पसीना आगया। ब्रह्म निराकार और निरवयव है। उसके शरीर

नहीं है। तब ललाट और उस पर पसीना किस प्रकार हुआ। 'मूलंनास्ति कुतः शाखाः,' शरीर रूप मूल तो है ही नहीं, फिर ललाट और पसीना रूप शाखा कहाँ से होगई। पसीना भी थोड़ा नहीं पर इतना हुआ कि जिससे धारा बहकर समुद्र बन गया। क्या यह संभवित है? प्रथम तो ब्रह्म के शरीर ही नहीं है, यदि शरीर मान भी लिया जाय तो इतना कमजोर शरीर क्यों मानाजाय, कि जिससे तपका परिश्रम करने से पसीने की धार बह निकले। आजकल के सामान्य तपस्वी पंचाग्नि तपकर के औंधे लटकते हैं फिर भी उनको पसीने की धारा नहीं छूटती है। क्या ब्रह्म में इतनी भी सामर्थ्य नहीं कि वह तप करने के लिये एक सुदृढ़ शरीर बना लेता। यदि ऐसी सामर्थ्य नहीं थी तो ऐसा असह्य तप करने के कष्ट में पड़ने की भी क्या आवश्यकता थी। पसीने से क्षार समुद्र बनाये बिना उसका कौनसा कार्य रुक रहा था? यदि वह स्वयं विज्ञानमय और आनन्दमय है तो उसके आनन्द में ऐसी कौनसी न्यूनता आगई थी जिससे इतने कष्ट उठाने की आवश्यकता पड़ी। पानी में वीर्य स्खलित किया गया था, शरीर के बिना वीर्य कहाँ रहा हुआ था? वीर्य स्खलन का क्या कारण था? मानसिक निर्बलता या विषय की तीव्रता। ब्रह्म में ये नहीं होने चाहिए। पानी को तपाने से क्षार जल और मिष्ट जल ऐसे दो भाग हो गये। पर प्रश्न यह होता है कि पानी को तपाया किस से। अग्नि अभी तक उत्पन्न नहीं हुई थी। क्या बिना तपाये ही खारे और मीठे जल को भिन्न करने की ब्रह्म में कोई दूसरी युक्ति या कला नहीं थी? स्त्री के गर्भाशय के बिना ही केवल वीर्य को तपाने मात्र से भृगु की उत्पति कैसे हो गई? इसी प्रकार अथर्वा ऋषि की जल में

उत्पत्ति कैसे हो गई। ब्रह्म ने अथर्वा ऋषी को तपाया जिससे अथर्वण वेद की उत्पत्ति बताई गई है। इससे यह फलित होता है कि वेद पौरुषेय हैं। क्योंकि अथर्वण ऋषि पुरुष थे, और उन्हीं से वेद की उत्पत्ति हुई थी। ब्रह्म ने पाँव से पृथ्वी, उदरसे अन्तरिक्ष और मस्तक से स्वर्ग बनाया है। पाँव, उदर और मस्तक शरीर में होते हैं, किन्तु ब्रह्म के शरीर ही नहीं है। क्या उक्त कथन परस्पर विरुद्ध नहीं है? आदित्य की उत्पत्ति पहले कई प्रकार से बताई जा चुकी है। यहाँ भी स्वर्ग को तपाने से आदित्य की उत्पत्ति बताई गई है इनमें से सत्य बात कौनसी है? अथर्वण वेद की उत्पत्ति अथर्व ऋषि से होनी बताई है। क्या ऋग्वेदादि अन्य तीन वेदों की उत्पत्ति इन से नहीं हो सकती थी? एक और तीन की उत्पत्ति भिन्न भिन्न मानने का क्या कारण है? अथर्वा ऋषि पहले उत्पन्न हुए और तीन देवता बाद में उत्पन्न हुये, इस अपेक्षा से अथर्वण वेद प्राचीन और बाकी के तीन वेद अर्वाचीन गिने जायँ तो यह बात ठीक होगी क्या? यदि ठीक मानी जाय तो वेदत्रयी से अथर्वण वेद की महिमा कम क्यों मानी जाती है?

मन से चन्द्रमा, नखों से नक्षत्र, रोम से औषधि, वनस्पति आदि उत्पन्न किये गये किन्तु ब्रह्म के शरीर ही नहीं है तब नख और रोम किस प्रकार माने जायँ? सूर्य को इतना अधिक तेज दिया गया तो चन्द्रमा और नक्षत्रों को इतना तेज क्यों नहीं दिया गया? पिता की सम्पत्ति में सभी पुत्रों का समान अधिकार होना चाहिये। ब्रह्म जैसे उदार पिता को न्यूनाधिक रूप से पक्षपात करने का क्या कारण था?

सृष्टि का अठारहवाँ प्रकार (परस्पर सृष्टि)

सवा अह्नो ऽजायत, तस्मादहरजायत ।
(अथ० सं० १३ । ४ । ७ । १)

अर्थ—वह परमात्मा दिन से उत्पन्न हुआ और दिन परमात्मा से उत्पन्न हुआ।

स वै रात्र्या अजायत, तस्माद् रात्रिरजायत ।
(अथ० १३ । ४ । ७ । २)

अर्थ—वह परमात्मा रात्रि से उत्पन्न हुआ, और रात्रि परमात्मा से उत्पन्न हुई ।

स वा अन्तरिक्षादजायत, तस्मादन्तरिक्षमजायत ।
(अथ० सं० १३ । ४ । ७ । ३)

अर्थ—वह परमात्मा अन्तरिक्ष से उत्पन्न हुआ, और अन्तरिक्ष परमात्मा से उत्पन्न हुआ ।

स वै वायोरजायत, तस्माद् वायुरजायत ।
(अथ० सं० १३ । ४ । ७ । ४)

अर्थ—वह ईश्वर वायु से उत्पन्न हुआ, और वायु परमात्मा से उत्पन्न हुआ ।

स वै दिवोऽजायत, तस्माद् द्यौरध्यजायत ।
(अथ० सं० १३ । ४ । ७ । ५)

अर्थ—वह परमात्मा स्वर्ग से उत्पन्न हुआ, और स्वर्ग परमात्मा से उत्पन्न हुआ।

स वै दिग्भ्योऽजायत, तस्माद् दिशोऽजायन्त।
(अथ० सं० १३।४।७।६)

अर्थ—वह परमात्मा दिशा से उत्पन्न हुआ और दिशाएँ परमात्मा से उत्पन्न हुईं।

स वै भूमेरजायत, तस्माद् भूमिरजायत।
(अथ० सं० १३।४।७।७)

अर्थ—वह ईश्वर पृथ्वी से उत्पन्न हुआ, और पृथ्वी परमात्मा से उत्पन्न हुई।

स वा अग्नेरजायत, तस्मादग्निरजायत।
(अथ० सं० १३।४।७।८)

अर्थ—वह परमात्मा अग्नि में से उत्पन्न हुआ, और अग्नि परमात्मा से उत्पन्न हुई।

स वा अद्भ्योऽजायत, तस्मादापोऽजायन्त।
(अथ० सं० १३।४।७।९)

अर्थ—वह परमात्मा पानी से उत्पन्न हुआ और परमात्मा से पानी उत्पन्न हुआ।

समालोचना

इस प्रक्रिया में पृथ्वी आदि की तरह परमात्मा को भी उत्पन्न हुआ स्वीकार किया गया है। उत्पन्न होने से क्या परमा-

त्मा में अनित्यता सिद्ध नहीं होती है ? पृथ्वी आदि भी अनित्य हैं और परमात्मा भी अनित्य है तो प्रलयकाल में पृथ्वी आदि की तरह परमात्मा को भी नष्ट हो जाना चाहिये था और इस हिसाब से प्रलय में कुछ भी अवशिष्ट नहीं रहना चाहिये। दूसरी बात सृष्टि के आरंभ में पृथ्वी और परमात्मामेंसे पहले कौन उत्पन्न हुआ ? पृथ्वी पहले नहीं थी तो परमात्मा उसमें से कैसे पैदा हो गया? यदि परमात्मा पहले नहीं था तो उसमें से पृथ्वी कैसे उत्पन्न हो गई ? पहले से दूसरे की, और दूसरे में से पुनः पहले की उत्पत्ति होनी बताई है। इससे दोनों की एक ही साथ उत्पत्ति होना भी नहीं कहा जा सकता। इसी प्रकार दिन, रात्रि, अंतरिक्ष, वायु, स्वर्ग, दिशा, भूमि, अग्नि, पानी आदि द्वन्द्व एक साथ या क्रम से उत्पन्न नहीं हो सकते। परस्पर एक दूसरे से कार्य कारण भाव रूप से उत्पन्न होना क्या संभवित हो सकता है ? यदि परमात्मा को नित्य माना जाय, तो जगत् को भी नित्य मानने में क्या बाधा है ? 'अजायत' इस क्रिया पद का अर्थ 'उत्पन्न हुए' इतना ही होता है। परमात्मा के साथ 'अजायत' का अर्थ 'अज्ञायत' = जाने गये, ऐसा करना, और दिन रात्रि आदि के साथ 'अजायत' का अर्थ उत्पन्न हुये ऐसा करना, युक्तिहीन कथन है। 'अजायत' या अज्ञायत' दोनों का एक ही अर्थ करना उचित है। भिन्नभिन्न अर्थ करना संदर्भ विरुद्ध है। 'अजायत' के बदले 'अज्ञायत' ऐसा अर्थ करने से दोनों की नित्यता सिद्ध हो जाती है।

सृष्टिका १६ वाँ प्रकार (ब्रह्म सृष्टि)

नासदासीन्नो सदासीत् तदानीं। नासीद्रजो नो व्योमापरो यत्।
किमावरीवः कुह कस्य शर्मन्। अम्भः किमासीद्गहनं गभीरम् ॥
(ऋग्० १० । १२६ । १)

अर्थ—उस समय अर्थात् सृष्टि के आरम्भ काल में न असत् था, न सत् था, न अन्तरिक्ष था, न अन्तरिक्ष के ऊपर का आकाश था। ऐसी अवस्था में किसने किस पर आवरण डाला? किस स्थल पर डाला? और किसके सुख के लिये डाला? अगाध और गम्भीर जल भी कहाँ रहा हुआ था?

न मृत्युरासीदमृतं न तर्हि। न रात्र्या अह्ना आसीत्प्रकेतः।
आनीदवातं स्वधया तदेकं। तस्माद्धान्यन्न परः किंचनास॥
(ऋग्० १० । १२६ । २)

अर्थ—उस समय मृत्युशील = जगत् भी नहीं था। वैसे ही अमृत = नित्य पदार्थ भी नहीं था। रात्रि और दिन का भेद समझने के लिये कोई प्रकेत = साधन नहीं था। स्वधा = माया अथवा प्रकृति के साथ एक वस्तु थी, जो कि बिना वायु के ही स्वास ले रही थी। उसके सिवाय दूसरा उससे अन्य कुछ भी नहीं था।

तम आसीत्तमसा गूल्हमग्रेऽप्रकेतं सलिलं सर्वमा इदम्।
तुच्छ्येनाम्व पिहितं यदासीत् तपसस्तन्महिनाऽजायतैकम्॥
(ऋग्० १० । १२६ । ३)

अर्थ—अग्रे = सृष्टि के पहले प्रलय दशा में अज्ञान रूप यह जगत् तम = माया से आच्छादित था। अप्रकेत = अज्ञायमान था। दूध और पानी की तरह एकाकार, एक रूप था। आभु = ब्रह्म, तुच्छ = माया से आच्छादित था। वह एक ब्रह्म तप की महिमा से प्रकट हुआ अर्थात्—नाना रूप धारण किए।

कामस्तदग्रे समवर्तताधि, मनसो रेत: प्रथमं यदासीत्।
सतोबन्धु मसति निरविन्दन्, हृदि प्रतीष्या कवयो मनीषा।
(ऋग्० । १० । १२६ । ४)

अर्थात्— ब्रह्म के मन का जो प्रथम रेत था, वही सृष्टि के आरम्भ काल में सृष्टि बनाने की ब्रह्म की कामना अर्थात् शक्ति था। विद्वानों ने बुद्धि से अपने हृदय में प्रतीक्षा करके इसी असत् = ब्रह्म में सत् का = विनाशी दृश्य-सृष्टि का प्रथम संबंध जाना।

तिरश्चीनो विततो रश्मिरेषामधः स्विदासीदुपरि स्विदासीत्।
रेतोधा आसन्महिमान आसन्त्स्वधा अवस्तात्प्रयति: परस्तात्॥
(ऋग्० १० । १२६ । ५)

अर्थ—अविद्या, काम और कर्म को सृष्टि के हेतु रूप बताया गया। इनकी कृति सूर्य की किरण की तरह एकदम ऊँची, नीची और तिर्यक् जगत् में फैल गई। उत्पन्न हुए कर्मों में मुख्यतः रेतोधा = रेत = बीज भूत कर्म को धारण करने वाले जीव थे। महिमान अर्थात् आकाश आदि महत्पदार्थ थे। स्वधा भोग्य प्रपञ्च विस्तार और प्रकृति अर्थात् भोक्तृ विस्तार। इनमें भोग्य-विस्तार अवस्तात् = उतरती श्रेणि का, और भोक्तृ विस्तार परस्तात् = ऊँची श्रेणिका है।

समालोचना

पहली ऋचा और दूसरी ऋचा के पूर्वार्द्ध में असत्, सत्, अन्तरिक्ष, आकाश, जल, जगत्, मोक्ष, और दिन रात्रि का संकेत, इन सब का निषेध किया गया है। अर्थात् प्रलय काल में

इनमें से कुछ भी नहीं था। इससे प्रजापति, विराट्, "आपोवा इदमग्रे सलिल आसीत्, सदेव सोम्येदमग्र आसीत्," इत्यादि बहुत सी सृष्टियों का निरास हो जाता है। दूसरी ऋचा के उत्तरार्द्ध से ब्रह्मवादी मात्र ब्रह्म सृष्टि का समर्थन करते हैं, अर्थात् एक ब्रह्म के सिवाय अन्य कुछ भी नहीं था। इस कथन से अब तक बताई हुई अठारह प्रकार की सृष्टियाँ मिथ्या हो जाती हैं। ब्रह्मवादियों के कथन से सृष्टि के अन्य सभी प्रकार झूठे सिद्ध होते हैं। केवल १९ वाँ प्रकार, ब्रह्म सृष्टि का ठीक रहता है। इसका भी समर्थन हो सकता है या नहीं, इस विषय में पर्यालोचना करते हैं। प्रथम ऋचा में असत और सत् दोनों का निषेध किया गया है। ब्रह्म को असत् कहना चाहिये या सत्? जो वस्तु प्रलय काल में भी विद्यमान रहती है उसे असत् किस प्रकार कहा जा सकता है? तो क्या सत् कहें? तीसरा कोई प्रकार ही नहीं है। अनेकान्तवादी या स्याद्वादी के लिये सत् असत् रूप तीसरा प्रकार हो सकता है। किन्तु ब्रह्मवादियों के लिये यह प्रकार नहीं हो सकता। अतः ब्रह्म सत् रूप ही सिद्ध होता है। मृत्यु और अमृत इन दो कोटियों में से ब्रह्म को अमृत कोटि में गिना जाना ठीक है। ब्रह्म सत है, ब्रह्म अमृत है। यदि यह बात सच्ची है तो प्रलय काल में ब्रह्म का अस्तित्व नहीं रह जाता है, क्योंकि पहली और दूसरी ऋचा के पूर्वार्द्ध में सत् और अमृत दोनों का प्रलय काल में निषेध किया गया है। सत् और अमृत के अभाव में ब्रह्म का सद्भाव किस प्रकार रह सकता है? सत् और अमृत के निषेध में ब्रह्म का निषेध भी रहा हुआ है। दूसरी बात यह है कि-दूसरी ऋचा के उत्तरार्द्ध में आये हुए स्वधा और तद् शब्द से माया और ब्रह्म का समर्थन

किया गया है किन्तु यह अर्थ मात्र ब्रह्म वादियों के अभिप्राय से है। क्योंकि तद् शब्द सर्वनाम वाचक होकर पूर्वका परामर्शक बनता है। यहां यदि सांख्य दर्शन वाले स्वधा शब्द से प्रकृति और तद् शब्द से आत्मा या पुरुष अर्थ ग्रहण करेंगे तो उन्हें रोकने के लिये ब्रह्मवादियों के पास कौनसी युक्ति या प्रयुक्ति है? ब्रह्म-वादी माया सहित ब्रह्म को एक 'मानते हैं किन्तु एकता किस प्रकार हो सकती है? ब्रह्म सत है, और माया सत् नहीं है। दोनों का भिन्न भिन्न स्वरूप होते हुएभी द्वैतवाद का निषेध कर के एकता स्थापित करना बुद्धिगम्य नहीं है। इसकी अपेक्षा तो प्रकृति और पुरुष को भिन्न मानने वाले सांख्यों का द्वैतवाद स्वधा और तद् शब्द के वाच्य से, प्रकृति और पुरुष रूप अर्थ ठीक लागू पड़ता है। किन्तु सत् और असृत के निषेध में तो प्रकृति और पुरुष भी नहीं ठहर सकते, अस्तु, ब्रह्म को निराकार निरवयव, और निर्गुण मानते हुए भी 'आनीदवातं' वायु के बिना सांस लेने की जो बात कही गई है वह भी कैसे सम्भवित हो सकती है?

स्वासोच्छ्वास प्राण तो शरीरधारियों के ही हो सकते हैं। अशरीरी को यह क्रिया नहीं हो सकती। तीसरी ऋचा के "तम आसीत्-इत्यादि वाक्य का दूसरी ऋचा में आये हुए "न मृत्यु रासीत्" इत्यादि वाक्य के साथ क्या विरोध नहीं हैं? वहाँ मृत्यु शब्द से नाशवान् जगत् का निषेध किया गया है और यहाँ तम शब्द से अज्ञान रूप जगत् को स्वीकार किया गया है, यह परस्पर विरुद्ध है। इसके सिवाय यहाँ तुच्छ शब्द से माया और आभु शब्द से ब्रह्म अर्थ लिया गया है यह भी केवल ब्रह्मवादियों की कल्पना ही मालूम होती है। दूसरों ने "आभु" शब्द का अर्थ

पोलार भी किया है। संभव है आभुशब्द से ही आकाश वाचक "आभ" शब्द बना क्योंकि आज कल भी भाषा में आकाश को आभ कहते हैं।

चौथी ऋचा में ब्रह्म मन के रेत = वीर्य और काम इच्छा का समर्थन किया गया है। यह सब भी शरीर के बिना असंभव है। परिपूर्ण को किसकी कामना या इच्छा हो सकती है?

पाँचवीं ऋचा में चेतन और अचेतन सृष्टि तैयार करने में ब्रह्म की शीघ्र कार्यकारिता दिखाई गई है। यहाँ प्रश्न होता है कि चैतन्य स्वरूप ब्रह्म ने अचेतन सृष्टि-आकाश आदि किस प्रकार उत्पन्न किये? सूर्य के किरणों की तरह ब्रह्म की सृष्टि रश्मि का भी ऊँची, नीची और तिर्यक दिशा में फैलना कहा गया है, सूर्य की किरणें आजतक फैलती हुई दिखाई देती हैं। प्रति दिन प्रातःकाल सूर्य की किरणें फैलती रहती हैं उसी प्रकार ब्रह्म रश्मि प्रति दिन क्यों नहीं फैलती? यदि ब्रह्म रश्मि भी प्रतिदिन फैलती रहे तो प्रति दिन नई नई सृष्टि बननी चाहिये, किन्तु ऐसा नहीं होता है। अतःसूर्य की किरणों के साथ इसकी समानता भी कैसे हो सकती है

सृष्टि के भिन्न भिन्न प्रकार, एक दूसरे से विरुद्ध हैं ऐसा सोच कर ही प्रकृत सूक्त की छट्ठी और सातवीं ऋचा में ऋषियों ने सृष्टि के सम्बन्ध में जो भाव व्यक्त किये हैं, वे जिज्ञासुओं के लिए अवश्य विचारणीय हैं। इसीलिए वैदिक सृष्टिवाद के उपसंहार रूप में वे दो ऋचाएँ यहाँ बताई जाती हैं।

को अद्धा वेद कइह प्रवोचत्
कुत आजाता कुत इयं विसृष्टिः

अर्वाग् देवा अस्य विसर्जनेना—
था को वेद यत आवभूव,
(ऋग्० १० । १२६ । ६)

अर्थ—इस जगत् का विस्तार किस उपादान कारण से और किस निमित्त कारण से हुआ है यह परमार्थ रूप से-निश्चय से कौन जान सकता है या इसका वर्णन कर सकता है? कोई नहीं कर सकता। क्या देवता नहीं जान सकते और कह सकते? इसके उत्तर में कहते हैं कि—देवता भूत सृष्टि के बाद उपन्न हुए हैं इसलिये वे पहले की बात कैसे जान सकते हैं? यदि देवताओं को भी यह मालूम नहीं है तो उनके बाद उत्पन्न होने वाले मनुष्यादिक की तो बात ही क्या कहना? अर्थात् मनुष्य कैसे जान सकते हैं कि अमुक निश्चित कारण से ही यह सृष्टि उत्पन्न हुई है।

इयं विसृष्टिर्यत आबभूव
यदि वा दधे यदि वान
योऽस्याध्यक्षः परमे व्योमन्
स्सो अंग वेद यदि वा न वेद॥
(ऋग्० १० । १२६ । ७)

अर्थ—गिरि, नदी, समुद्रादि रूप यह विशेष सृष्टि जिससे उत्पन्न हुई है उसे कौन जानता है? अथवा इस सृष्टि को किसी ने धारण की है या नहीं की है यह भी कौन जान सकता है? क्योंकि इस सृष्टि के अध्यक्ष परमात्मा परम उच्च आकाश में रहते हैं। उस पमारत्मा को भी कौन जानता है? वह परमात्मा स्वयं सृष्टि को जानता है या नहीं? इसकी भी किसको खबर है? क्योंकि

सृष्टि के आरम्भ में देवता या मनुष्य कोई भी हाजिर नहीं थे, उन्हें सृष्टि सम्बन्धी कथा का ज्ञान कैसे हो सकता है ?

ऊपर बताई हुई दो ऋचाओं में सृष्टि के १६ प्रकारों का यह सारांश बताया गया है कि—"प्रभु के घर की बात प्रभु ही जाने" हम नहीं जान सकते। न देव ही जान सकते हैं। जब सृष्टि का आरम्भ हुआ था उस समय देवता या मनुष्य कोई भी उपस्थित नहीं थे इसलिये सृष्टि का मर्म जानना कठिन है, दुर्लभ है। जिस प्रकार सृष्टि का ज्ञान दुर्लभ है उसी प्रकार सृष्टि की रचना करना भी दुर्धर कार्य है। सृष्टि का उपादान कारण ब्रह्म है या कोई ईश्वर है या प्रकृति है अथवा परमाणु उपादान कारण है और ईश्वर निमित्त कारण है यह कोई भी नहीं जानता। यदि कोई जानता होता तो सृष्टि के सम्बन्ध में इतने मत भेद नहीं होते।

उपसंहार

सूयगडांग सूत्र के प्रथम अध्ययन के तीसरे उद्देशे की नौवीं गाथा में "सएहिं परियाएहिं लोयं बूया कडेतिय तत्तं तेन वियाणन्ति" इन तीन पदों में जो भाव कहा गया है उसका विस्तार ही सृष्टि के १६ प्रकार हैं "तत्तं ते न वियाणन्ति" इस तीसरे पद का रहस्य नासदीय सूक्त की ऊपर बताई हुई छट्ठी और सातवीं ऋचा में ठीक स्पष्ट प्रकट होता है अर्थात्—सृष्टि का तत्व कोई नहीं जानता। तत्व जाने बिना अपनी अपनी बुद्धि से या कल्पना से सृष्टिवाद उत्पन्न किया गया है वास्तव में लोक का स्वरूप क्या है यह चौथे पद में बताया गया है जिस का वर्णन आगे किया जायगा।

आर्य समाज-सृष्टि

(सत्यार्थ प्रकाश हिन्दी, नववीं आवृत्ति, अष्टम उल्लास के आधार से)

इस जगत की उत्पत्ति में प्रकृति उपादान कारण है और परमेश्वर निमित्त कारण है। प्रकृति, ईश्वर और जीव ये तीनों अनादि, परस्पर भिन्न और अज—जन्म-रहित हैं। तीनों जगत के कारण हैं किन्तु इनका कोई कारण नहीं है। अनादि काल से जीव प्रकृति का भोग कर रहा है और उसमें फँसता जाता है। किन्तु ईश्वर न तो प्रकृति का भोग करता है और न फँसता ही है। सत्त्व रज, और तम की साम्यावस्थारूप प्रकृति है। उससे महत्तत्त्व-बुद्धि, बुद्धि से अहङ्कार, अहङ्कार से पांच तन्मात्राएँ-सूक्ष्मभूत, दस इन्द्रियाँ और मन, पांच तन्मात्राओं से पांच महाभूत इस प्रकार २४ तत्त्व हुए और पचीसवाँ पुरुष अर्थात् जीव और परमात्मा। यह पचीस तत्त्वों का क्रम है (स० प्र० हिं० पृ० २१६)

कारण के प्रकार

कारण के तीन प्रकार हैं—१ निमित्त कारण २ उपादान कारण ३ साधारण कारण। निमित्त कारण के दो भेद-मुख्य निमित्त कारण और साधारण निमित्त कारण। जगत की रचना करने में, पालन करने में, सँहार करने में, और व्यवस्था करने में मुख्य निमित्त कारण ईश्वर परमात्मा है और साधारण निमित्त कारण जीव है जो कि परमेश्वर की सृष्टि से पदार्थों को ग्रहण करके अनेक प्रकार के कार्य करता है। जिसके विना कार्य न हो सके,

जो स्वयं अवस्थान्तर रूप बनता है या बिगड़ता है वह उपादान कारण कहा जाता है। जैसे जगत का उपादान कारण प्रकृति है। दिशा, काल, आकाश आदि साधारण कारण हैं। प्रकृति-परमाणु स्वयं जड़ है अतः अपने आप न तो बन सकती हैं और न बिगड़ सकती है किन्तु दूसरों के बनाने से बनती है और बिगाड़ने से बिगड़ती है। कहीं कहीं जड़ के निमित्त से भी जड़ बन बिगड़ सकता है जैसे परमेश्वर द्वारा रचित बीज पृथ्वी में गिरने से और जल का संयोग मिलने से अपने आप वृक्ष रूप बन जाता है और अग्नि आदि जड़ के सँयोग से नष्ट भी हो जाता है किन्तु नियम पूर्वक बनना और बिगड़ना परमेश्वर और जीव के आधीन है। (स० प्र० हिं० पृ०२२१)

जगत् बनाने में ईश्वर का क्या प्रयोजन है ?

जगत् की रचना करने में ईश्वर को ये प्रयोजन हैं—१ प्रलय की अपेक्षा सृष्टि में कई गुना सुख रहा हुआ है, जगत् बनाने से वह सुख जीवों को प्राप्त होता है। २ प्रलय में न तो पुरुषार्थ है और न मोक्ष ही, जगत् रचना करने से कई जीव पुरुषार्थ करके मोक्ष प्राप्त करते हैं। ३ प्रलय के पहले के जीवों के द्वारा किए हुए पुण्य पाप के फल सृष्टि के बिना जीव नहीं भोग सकते अतः जीवों के द्वारा पुण्य पाप का फल भोग कराना यह तीसरा प्रयोजन है। ४ ईश्वर का ज्ञान और बल सृष्टि बनाये बिना निरर्थक हो जाते, सृष्टि बनाने से वे सार्थक हो गये हैं। ५ सब जीवों को जगत् के असंख्य पदार्थ देकर परोपकार करना पाँचवां प्रयोजन है।

(स० प्र० हिं० पृ० २२४)

प्रश्नोत्तर

प्रश्न—वृक्ष पहले हैं या बीज पहले हैं ?

उत्तर—बीज पहले हैं क्योंकि हेतु, निदान, निमित्त, बीज और कारण ये सब पर्याय—एकार्थ वाचक शब्द हैं। कारण का ही नाम बीज होने से कार्य के पूर्व उपस्थित होता है।

प्रश्न—यदि परमेश्वर सर्वशक्तिमान् है तो वह प्रकृति और जीवों को भी क्यों नहीं बनाता ?

उत्तर—परमेश्वर सर्वशक्तिमान् होता हुआ भी स्वाभाविक नियम के विरुद्ध कुछ नहीं करता। जैसे जल की शीतलता, अग्नि की उष्णता स्वाभाविक हैं अतः ईश्वर इनका परिवर्तन नहीं कर सकता। सर्वशक्तिमान् का अर्थ इतना ही है कि परमात्मा किसी की सहायता लिए बिना अपने सब कार्य पूरे कर सकता है।

प्रश्न—ईश्वर साकार है या निराकार ?

उत्तर—ईश्वर निराकार है। यदि साकार अर्थात् शरीर युक्त होता तो वह ईश्वर नहीं बन सकता। क्योंकि शरीरधारियों में शक्ति परिमित होती है। देश काल की परिछिन्नता, क्षुधा, तृषा, छेदन, भेदन, शीतोष्णता, ज्वर पीड़ा आदि ईश्वर में पाये जाते किन्तु ये सब जीव के गुण हैं। ईश्वर में ये गुण घटित नहीं हो सकते अतः वह निराकार-अशरीरी है। हम लोगों के समान यदि ईश्वर साकार होता तो त्रसरेणु, अणु, परमाणु और प्रकृति को अपने वश न कर सकता और सूक्ष्म पदार्थों से स्थूल जगत् भी न बना सकता। वह निराकार होता हुआ भी अनन्त शक्ति बल, पराक्रम से सब कार्य कर सकता है।

वह प्रकृति से भी सूक्ष्म है अर्थात् प्रकृति में व्याप्त होकर उसे पकड़ कर जगदाकार बना देता है।

प्रश्न—निराकार ईश्वर से साकार जगत् कैसे बना?

उत्तर—यदि परमेश्वर जगत् का उपादान कारण होता तो निराकार ईश्वर से साकार जगत् नहीं बन सकता किन्तु हम तो ईश्वर को निमित्त कारण मानते हैं, उपादान कारण प्रकृति-परमाणु हैं। परमाणु साकार हैं अतः साकार परमाणु-प्रकृति से साकार जगत् उत्पन्न हो सकता है।

प्रश्न—क्या उपादान कारण के बिना परमेश्वर कुछ भी नहीं कर सकता?

उत्तर—हाँ, उपादान कारण के बिना ईश्वर कुछ नहीं कर सकता। असत् का सत् कोई नहीं कर सकता। क्या किसी ने वंध्या पुत्र और वंध्या पुत्री का विवाह देखा है? नरशृङ्ग का धनुष, खपुष्प की माला, मृगतृष्णिका के जल में स्नान, गन्धर्व नगर में निवास, बादल के बिना वर्षा और पृथिवी के बिना अन्न की उत्पत्ति क्या किसी ने देखी है? नहीं।

प्रश्न—कारण बिना कार्य नहीं हो सकता तो कारण का कारण क्या है?

उत्तर—जो केवल कारण रूप हैं वे कार्य रूप नहीं होते। प्रकृति केवल कारण रूप होने से उसका कोई कारण नहीं है। परमेश्वर, जीव, प्रकृति, काल और आकाश ये पांचों अनादि हैं अतः इनका कोई कारण नहीं है और इनमें से किसी एक की भी अनुपस्थिति में कोई भी कार्य नहीं हो सकता।

(स० प्र० हिं० पृ० २२५—२२६)

प्रश्न—ईश्वर अपनी इच्छा के अनुसार कर्मफल देता है या कर्मानुसार फल देता है ?

उत्तर—ईश्वर फल देने में स्वतन्त्र होता तो कर्म किये विना भी शुभ या अशुभ फल अपनी इच्छानुसार देता या किसी को क्षमा भी कर देता किन्तु ऐसा नहीं होता है। जिस जीव ने जैसा कर्म किया हो उसको उसी के अनुसार ईश्वर फल देता है। अर्थात् ईश्वर कर्मों के आधीन रह कर फल देता है।

(स० प्र० हिं० पृ० २२७)

प्रश्न—कल्प कल्पान्तर में ईश्वर भिन्न भिन्न प्रकार की सृष्टि वनाता है या एक समान ही ?

उत्तर—वर्तमान में जैसी सृष्टि है वैसी ही पहिले थी और भविष्य में भी वैसी ही वनायेगा। किसी प्रकार का भी उसमें भेद नहीं होता। कहा है कि—

सूर्याचन्द्रमसौ धाता यथापूर्वमकल्पयत्।
दिवं च पृथिवीं चान्तरिक्षमथो स्वः॥

(ऋ० १०। १९०। ३)

अर्थ—परमेश्वर ने पूर्व कल्प में जैसे सूर्य, चन्द्र, विद्युत् पृथिवी, अन्तरिक्ष और स्वर्ग वनाये थे वैसे ही वर्तमान में वनाता है और भविष्य में भी वनायेगा।

(स० प्र० हिं० २३०)

प्रश्न—मनुष्य की सृष्टि पहिले हुई या पृथिवी आदि की ?

उत्तर—पृथिवी आदि की सृष्टि पहिले हुई है क्योंकि

पृथिवी आदि के विना मनुष्य की स्थिति नहीं हो सकती ।

प्रश्न—सृष्टि की आदि में ईश्वर ने एक मनुष्य पैदा किया या अनेक ?

उत्तर—अनेक, क्योंकि प्रलय काल में मनुष्य होने योग्य कर्म वाले अनेक जीव थे, उन सब को मष्नुय बनाया ।

प्रश्न—सृष्टि की आदि में मनुष्य आदि जातियाँ वाल्य, युवा और वृद्धा अवस्था में से किस अवस्था में पैदा हुईं ?

उत्तर—सभी जातियाँ युवावस्था में पैदा हुई हैं क्योंकि यदि ईश्वर वाल्य अवस्था में पैदा करता तो पालन पोषण करने के लिए माता पिता की आवश्यकता पड़ती है और वृद्धावस्था में पैदा करता तो भविष्य के लिए मैथुनी सन्तति की परम्परा न चलती अतः युवा पुरुष आदि ही वनाये।

प्रश्न—सृष्टि का किसी काल में आरम्भ हुआ है या नहीं ?

उत्तर—एक सृष्टि की अपेक्षा आरम्भ है किन्तु प्रवाह की अपेक्षा आरम्भ नहीं है। दिन के पश्चात् रात्रि और रात्रि के पश्चात् दिन के समान सृष्टि के वाद प्रलय और प्रलय के वाद सृष्टि अनादि काल से चली आती है।

प्रश्न—ईश्वर ने कीट, पतंग, गाय, वैल, सिंह, वाघ आदि ऊँच नीच प्राणी क्यों वनाये ? क्या इसमें ईश्वर का पक्षपात नहीं है ?

उत्तर—नहीं, ईश्वर ने अपनी इच्छा से प्राणियों को छोटा वड़ा नहीं वनाया है। किन्तु प्रलयकाल में जिसके जैसे कर्म थे

उनके अनुसार छोटी बड़ी जाति में जीवों को उत्पन्न किया है। इसलिए ईश्वर के ऊपर पक्षपात का दोष नहीं लग सकता।

प्रश्न—मनुष्यों की प्रथम सृष्टि किस स्थल में हुई ?

उत्तर—त्रिविष्टप में अर्थात् जिसको आजकल तिब्बत कहते हैं।

प्रश्न—आदि सृष्टि में जाति एक थी या अनेक ?

उत्तर—मनुष्य जाति एक रूप ही थी। ब्राह्मण क्षत्रिय आदि भेद न थे। पीछे से "विजानीह्यार्याऽन्ये च दस्यवः" ऋ० अर्य, दस्यु-अनार्य ऐसे भेद हुए।

प्रश्न—वे मनुष्य यहाँ कैसे आये ?

उत्तर—आर्य और अनार्यों में झगड़ा हो गया, परस्पर विरोध हो गया, अतः आर्य लोग चारों ओर फैल गये और इस भूमि को सर्वथा श्रेष्ठ मानकर यहाँ आ बसे। तभी से यह आर्यावर्त्त कहा गया है।

(स० प्र० हिं० २३४-२३५)

प्रश्न—जगत् की उत्पत्ति कितने समय में हुई ?

उत्तर—एक अब्ज (अरब) छियानवे करोड़ कई लाख और अनेक हजार वर्षों में हुई है। वेदों के प्रकाशित होने में भी इतना ही समय लगा है।

प्रश्न—ईश्वर नें किस क्रम से पृथिवी आदि बनाये ?

उत्तर—सबसे बारीक अंश परमाणु है। साठ परमाणुओं का एक अणु, दो अणुओं का एक द्व्यणुक जो स्थूल वायु रूप है। तीन द्व्यणुकों का अग्नि, चार द्व्यणुकों का जल, पाँच

द्वयणुकों की पृथिवी अर्थात् तीन द्वयणुक का त्रसरेणु और उसे दुगुना करने से पृथिवी आदि दृश्य पदार्थ हो जाते हैं। इस क्रम से भूगोल आदि ईश्वर ने बनाये हैं।

प्रश्न—पृथिवी आदि को कौन धारण कर रहा है?

उत्तर—ईश्वर पृथ्वी आदि जगत को धारण करता है। पृथिवी शेषनाग, बैल के सींग, वायु या सूर्य के आधार पर नहीं है क्योंकि अथर्ववेद के १४ वें काण्ड में कहा गया है कि 'सत्येनोत्तम्भिता भूमि: अर्थात् सत्य—ईश्वर के द्वारा भूमि आदित्य आदि धारण किये हुए हैं।

प्रश्न—इतने बड़े ब्रह्माण्ड को ईश्वर ने कैसे धारण कर रखा है?

उत्तर—लोक असंख्य हैं मगर ईश्वर अनन्त है। ईश्वर के समक्ष लोक परमाणुवत् हैं।

प्रश्न—पृथिवी घूमती है या स्थिर?

उत्तर—घूमती है।

(स० प्र० हिं० २३८। २३९। २४०)

प्रश्न—सूर्य, चन्द्र, तारा क्या हैं? उनमें मनुष्य आदि सृष्टि है या नहीं?

उत्तर—ये सब भूगोललोक हैं। इनमें मनुष्य आदि प्रजा भी है।

प्रश्न—सूर्यादिक लोकवासी मनुष्यों की आकृति यहाँ के मनुष्यों के समान है या विपरीत?

उत्तर—थोड़ा आकृति भेद हो सकता है। जैसे आफ्रिका और यूरोप के मनुष्यों की आकृति में भेद है वैसे ही सूर्यादिलोक में भी समझना चाहिए।

(स० प्र० हिं पृ० २४१-२४२)

समालोचना

स्वामी जी ने सत्यार्थप्रकाश में वेदान्त, सांख्य और न्यायदर्शन का मिश्रण करके सृष्टि प्रक्रिया की कल्पना की है। वेदान्त की ब्रह्मपरक श्रुति से निराकार ईश्वर उद्धृत किया गया है। वेदान्त जिस ब्रह्म को जगत् का उपादान कारण मानता है उसी को स्वामी जी निमित्त कारण बता कर न्यायदर्शन का आश्रय लेते हैं। ब्रह्म से अभिन्न माया को स्वतन्त्र प्रकृतिरूप बता कर सांख्य दर्शन में प्रवेश करते हैं। सांख्यदर्शन के प्रकृति और पुरुष दोनों स्वतन्त्र तत्त्वों को स्वामी जी ने वैसे के वैसे ही स्वतंत्र और अनादि अनन्त मान लिये हैं। किन्तु पुरुष तत्त्व में जीव और ईश्वर दोनों का समावेश कर लिया है। सांख्य के पच्चीसतत्त्वों में ईश्वर का नाम नहीं है। स्वामी जी ने पच्चीस तत्त्व तो पूरे पूरे सांख्यों के ही लिए हैं किंतु छव्वीसवाँ ईश्वर तत्त्व वेदान्त से लिया है और उसको पुरुष तत्त्व में मिला दिया है। सांख्य का पुरुष कर्त्ता नहीं है किन्तु भोक्ता है, जब कि स्वामी जी का ईश्वर भोक्ता नहीं किन्तु कर्त्ता है। इतनी विलक्षणता होते हुए भी स्वामी जी ने उसका पुरुष तत्त्व में समावेश कैसे कर डाला, समझ में नहीं आता। दूसरी तरफ ऐसा भी कहा है कि प्रकृति, पुरुष-जीव और ईश्वर ये तीनों परस्पर भिन्न हैं, इस हिसाब से स्वामी जी की सृष्टि में छव्वीस तत्त्व हैं ऐसा कहना अनुचित न होगा। इतना ही नहीं किन्तु साधारण कारण में दिशा, काल

और आकाश की भी गणना की गई है और तीनों को अनादि तथा अविनाशी बताया गया है। आकाश तो पंच महाभूतों में आ गया है किन्तु काल और दिशा जो वैशेषिक दर्शन में नौ-द्रव्यों में गिने हुए हैं उनको छब्बीस के साथ जोड़ने पर अट्ठाईस तत्त्व हो जाते हैं। दूसरी बात यह है कि सांख्य दर्शन में आकाश की गणना पंच महाभूतों में है और पंचमहाभूत पांच तन्मात्राओं से उत्पन्न हुए हैं अतः विनाशी सिद्ध हुए किन्तु स्वामी जी ने प्रकृति की तरह आकाश को भी अनादि कहा है, क्या इन दोनों कथनों में परस्पर विरोध नहीं है? अस्तु कुछ भी हो, इतना तो स्पष्ट है कि स्वामीजी की सृष्टि प्रक्रिया या तत्त्व प्रक्रिया एक दर्शन मूलक नहीं है। कोई वस्तु सांख्य दर्शन से, कोई वेदान्त से, कोई न्याय दर्शन से, कोई वैशेषिक दर्शन से, कोई जैन दर्शन से और कोई अन्य किसी दर्शन से, जो अपनी बुद्धि को न्याय सङ्गत मालूम हुई स्वामी जी ने स्वीकार की है। एक प्रकार से तो स्वामी जी ने ठीक ही किया है क्योंकि कहा है 'युक्तियुक्तं प्रगृह्णीयात् बालादपि विचक्षणः। अन्यत्तृणमिव त्याज्य-मप्युक्तं पद्मयोनिना" क्या ही अच्छा होता यदि सर्व प्रकार से इस पद्धति का अनुसरण किया जाता। सांख्य के प्रकृति पुरुष को जिस प्रकार स्वतंत्र और अनादि स्वीकार कर लिया गया है उसी प्रकार पुरुष के बद्ध और मुक्त दो प्रकार स्वीकार करके मुक्त पुरुष को ऐश्वर्ययुक्त होने से ईश्वर मानते हुए पुरुष के समान उसे अकर्त्ता मान लिया जाता तो श्रुतियों के अर्थ में परिवर्तन करने की आवश्यकता न पड़ती। स्वामी जी ने स्मृति और पुराणों का मोह छोड़ दिया है; किन्तु अपनी सृष्टि प्रक्रिया को प्राचीन बताने का मोह नहीं छोड़ सके और इसीलिए वेदों के अर्थ में परिवर्तन करके ऋचाओं के शब्दों के प्रति गहरा मोह जाहिर किया है। अपनी कृति पर

वेदों की छाप लगाने के लिए शब्द मोह को न छोड़ सके। कहाँ कहाँ अर्थ में परिवर्तन करना पड़ा है उसके थोड़े नमूने यहाँ दिखाये जाते हैं—

(१) इयं विसृष्टिर्यत आबभूव यदि वा दधे यदि वा न।
योऽस्याध्यक्षः परमे व्योमन्त्सो अंग वेद यदि वा न वेद॥
(ऋग्० १० । १२९ । ७)

अर्थ—सायणभाष्य के अनुसार—गिरि, नदी, समुद्रादि रूप यह विशेष सृष्टि किससे बनी है यह कौन जानता है? अथवा इस सृष्टि को किसी ने धारण किया है या नहीं यह भी कौन जानता है? क्यों कि इस सृष्टि के अध्यक्ष परमात्मा परम उच्च आकाश में रहते हैं, उनको भी कौन जानता है? वह परमात्मा स्वयं सृष्टि को जानता है या नहीं? धारण करता है या नहीं? इसका भी किसे पता? सृष्टि की आदि में—आरम्भ में देवता या मनुष्य कोई उपस्थित न थे, तो उन्हें सृष्टि सम्बन्धी ज्ञान कहाँ से होता?

सत्यार्थ प्रकाश के अनुसार अर्थ—

हे (अंग) मनुष्य! जिससे यह विविध सृष्टि प्रकाशित हुई है, जो धारण और प्रलय करता है, जो इस जगत् का स्वामी, जिस व्यापक में यह सब जगत् उत्पत्ति स्थिति प्रलय को प्राप्त होता है सो परमात्मा है, उसको तू जान और दूसरे को सृष्टि कर्त्ता मत मान।

(स० प्र० हिं० पृ० २१८)

आर्यसमाजी पण्डित जयशंकर लिखित भाषानुसार अर्थ—

यह विविध प्रकार की सृष्टि जिस मूल तत्त्व से प्रकट हुई है और जो इस जगत् को धारण कर रहा है और जो नहीं धारण करता जो इसका अध्यक्ष वह प्रभु परम पद में विद्यमान है। वे विद्वन्! वह सब तत्त्व जानता है, चाहे और कोई भले ही न जाने।

(२) पुरुष एवेदं सर्वं यद्भूतं यच्च भाव्यं उतामृतत्वस्येशानो यदन्नेनातिरोहति।

(यजु० अ० ३१ मं० २)

सत्यार्थ प्रकाश के अनुसार अर्थ—

हे मनुष्यो ? जो सब में पूर्ण पुरुष और जो नाश रहित कारण और जीव का स्वामी जो पृथिव्यादि जड़ और जीव से अतिरिक्त है वही पुरुष इस सब भूत, भविष्यत् और वर्तमानस्थ जगत् को बनाने वाला है।

(स० प्र० हिं० पृ० २१८)

दयानन्द तिमिर भास्कर के अनुसार अर्थ—

(इदं) यह (यत्) जो (भूतं) अतीत ब्रह्म संकल्प जगत् है (च) और (यत्) जो (भाव्यं) भविष्य संकल्प जगत् है (उत) और (यत्) जो (अन्नेन) बीज या अन्नपरिणाम वीर्य से (अतिरोहति) वृक्ष नर पशु आदि रूप से प्रकट होता है (सर्वं) वह सब (अमृतत्वस्य) मोक्ष का (ईशानः) स्वामी (पुरुषः) नारायण (एव) ही है।

(द० ति० भा० पृ० २५३)

(३) यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते येन जातानि जीवन्ति।
यत्प्रयन्त्यभिसंविशन्ति तद्विज्ञासस्व तद् ब्रह्म ॥ १ ॥
(तै० उप०भृगुवल्ली अनु०१)

सत्यार्थ प्रकाश के अनुसार अर्थ—

जिस परमात्मा की रचना से ये सब पृथिव्यादि भूत उत्पन्न होते हैं, जिससे जीव और जिसमें प्रलय को प्राप्त होते हैं, वह ब्रह्म है, उसके जानने की इच्छा करो।

(स० प्र० हिं० पृ० २१८)

दयानन्द तिमिर भास्कर के अनुसार अर्थ—

जिससे यह प्राणी उत्पन्न होते और उसी से जीते और अन्त में उसी में प्रवेश करते हैं उसे ही ब्रह्म जानो।

(ति० प्र० भा० पृ० २५४)

सत्यार्थ प्रकाश पृष्ठ२३४ में "मनुष्या ऋषयश्च ये ततो मनुष्या अजायन्त"। यह उद्धरण यजुर्वेद के नाम से उद्धृत किया गया है। किन्तु दयानन्द तिमिरभास्करकार कहते हैं कि यह वाक्य यजुर्वेद में कहीं भी नहीं है। हाँ, शतपथ ब्राह्मण में "ततो मनुष्या अजायन्त" वाक्य एक श्रुति के अन्तर्गत है। किन्तु इसे तो स्वामी जी प्रमाणरूप नहीं मानते हैं। क्योंकि वे शतपथ ब्राह्मण को एक पुराण रूप मानते हैं। पुराण का उद्धरण यजुर्वेद के नाम से देना उचित नहीं है। यह तो एक प्रकार की धोखेबाजी होगी, शतपथ ब्राह्मण की श्रुति से जवान-जवान पुरुष, जवान-जवान स्त्रियाँ, जवान-जवान गायें और जवान-जवान बैल इत्यादि अर्थ नहीं निकलता है। वैसी हालत में जवान-जवान

मनुष्यों का निराकार ईश्वर से प्रकट होना कहाँ तक ठीक है? यह कल्पना स्वामी जी ने अपने मन से की है या किसी श्रुति का भी आधार है ? 'ततो मनुष्या अजायन्त' इस सारी श्रुति से अद्वैत पक्ष और ईश्वर की साकारता सिद्ध होती है जो कि स्वामी जी के मन्तव्य से विरुद्ध है। इसीलिए उद्धरणरूप से सारी श्रुति न देकर केवल उपयुक्त पद ही दिया है। युक्तिवादी स्वामी जी को श्रुति का मोह न छूट ने से श्रुति के पीछे दौड़ना पड़ा है। चाहे उस में वह अर्थ हो या न हो, प्रसिद्ध अर्थ की रक्षा होती हो चाहे बदलना पड़ा हो तो भी उसका उद्धरण दिये बिना न रह सके।

निमित्तकारण के दो भेद-मुख्य निमित्तकारण और साधारण निमित्त कारण। ये भेद किसी शास्त्र में नहीं देखे गये। केवल स्वामी जी ने ही ईश्वर को कारण कोटि में प्रविष्ट करने के लिए यह कल्पना की है ऐसा मालूम पड़ता है। इसमें प्रत्यक्ष प्रमाण तो है ही नहीं क्योंकि निराकार ईश्वर किसी को दृष्टि गोचर नहीं होता। आगम प्रमाण विवादास्पद है। स्वयं वेद की श्रुतियाँ ब्रह्म को उपादान कारण बताने वाली हैं। यद्यपि स्वामी जी ने उनके अर्थ में परिवर्तन करके निमित्त कारण रूप अर्थ करने की कोशिश की है किन्तु दयानन्द तिमिरभास्कर नामक पुस्तक के पृ० २६० से २६५ में पण्डित ज्वालाप्रसाद जी ने खूब जोर शोर से इसका प्रतिवाद किया है। अब रहा अनुमान प्रमाण, उसका उत्तर मीमांसा दर्शन, बौद्ध दर्शन और जैन दर्शन ने उत्तर पक्ष में विस्तार से दिया है, वह यथास्थान दिखाया जायगा। यहाँ तो संक्षेप में इतना ही बताना है कि कुम्भकार मिट्टी से घड़ा बनाता है इस दृष्टान्त में मिट्टी उपादान कारण है,

दण्ड चक्रादि साधारण निमित्त कारण और कुम्भकार मुख्य निमित्त कारण है। यहाँ ईश्वर को निमित्त कारण बनने का कहाँ अवकाश है। कुम्भकार में ज्ञान, इच्छा और प्रयत्न तीनों ही मौजूद हैं। कारण सामग्री में क्या न्यूनता रह गई है कि बीच में ईश्वर को डालने की आवश्यकता पड़े। कदाचित् यों कहो कि पर्वत, नदी, समुद्र, सूर्य, चन्द्र आदि मनुष्य से नहीं बनाये जा सकते अतः इनके बनाने में ईश्वर मुख्य निमित्त है तो यह कथन भी ठीक नहीं है। सूर्य, चन्द्र, द्वीप, सागर, स्वर्ग, नरक आदि कई पदार्थ शाश्वत हैं। प्रकृति, जीव, आकाश आदि की तरह ये भी अनादि हैं। द्रव्यरूप से नित्य हैं और पर्याय रूप से अनित्य हैं। पर्यायों का परिवर्तन काल के निमित्त से होता है, रूपान्तर होने का प्रकृति का स्वभाव है। नदी, पर्वत आदि अनित्य है, ये वायु जल, विद्युत् भूकम्प आदि निमित्तों से बनते और बिगड़ते हैं। ये एक दिन में नहीं बनते बिगड़ते किन्तु इनके बनने बिगड़ने में हजारों लाखों वर्ष व्यतीत हो जाते हैं। यदि ये पर्वत ही आदि ईश्वर द्वारा बने हुए होते तो एक ही दिन में बन जाने चाहिएँ और बिगड़ जाने चाहिए किन्तु ऐसा नहीं होता। स्वामी जी से यह पूछना चाहिए कि रेल, मील, तार, टेलीफोन, फोनोग्राफ आदि अनेक प्रकार के यन्त्र ईश्वर के द्वारा बनाये हुए हैं या मनुष्यों की शोधखोज के परिणाम हैं? यदि ईश्वर के द्वारा बनाये हुए होते तो जब से यह सृष्टि है तभी से उपर्युक्त यंत्र बने हुए होते किन्तु ऐसा नहीं है। इन यन्त्रों का आविष्कार तो अमुक अमुक समय में अमुक अमुक विशेष व्यक्तियों के द्वारा हुआ है। भाफ और विद्युत् की क्या कम शक्ति है? इनकी सहायता से ड्राइवर कितना काम कर सकता है यह सब जानते हैं।

आपके ईश्वर को तो नियम प्रकृति, काल आदि के अधीन रह कर कार्य करना पड़ता है। कहिए, अधिक शक्तिशाली कौन रहा? पृथिवी पानी, वृक्ष, मनुष्य, तिर्यञ्च आदि सभी शरीररूप हैं और शरीर सब जीव से बने हुए हैं। जीव पूर्व कर्म की सहायता से परमाणु समूह से बने हुए स्कन्ध को ग्रहण करता है और उसे कर्मरूप या शरीररूप बनाता है। एक एक जीव क्रम-क्रम से सारी दुनिया को बना सकता है तो निराकार ईश्वर को इस दुनियादारी की खट-पट में पड़ने की क्या आवश्यकता है? इतना तो स्वामी जी भी स्वीकार करते हैं "कहीं कहीं जड़ के निमित्त से ही जड़ बन सकता है और बिगड़ सकता है"। पृथिवी में बीज गिरने से और जल का संयोग मिलने से अपने आप वृक्ष बन जाता है। गर्मी के संयोग से पानी से भाप बन कर आकाश में जाकर बादल बन कर अपने आप बरसने लगता है। स्वामी जी कहते हैं कि नियम पूर्वक बनना बिगड़ना ईश्वर और जीव के अधीन है किन्तु यह बात भी ठीक नहीं है। नियम का अर्थ कायदा कानून नहीं किन्तु वस्तु स्वभाव है। वस्तु अपने स्वभाव की मर्यादा में रहे यही नियम है। बट के बीज में बटवृक्ष बनने का स्वभाव है और बबूल के बीज में बबूल बनने का। इस नियम के अनुसार ईश्वर के किंचित्मात्र प्रयत्न के बिना भी बट के बीज से बट और बबूल के बीज से बबूल ही बनेगा। जीव तो बीज में भी रहा हुआ है। अतः जीव और पुद्गल-प्रकृति इन दोनों के संयोग से सारे संसार का व्यवहार, उत्पत्ति, प्रलय आदि चल सकते हैं। निराकार ईश्वर को बीच में डालना निरर्थक है।

सृष्टि बनाने के प्रयोजन

स्वामी जी ने सृष्टि के पाँच कारण बताये हैं, उनकी योग्या-योग्यता का परामर्श करें—पहला प्रयोजन यह बताया कि प्रलय की अपेक्षा सृष्टि में सुख अधिक है. दूसरा प्रयोजन यह है कि प्रलयकाल में पुरुपार्थ नहीं है और सृष्टि में पुरुपार्थ से मोक्ष की प्राप्ति होती है। इन दोनों प्रयोजनों में प्रलय की अनिष्टता और सृष्टि की इष्टता बताई गई है वह तो ठीक है। हम भी स्वीकार करते हैं कि सृष्टि में पुरुपार्थ करके मनुष्य मोक्ष प्राप्त करते हैं। किन्तु प्रलय करने का कार्य भी स्वामी जी तो ईश्वर के मत्थे मढ़ते हैं। जिस ईश्वर ने प्राणियों को अधिक सुख देने के लिए पुरुपार्थ के द्वारा मोक्ष प्राप्त कराने के लिए सृष्टि रचना की है वही ईश्वर सृष्टि का संहार क्यों करता है? अधिक सुख भोगते हुए और मोक्ष प्राप्त करते हुए प्राणियों की ईश्वर ईर्पा तो नहीं करने लगा है? ईश्वर सदा काल सृष्टि बनी रहने दे और प्रलय न करे तो बेचारे मनुष्य अधिक सुख भोगते रहते और कोई-कोई पुरुषार्थ करके मोक्ष भी प्राप्त कर लेते। इससे ईश्वर को क्या नुकसान था?

तीसरे प्रयोजन में बतलायागया था कि प्रलय के पूर्व के पुण्य पाप का फल भुगताने के लिये ईश्वर सृष्टि रचना करता है। यह कहना ठीक है किन्तु स्वामी जी को यह तो बताना चाहिए कि प्रलय के पूर्व जब प्राणी अपने पुण्य पाप का भोग कर रहे थे तब ईश्वर ने प्रलय करके उनके कर्म भोग को क्यों रोक दिया था? प्रलय में तो फल भोग नहीं हो सकता। सृष्टि के समय ईश्वर की जो इच्छा थी वह प्रलय के वक्त क्यों बदल गई?

सनातनियों के मत से तो साकार ईश्वर ब्रह्मा, विष्णु, रुद्र आदि रूप भिन्न भिन्न स्वांग धारण करके भिन्न भिन्न कार्य करता है। किन्तु आपके निराकार ईश्वर का रूप बदलता ही नहीं है तो उसकी इच्छा क्यों बदल गई इसका कारण बताओगे? चौथा और पांचवाँ प्रयोजन यह बताया था कि ज्ञान और बल का उपयोग करना और सुख सामग्री प्रदान करके परोपकार करना। प्रयोजन दोनों ठीक हैं किन्तु प्रलय करने में तो दोनों प्रयोजन विपरीत हो जाते हैं अर्थात् प्रलय में ईश्वर का ज्ञान और बल का प्रयोग स्थगित हो जाता है, अतः सृष्टि का एक भी प्रयोजन प्रलय में कायम नहीं रहता है। हाँ, यदि प्रलय न किया जाता तो थोड़ी देर के लिए आपके बताये हुए प्रयोजन मान लिये जाते, किन्तु ईश्वर को प्रलय कर्त्ता बता कर आपने सब प्रयोजन व्यर्थ कर दिये। वस्तुतः सृष्टि काल में सभी जीव सुखी नहीं। होते सुखी थोड़े और दुखी अधिक देखे जाते हैं। देवता की अपेक्षा नारकी अधिक होते हैं। मनुष्यों की अपेक्षा पशु पक्षी आदि तिर्यञ्च, एकेन्द्रिय पृथिव्यादि जीव और निगोद अधिक हैं और संसार में कष्ट सहन कर रहे हैं। उनके लिए उपकार हुआ है या अपकार? सुख दुःख अपने अपने कर्मों के अनुसार होते हैं तो बीच में ईश्वर को ला डालने की क्या आवश्यकता है? ऐसा क्यों नहीं स्वीकार कर लेते कि ईश्वर सृष्टि भी नहीं करता है और प्रलय भी नहीं। जीव अपने अपने कर्मों के अनुसार जन्म मरण करते रहते हैं।

बीज और वृक्ष का अनुक्रम

स्वामी जी ने वृक्ष पहले है या बीज पहले है? यह प्रश्न पूछ कर स्वयं ही उत्तर दे दिया कि बीज पहले है। ऐसा ही प्रश्न

भगवती सूत्र में रोह अणगार ने भगवान् महावीर स्वामी से पूछा है कि—मुर्गी पहले है या अण्डा ? महावीर ने उत्तर देने की दृष्टि से प्रश्न किया कि हे रोह ! मुर्गी किससे हुई ? रोह ने कहा अण्डे से । पुनः भगवान् ने पूछा कि अण्डा कहाँ से हुआ ? उत्तर, हे भगवन् मुर्गी से । तब पूर्वापर का कहाँ सवाल रहा ? मुर्गी भी पहले है और अण्डा भी पहले है अर्थात् दोनों का प्रवाह अनादि है । इसी प्रकार वृक्ष भी पहले है और बीज भी । वृक्ष वा विना बीज नहीं और बीज विना 'वृक्ष न हीं । दोनों का प्रवाह अनादि है । 'बीज ईश्वर ने बनाये और वृक्ष बीज से उत्पन्न हुए हैं' ऐसा कहने के बजाय वृक्ष ईश्वर ने बनाये और बीज वृक्ष से उत्पन्न हुए हैं ऐसा क्यों नहीं कह सकते ? क्या वृक्ष बनाने में ईश्वर को अधिक कष्ट होता था ? यदि बीज वृक्ष का कारण है तो वृक्ष भी बीज का कारण है । एक में क्या विनिगमना (एक पक्षपाती युक्ति) है ? वस्तुतः ऐसा कहना उचित है कि दोनों का प्रवाह अनादि है । ईश्वर नियम के विरुद्ध कुछ भी नहीं कर सकता । अतः वृक्ष से बीज और बीज से वृक्ष अपने आप होते हैं यह नियम स्वभाव सिद्ध है ।

ईश्वर साकार है या निराकार ?

इसके उत्तर में ईश्वर को निराकार बताकर स्वामीजी ने दीर्घदर्शिता प्रदर्शित की है । साकार बताने पर ईश्वर की लम्बाई, चौड़ाई, ऊँचाई, अवयव, रहने का स्थान, अवतार धारण करना आदि के सम्बन्ध में अनेक प्रश्न परम्परा चलती इस सब प्रपंच से बचने का स्वामीजी ने ठीक मार्ग निकाल लिया । इतना ही नहीं किन्तु इसमे साकारवाद और मूर्तिपूजा, का जटिल प्रश्न भी साफ कर डाला है । साकारवाद या अव-

तारवाद का समर्थन करने वाले पुराण या कई उपनिषदों को प्रमाण कोटि से बहिष्कृत करके निराकारवाद के श्रृङ्खलाबंधन को स्वामीजी ने पहले से ही काट डाला है। तथापि निराकार ब्रह्म-ईश्वर को उपादान कारण बतानेवाली वेदकी ऋचाओं को प्रमाण कोटि में स्वीकार करके स्वामीजी ने एक प्रकार का बंधन कायम रक्खा है जिससे युक्तिबल से उपादान कारण का खण्डन करके उसके स्थान पर निमित्त कारण स्थापित करने में दयानन्द तिमिरभास्कर आदि ग्रन्थों का मुकाबला करना पड़ा है और कहीं कहीं पराजय भी सहन करना पड़ा है। अथवा कहीं कहीं अर्थ-परिवर्तन भी करना पड़ा है। इसी पुस्तक में पहले सृष्टि के १९ प्रकार बताये गये हैं, उनमें से कई प्रकार तो स्वामी जी के माने हुए प्रमाणभूत शास्त्रों के ही हैं। उनमें के कई प्रकार तो साकारवाद का समर्थन करने वाले हैं। इन सब प्रक्रियाओं की तरफ स्वामी जी ने उपेक्षा-दृष्टि रखकर के साकारवाद का उत्थापन करके निराकारवाद में निमित्त कारण की स्थापना करने का दुःसाहस किया है। वह साहस तभी सार्थक हो सकता था जब कि निराकरवाद को कर्तृत्वसे मुक्त रखते। निराकार के हाथ पैर या शरीर न होने से स्वामी जी के कथनानुसार प्रकृति को पकड़ने और उसे जगदाकार बनाने का कार्य कैसे संभवित हो सकते हैं? यह बात समझ में नहीं आती। निराकार ईश्वर को अमुक प्रकार की इच्छा है अथवा नहीं है यह भाव जड़ परमाणु को कैसे हो सकता है जिससे कि वह उसकी इच्छानुसार वर्तन करे। जहां ज्ञान है वहां क्रिया नहीं है और जहां क्रिया है वहाँ ज्ञान नहीं है। ज्ञान और क्रिया के वैयधिकरण्य में निराकार ईश्वर और

जड़ परमाणुओं का मेल कैसे मिल सकता है ? यह बात बुद्धि में नहीं बैठती है। कुम्भकार तो बुद्धि से जानता है और हाथ पैर हिला कर अपने शरीर द्वारा मिट्टी से घड़ा बना लेता है। किंतु ईश्वर के संबंध में ऐसा नहीं है। अतः स्वामीजी को चाहिए था कि या तो ईश्वर को शरीरधारी मान कर उससे जगत् निर्माण का कार्य लेते या सकर्मक जीव और प्रकृति को जगत् निर्माण का कार्य सौंपकर निराकार ईश्वर को सहजानन्दी परमानन्दी रहने देते। सुज्ञेषु किं बहुना ?

ईश्वर की परतन्त्रता

स्वामी जी इतना तो स्पष्ट बताते हैं कि कर्मफल देने में ईश्वरस्वतन्त्र नहीं है किन्तु कर्माधीन है। मुस्लिम खुदा के समान ईश्वर अपनी इच्छाके अनुसार सुख दुःख नहीं दे सकता, जीवों के कर्मों के अनुसार सुख दुःख देता है। इससे ईश्व की पूर्ण स्वतंत्रता उड़ जाती है। ईश्वर को प्रकृति, जीव दिशा, काल और आकाश के अधीन रख कर उसकी सर्वशक्तिमत्ता पर पहले से ही रोक लगादी गई है और यहां स्वतंत्रता पर भी रोक लगादी गई तो कहिए ईश्वर का ऐश्वर्य सामर्थ्य कहां रहा ? इसकी अपेक्षा ईश्वर को अकर्ता ही रहने देते तो उसकी कमजोरी तो प्रकट न होती। इसका सामर्थ्य तो अचलवीर्य में व्याप्त है। जो कर्म सारे जगत् को नचा रहे हैं उनका असर अचलवीर्य वाले ईश्वर पर लेशमात्र भी नहीं होता है यही ईश्वर का ऐश्वर्य-सामर्थ्य है। गाड़ी को बैल खींचता है किन्तु उसके नीचे चलता हुआ कुत्ता ऐसा माने कि मुझपर ही गाड़ी का भार है तो यह निरी मूर्खता या मिथ्याभि-

मान है। कमजोर ईश्वर से पापीजीव पाप करते हुए कैसे डर सकते हैं? वे तो समझते हैं कि हमारे कर्म सिवा ईश्वर न हम पर अनुग्रह कर सकता है और न निग्रह। इससे न तो दुःख देने वाले दुष्कर्म से डर लगेगा और न सुख देनेवाले शुभ कर्म की तरफ झुकाव होगा। कर्ता न मानने से ईश्वर की तरफ पूज्य भाव न रहेंगे ऐसी शंका करना निरर्थक है। कर्मों के अधीन न रहने से ईश्वर परम समर्थ है और इसने हमें सन्मार्ग बताया है अतः इसका हम पर परम उपकार है, ऐसा विचार करने से ईश्वर पर हमारी भक्ति और पूज्य भाव रहेंगे ही। देखिए—जैन, बौद्ध, सांख्य आदि ईश्वर को कर्ता नहीं मानते हैं तोभी उनकी ईश्वर के प्रति श्रद्धा भक्ति किंचित् भी कम नहीं है।

जवान जवान मनुष्य आदि की उत्पत्ति—

स्वामी जी कहते हैं कि सृष्टि की आदि में मनुष्य आदि प्राणी नौजवान ही पैदा हुए थे, वृद्ध और बालक नहीं हुए थे। एक तरफ तो स्वामी जी ने कहा है कि ईश्वर नियम विरुद्ध कुछ भी नहीं करता है और दूसरी तरफ कहा है कि नौजवान मनुष्य आदि पैदा किये। यह तो बताइये कि बालक, तरुण और बाद में वृद्ध होते हैं यह नियम है या एकदम नौ जवान उत्पन्न हो जाते हैं यह नियम है। अगर नौजवान उत्पन्न होने का ही नियम है तो वर्तमान में भी नौजवान क्यों नहीं उत्पन्न होते? दूसरी बात, माता पिता के शुक्र और शोणित से गर्भ उत्पन्न होता है और नौ दस मास गर्भ में रह कर बालक जन्म लेता है, यह नियम है या बिना माता पिता के जवान जवान मनुष्य आकाश से वर्षा के समान खिर पड़ते हैं, यह नियम है।

ऐसा नियम आजतक देखा सुना नहीं गया है। अगर ऐसा नियम नहीं है तो ईश्वरने नौ जवान मनुष्य उत्पन्न कर के नियमका भंग किया है या नहीं? इस प्रकार की अघटित कल्पना करने की अपेक्षा तो मनुष्य के वीर्य से मनुष्यगर्भ और पशु के वीर्य से पशुगर्भ मानना ही युक्ति व बुद्धि संगत है। गर्भ में बालक रूपसे जन्म लेता है, बालक तरुण होता है और तरुण वृद्ध होता है यह क्रम-नियम अनादि काल से चला आ रहा है और चलता रहेगा। सर्वथा प्रलय कभी भी नहीं होता है। खण्ड प्रलय जब एक देश में होता है तब उस प्रदेश के प्राणी अन्य प्रदेश में चले जाते हैं। बीज नष्ट नहीं होता है। ईश्वर को प्रलय करने का कुछ प्रयोजन भी नहीं है। प्रलय नहीं है तो सृष्टि का आरम्भ भी नहीं है। अनादि कालसे मनुष्य, पशु, पक्षी, पृथ्वी, जलादि चले आ रहे हैं। 'नासतो विद्यते भावो, नाभावो विद्यते सतः' असत् का सत् नहीं होता और सत् का असत् नहीं होता, इस सिद्धान्त को तो स्वामी जी अच्छी तरह स्वीकार करते हैं। वैसी अवस्था में बीज का निरन्वय नाश हो जाने पर भी नियम निरुद्ध नौ जवान मनुष्यों की उत्पत्ति मानना कतई उचित नहीं है। प्रकृति, जीव, काल, आकाश के समान सारे जगत् को अनादि मान लो, प्रत्यक्षादि प्रमाण के बिना नवीन कल्पना करना व्यर्थ है।

इत्यलम्।

पौराणिक सृष्टि

वादक सृष्टि की अपेक्षा पुराणों में बतलाई हुई सृष्टि बहुत विस्तृत हो गई है। भिन्न-भिन्न पुराणों में भिन्न-भिन्न रीति से सृष्टि का वर्णन किया गया है। वैदिक सृष्टि में केवल सृष्टि का ही वर्णन है। किन्तु पौराणिक सृष्टिवाद में सृष्टि के साथ प्रलय का भी वर्णन है। पुराणों में कई पुराण रजोगुण प्रधान हैं, कई तमोगुण प्रधान हैं और कई सत्वगुण प्रधान हैं। रजोगुण प्रधान पुराणों ने ब्रह्मा की महिमा गाई है, तमोगुण प्रधान पुराणों ने महेश्वर-शिव की महिमा बढ़ाई है और सत्वगुण प्रधान पुराणों ने विष्णु की महिमा प्रदर्शित की है। वस्तुत: इन तीनों देवों का आविर्भाव एक ब्रह्मस्रोत से ही होता है। अठारह पुराणों के कर्त्ता एक ही व्यासजी हैं या अलग-अलग व्यास हैं यह स्पष्ट नहीं कहा गया है किन्तु इनकी भाषा विषय और रचना-शैली देखते हुए भिन्न-भिन्न रचयिता हों ऐसा अनुमान होता है। कदाचित् मूल एक ही रहा हो और पीछे से भिन्न-भिन्न विद्वानों ने उनमें वृद्धि करके पुस्तक का आकार बढ़ा दिया हो, यह भी सम्भव हो सकता है। आर्यसमाजी तो पुराणों को प्रमाण कोटि में ही नहीं गिनते। कुछ भी हो फिर भी उनमें वर्णित सृष्टिवाद का परिचय पाठकों के समक्ष रखने से तुलनात्मक दृष्टि पूर्वक सृष्टितत्व की कई अंशों में समालोचना की जा सकती है और सत्य का निर्णय करने के लिए सरल मार्ग प्राप्त किया जा सकता है। इसी आशय को लेकर के भिन्न-भिन्न पुराणों से सृष्टिवाद का यहाँ संग्रह किया जाता है।

ब्रह्म वैवर्त्तपुराण के अनुसार गोलोकवासी कृष्ण की सृष्टि—

दृष्ट्वाशून्यमयं विश्वं, गोलोकं च भयङ्करम् ।
निर्जन्तु निर्जलं घोरं, निर्वातं तमसावृतम् ॥
आलोच्य मनसा सर्वं, मेकएवासहायवान् ।
स्वेच्छया स्रष्टुमारेभे, सृष्टिं स्वेच्छामयः प्रभुः ॥
(ब्र० वै० अ० २।१–३)

अर्थ—एकाकी और असहाय प्रभुने गोलोक और जगत् को जीव रहित, जल रहित, वायु रहित, प्रकाश रहित, अन्धकार से व्याप्त, घोर, भयंकर और शून्यरूप देखकर मन से आलोचना की कि सृष्टि की रचना करूँ। ऐसा विचार करके स्वतन्त्र प्रभुने अपनी इच्छा से सृष्टि रचना प्रारम्भ की।

आविर्बभूवुः सर्गादौ, पुंसो दक्षिण पार्श्वतः ।
भवकारणरूपाश्च, मूर्तिमन्तस्त्रयो गुणाः ॥ ४ ॥

अर्थ—सर्ग की आदि में प्रभु के दक्षिण पार्श्व से संसार के कारणभूत सत्व, रज और तम ये तीनों गुण साक्षात् मूर्तिमन्त रूप में प्रकट हुए। इनसे महान्, अहंकार और रूप रसादि पाँच तन्मात्राएं प्रकट हुईं।

आविर्बभूव तत्पश्चात्, स्वयं नारायणः प्रभुः ।
श्यामो युवा पीतवासा, वनमाली चतुर्भुजः ॥
(ब्र० वै० अ० ३।६)

अर्थ—इसके बाद स्वयं नारायण प्रभु प्रकट हुए जो श्याम वर्ण, युवावस्था से युक्त, पीतवस्त्र धारी, वनमाला युक्त और चतुर्भुज थे।

इस नारायण के वाम पार्श्व से गौर वर्ण, मृत्यु को जीतने वाला, पाँच मुख धारण करने वाला शिव प्रकट हुआ। नारायण और शिव दोनों आदि पुरुष-कृष्ण की स्तुति करने लगे। तत्पश्चात् कृष्णरूप नारायण के नाभि कमल से वृद्धावस्था वाले, हाथ में कमण्डल धारण करने वाले ब्रह्मा प्रकट हुए। वह भी आदि पुरुष कृष्ण की स्तुति करने लगे। इसके बाद भगवान् की छाती से सब कर्मों का साक्षी धर्म प्रकट हुआ। वह भी भगवान् की स्तुति करने लगा।

सरस्वती आदि चार देवियाँ

इसके बाद प्रभु के मुख से वीणा और पुस्तक हाथ में धारण करती हुई सरस्वती प्रकट हुई। वह कृष्ण के समक्ष गाने नाचने लगी।

इसके बाद कृष्ण प्रभु के मन से महालक्ष्मी और बुद्धि से अस्त्र-शस्त्र धारण करती हुई मूल प्रकृति प्रकट हुई। दोनों बहुत भक्ति पूर्वक कृष्ण की स्तुति करने लगीं। इसके बाद कृष्ण की जीभ से हाथ में जयमाला धारण करती हुई सावित्री देवी प्रकट हुई और स्तुति करने लगी।

कामदेव की उत्पत्ति

इसके बाद कृष्ण के मन से कामदेव उत्पन्न हुआ। वह मारण, स्तम्भन, जृम्भण, शोषण और उन्मदन नाम के पाँच बाण धारण किए हुआ था। उसके वाम पार्श्व से रतिनाम की स्त्री उत्पन्न हुई। कामदेव ने ब्रह्मा आदि देवों के ऊपर अपने पाँच बाणों का प्रयोग किया जिससे सब देव कामवश हो गये।

रति का अनुपम रूप देखकर ब्रह्मा का वीर्यपात हो गया। वीर्ययुक्त वस्त्र को जलाने के लिए अग्निदेव प्रकट हुआ। उसकी भयंकर ज्वालाओं को बुझाने के लिए कृष्ण ने जल की रचना की। इससे वरुणदेव प्रकट हुआ। अग्निदेव के वाम भाग से स्वाहा नाम की उसकी पत्नी प्रकट हुई। और वरुण के वाम भाग से वरुणानी नाम की उसकी पत्नी प्रकट हुई।

इसके बाद कृष्ण के निःश्वास वायु से वायुदेव और प्राणादि पांच भेद प्रकट हुए। उसके वाम भाग से वायवी नाम की उसकी पत्नी प्रकट हुई।

विराट् विष्णु

कामदेव के बाण प्रयोग से जल में कृष्ण का वीर्य पात हो गया। उस वीर्य पात से विश्व का आधार रूप एक विराट् नामक बालक उत्पन्न हुआ। वह बालक विष्णु के नाम से प्रसिद्धि को प्राप्त हुआ। कमल के पत्ते के समान वह विष्णु कुमार महासमुद्र में शयन करने लगा। उसके कान में मेल भर गया। उससे मधु और कैटभ नामक दो दैत्य उत्पन्न हुए। वे जब ब्रह्मा को मारने के लिये उद्यत हुए तब विष्णु ने उन दोनों को अपनी जंघा पर बिठा कर उनके मस्तक काट डाले। और उनकी मेद-चर्वी से मेदिनी-पृथिवी बनती है जिस पर सब निवास करते हैं।

कल्पभेद के अनुसार पृथिवी की रचना भिन्न-भिन्न प्रकार से होती है। जैसे युग चार होते हैं वैसे ही कल्प तीन होते हैं।

ब्राह्म वाराह पाद्मश्च कल्पाश्च त्रिविधा मुने!।

(ब्र० वै० ब्र० ५।५)

अर्थ—हे मुने ! ब्राह्म, वाराह और पाद्म ये तीन प्रकार के कल्प कहे गये हैं।

ब्राह्मे च मेदिनीं सृष्ट्वा,स्रष्टा सृष्टिं चकार सः।
मधुकैटभयोश्चैव, मेदसा चाज्ञया प्रभो: ॥
वाराहेतां समुद्धृत्य, लुप्तां मग्नां रसातलात्।
विष्णोर्वाराहरूपस्य, द्वाराचातिप्रयत्नत: ॥
पाद्मे विष्णोर्नाभिपद्मे, सृष्टासृष्टिं विनिर्ममे।
त्रिलोकीं ब्रह्मलोकान्तां, नित्यलोकत्रयं विना ॥
(ब्र०वै०अ० ५। १३-१४-१५)

अर्थ—ब्राह्मकल्प में ब्रह्मा विष्णु की आज्ञा से मधु और कैटभ नामक दैत्यों की मेदा—चर्वी से मेदिनी बनाते हैं। वाराह कल्प में विष्णु वराह का रूप धारण करके रसातल में छिपी हुई पृथिवी को अत्यन्त प्रयत्न से निकाल कर पानी की सतह पर ऊपर ले आते हैं। पाद्म कल्प में ब्रह्मा विष्णु के नाभि कमल पर बैठ कर गोलोक, वैकुण्ठलोक और शिवलोक को छोड़ कर ब्रह्मलोक पर्यन्त त्रिलोकी की रचना करते हैं।

ब्राह्म कल्प चालू है। अर्थात् कृष्ण भगवान् पृथिवी का उद्धार करके शेष कार्य ब्रह्मा को सौंप कर के अनेक कल्पवृक्ष-युक्त रत्न आदि की ज्योति से प्रज्वलित गोलोक में रास मन्डल में चले गये। वहाँ अपने वाम पार्श्व से उन्हो ने अत्यन्त रूपवती राधा नामकी एक कन्या उत्पन्न की। वस्त्राभूषणों से सुसज्जित बनी हुई राधा रास मण्डल में कृष्ण के आगे आगे दौड़ने लगी। कुछ समय पश्चात् वह कृष्ण के साथ आसन पर बैठ कर, मन्द हास्य करती हुई, कृष्ण के मुख कमल को देखने

लगी, उसी क्षण उसके रोमकूपों से, समान कांतिवाली असंख्य गोपियाँ प्रकट हुईं। दूसरी तरफ कृष्ण के रोमकूपों से भी समान वेश और समान रूप वाले असंख्य गोप प्रकट हुए। इतना ही नहीं किन्तु इन्हीं रोमकूपों से अनेक गायें, बैल और बछड़े उत्पन्न हुए। इनमें एक बैल करोड़ सिंहों के समान बल वाला था वह बैल कृष्ण ने शिवको सवारी के लिये अर्पित किया। कृष्ण के नखछिद्र से सुन्दर हंस पंक्ति उत्पन्न हुई। इन में से एक पराक्रमी हंस सवारी के लिये ब्रह्मा को अर्पित किया गया। कृष्ण के बायें कान के छिद्र से अश्वपंक्ति और दायें कान के छिद्र से सिंह पंक्ति प्रकट हुई। अश्वों में से एक अश्व धर्म-राज को और सिंहों में से एक सिंह दुर्गा देवी को सवारी के लिए भेंट किया गया। कृष्ण ने योग बल से सब सामग्री युक्त पांच रथ पैदा किए। उनमें से एक रथ धर्मराज को और एक राधा को अर्पित किया गया। शेष तीन रथ अपने लिए रख लिए।

कुबेर आदि यक्षगण

कृष्ण के गुह्य प्रदेश से एक पीत रंग का कुबेर नामक यक्ष गुह्यकगण के साथ प्रकट हुआ। कुबेर के वाम पार्श्व से कुबेर की पत्नी पैदा हुई। इसके उपरान्त भूत, प्रेत, पिशाच, ब्रह्मरा-क्षस, कूष्माण्ड और वैताल आदि देवगण उत्पन्न हुए। कृष्ण के मुख से पार्षदगण प्रकट हुआ। कृष्ण के दक्षिण नेत्र से आठ भैरव और वाम नेत्र से त्रिनेत्र शंकर प्रकट हुए। कृष्ण के नाक के छिद्र से हजारों डाकिनी, योगिनी और क्षेत्रपाल प्रकट हुए। तथा उसके पृष्ठ भागसे दिव्य रूपधारी तीन करोड़ देवता प्रकट हुए।

स्त्री प्रदान

इस के बाद कृष्ण ने लक्ष्मी और सरस्वती को पत्नी होने के लिए नारायण को अर्पण करदी, ब्रह्मा को सावित्री, काम को रति, कुबेर को मनोरमा, जो जिस के योग्य थी वह उसे अर्पित करदी। महादेव को दुर्गा अर्पण करने के लिए कहा गया था किन्तु महादेव ने कहा कि स्त्री तपस्या में विघ्न करनेवाली है अतः मुझे नहीं चाहिए। महादेव को ग्यारह अक्षरों का एक मंत्र देकर विदाकर दिया। और दुर्गा को कह दिया कि एक हजार वर्ष तक महादेव जप और तप करेंगे उसके बाद तुम्हारे साथ उनका विवाह हो जायगा। अभी एक हजार वर्ष तक तूभी दस अक्षरों के मंत्र का जपकर। दोनों को विदा कर दिया।

कृष्ण ने ब्रह्मा को एक भाषा प्रदान की और कहा कि एक हजार वर्ष पर्यंत मेरे मंत्र का जप करते हुए तप कर कि जिससे तू सृष्टि को रचना कर सकेगा। इस प्रकार सब देवताओं को विदा देकर कृष्ण अपने नौकरों के साथ बृन्दावन नाम के वन में चले गये।

ब्रह्मा की सृष्टि

एक हजार वर्ष तक तप करके ब्रह्मा ने सिद्धि प्राप्त की और सृष्टि बनाना आरम्भ कर दिया। मधु और कैटभ के मेद से मेदिनी-पृथिवी तैयार कर के आठ पर्वत बनाये उनके नाम इस प्रकार हैं—

> सुमेरुम्[१] चैव कैलासं[२], मलयं[३] च हिमालयम्[४]।
> उदयं[५] च तथाऽस्तं[६] च, सुवेलं[७] गन्धमादनम्[८]॥
>
> (ब्र० वै० अ० ७।३

इनके उपरान्त नदी, वृक्ष, ग्राम, नगर, और सात समुद्रों की रचना की गई है। सात समुद्रों के नाम—

> लवणेक्षु सुरासर्पि-र्दधिदुग्धजलार्णवान्।
> लक्षयोजनमानेन, द्विगुणाश्चपरात्परान्॥
>
> (ब्र० वै० अ० ७।५

अर्थ—लवण समुद्र, इक्षु समुद्र, सुरा समुद्र, सर्पिसमुद्र, दधि समुद्र, दुग्ध समुद्र, और जल समुद्र इन सात समुद्रों की रचना की गई है। पहला समुद्र एक लाख योजन परिमाण वाला है और अन्य उत्तरोत्तर एक दूसरे से द्विगुण परिमाण वाले समझने चाहिए।

इसके वाद सात द्वीप, सात उपद्वीप और सात सीमा पर्वत वनाये। सात द्वीपों के नाम—

> "जम्बू[1] शाक[2] कुश[3] प्लक्षा[4] क्रौञ्च[5] न्यग्रोध[6] पौष्कलान्[7]"
>
> (ब्र० वै० अ० ७।७)

मेरु पर्वत के आठ शिखरों पर इन्द्र वरुण आदि लोक पालों के रहने योग्य आठ नगरियाँ तथा मेरु के मूल में शेषनाग के लिए नगरी बनाई। इसके वाद उर्ध्वलोक की रचना की गई। उसमें सात स्वर्ग बनाये जिनके नाम इस प्रकार हैं—

> भूर्लोकं च भुवर्लोकं, स्वर्लोकं च महस्तथा।
> जनोल्लोकं तपोलोकं, सत्यलोकं च शौनक!॥
> शृङ्गमूर्ध्नि ब्रह्मलोकं, जरादि परिजर्तितम्।
> तदूर्ध्वे ध्रुवलोकं च, सर्वतः सुमनोहरम्॥
>
> (ब्र० वै० अ० ७।१०।११)

सात स्वर्गलोक और ब्रह्मलोक बनाये इसके बाद सात अधोलोक बनाये उनके नाम—

अतलं[१] वितलं[२] चैव, सुतलं[३] च तलातलम्[४]।
महातलं[५] च पातालं[६], रसातलमधस्ततः[७]॥

इस प्रकार तीन ध्रुवलोकों को (कैलास-शिवलोक, वैकुण्ठ और गोलोक) छोड़ कर ब्रह्मलोक पर्यन्त त्रिलोक रचना करने का ब्रह्मा का अधिकार है। यह ब्राह्मसृष्टि कही जाती है।

एवं चासंख्य ब्रह्माण्डं, सर्वं कृत्रिममेव च।
महाविष्णोश्च लोम्नां च, विवरेषु च शौनक!॥
(ब्र० वै० अ० ७।१५)

अर्थ – एक ब्रह्माण्ड बताया है उसके समान असंख्य ब्रह्माण्ड हैं वे सब कृत्रिम हैं। महाविष्णु की रोमराजि में जितने छिद्र हैं उतने ही ब्रह्माण्ड हैं। हर एक के ब्रह्मा, विष्णु, महेश्वर अलग अलग हैं।

वेदादि शास्त्र सृष्टि

ब्रह्मा विश्वं विनिर्माय, सावित्र्यां वर योषिति।
चमकार वीर्याधानं च, कामुक्यां कामुको यथा॥
सा दिव्यं शतवर्षं च, धृत्वा गर्भं सुदुस्सहम्।
सुप्रसूता च सुषुवे, चतुर्वेदान्मनोहरान्॥
षट् रागान्सुन्दरांश्चैव, नानातालसमन्वितान्।
सत्य त्रेता द्वापरांश्च, कलिं च कलहप्रियम्॥

वर्षमासमृतुं चैव, तिथिं दण्डक्षणादिकम् ।
दिनं रात्रिं च वारांश्च, सन्ध्यामुषसमेव च ॥ इत्यादि ।
(ब्र० वै० अ० ८, १, २-३-४)

अर्थ—विश्व का निर्माण कर के ब्रह्मा न सावित्री में वीर्याधान किया। सौ वर्ष पर्यन्त गर्भ धारण करने के पश्चात् प्रसूति हुई उसमें से नीचे लिखे अनुसार वस्तुएँ निकलीं—चार वेद, तर्क व्याकरण आदि विविध शास्त्र, छराग और छत्तीस रागिनियाँ, नाना प्रकार के ताल, सत्य, त्रेता, द्वापर और कलि ये चार युग, वर्ष, मास, ऋतु, तिथि, घड़ी, क्षण, दिन, रात्रि, वार. संध्या, उषा, पुष्टि, देवसेना, मेधा, विजया, जया, छ कृतिका, योग, करण, कार्तिकेय, प्रिया महाषष्ठी, मातृका, ब्राह्म, पाद्म और वाराह ये तीन कल्प, नित्य, नैमित्तिक, द्विपरार्द्ध और प्राकृत ये चार प्रलय, काल, मृत्यु कन्या और सर्व व्याधि समूह।

अधर्म और दरिद्रता

ब्रह्मा के पृष्ठ भाग से अधर्म उत्पन्न हुआ और उससे उसकी पत्नी दरिद्रता प्रकट हुई। ब्रह्माके नाभि प्रदेश से शिल्प विद्या में निपुण विश्व कर्मा और आठ वसु उत्पन्न हुए। ब्रह्मा के मन से सनकादिक चार पुत्र उत्पन्न हुए। ब्रह्मा के मुख से स्वायंभुव मनु और उसकी पत्नी शतरूपा उत्पन्न हुई। ब्रह्मा ने शतरूपा को सृष्टि उत्पन्न करने के लिए कहा किन्तु उसने यह कह कर इन्कार कर दिया कि हम तो वन में जाकर के तपस्या करेंगे। सृष्टि से हमें क्या प्रयोजन है? वह वन में चली गई। उसके चले जाने से ब्रह्मा को क्रोध उत्पन्न हुआ जिस से

उसके ललाट से ग्यारह रुद्र प्रकट हुए। इसके पश्चात् ब्रह्मा के दाहिने कान से पुलस्त्य और बांये कान से पुलह, दाहिनी आंख से अत्रि और बांई आंख से क्रतु, नासिका के दो छिद्रों से अरणि और अंगिरा, मुखसे रुचि, वाम पार्श्व से भृगु और दक्षिण से दक्ष, छाया से कर्दम, नाभि से पंचशिख, छाती से वोढ़, कण्ठ से नारद, स्कन्ध से मरीचि और जीभ से वशिष्ट ऋषि उत्पन्न हुए। ब्रह्माने अपने पुत्रों को आज्ञा दी कि तुम आगेकी सृष्टि उत्पन्न करो। नारद ने उत्तर दिया कि तुम पिता होकर विवाहित होने की आज्ञा करते हो, अमृत के प्याले को ढोल करके, विषयरूप विष पान करने का उपदेश देते हो। पिता को ऐसा करना उचित नहीं है। नारद के वचन से कोपाय-मान होकर के ब्रह्मा ने नारद को शाप दिया कि हे नारद! मेरी आज्ञा न मानने से तू स्त्री लम्पट होकर, स्त्रियों का क्रीडा-मृग बन जायगा। कलिकाल में तेरा ज्ञान नष्ट हो जायगा। नारद ने कहा जो पिता या गुरू अपने पुत्रों या शिष्यों को सन्मार्ग से पतित करा कर असन्मार्ग पर ले जाता है वह यावच्चन्द्र दिवाकर नरक में कुम्भीपाक में निवास करेगा। हे पिता जी! मुझे विना अपराध शाप क्यों देते हो? मैं भी आपको शाप देता हूँ कि प्रत्येक सृष्टि के आदि भाग में आपका ज्ञान नष्ट हो जायगा। नारद के सिवाय अन्य पुत्रों को ब्रह्मा ने आज्ञा दी कि तुम सृष्टि की रचना करो। उन्हों ने पिता की आज्ञा स्वीकार करके सृष्टि की रचना कर डाली।

मानस सृष्टि

मरीचिने मनमें से कश्यप को उत्पन्न किया, अत्रिने नेत्र मल से समुद्र में चन्द्रमा उत्पन्न किया, प्रचेता ने

गौतम, पुलस्त्य ने मैत्रा वरुण, मनुने शतरूपा में आहुति, देव हुति और प्रसूति ये तीन कन्याएँ और प्रियवृत तथा उत्तानपाद ये दो पुत्र उत्पन्न किये। आहुति का रुचि के साथ, प्रसूति का दक्ष के साथ और देवहुति का कर्दम के साथ विवाह हुआ। कर्दम ने कपिल मुनि को उत्पन्न किया, दक्ष के वीर्य से प्रसूति में साठ कन्याएँ उत्पन्न हुई। इनमें से आठ कन्याओं का विवाह धर्म के साथ, ग्यारह कन्याओं का विवाह रुद्र के साथ, सती नाम की एक कन्या का विवाह शिव के साथ, तेरह कन्याओं का विवाह कश्यप के साथ और सत्ताईस कन्याओं का विवाह चन्द्रमाके साथ हुआ। अदिति से इंद्र, बारह आदित्य और उपेन्द्रादिक देवता उत्पन्न हुए। इन्द्र के जयन्त नामक पुत्र हुआ। सूर्य के शनैश्चर और यम ये दो पुत्र तथा कालिन्दी नामकी एक कन्या उत्पन्न हुई। उपेन्द्र के वीर्य से मंगल ग्रह उत्पन्न हुआ। दिति से हिरण्यकशिपु और हिरण्याक्ष ये दो पुत्र तथा सिंहिका नाम की एक कन्या उत्पन्न हुई। सिंहिका से राहु नाम का पुत्र हुआ। कद्रु से अनन्त, वासुकी, कालिय, धनञ्जय, कर्कोदक आदि नाग उत्पन्न हुए। लक्ष्मी के अंश से मनसादेवी उत्पन्न हुई जिसका विवाह जरत्कारु के साथ हुआ। विनता के अरुण और गरुड नाम के दो पुत्र उत्पन्न हुए। गाय, बैल, भैंस, पाड़े आदि सरमा की संतति हैं। दनु से दानव पैदा हुए। यह काश्यप का वंश बताया गया है। इसी प्रकार चंद्रादिक का वंश भी बताया गया है किन्तु विस्तार के भय से यहाँ नहीं बताया है।

(ब्र० वै० ब्र० खं० अ० ३-४-५-६-७-८)

गोलोकवासी कृष्ण का सृष्टिक्रम

१ सत्व, रज, तम-त्रिगुण
२ महत्तत्त्व
३ अहङ्कार
४ रूपादि तन्मात्रा
५ चतुर्भुज नारायण
६ पंचमुखी शिव
७ वृद्ध ब्रह्मा
८ धर्मराज
९ सरस्वती देवी
१० महालक्ष्मी देवी
११ मूल प्रकृति देवी
१२ सावित्री
१३ कामदेव
१४ रति देवी
१५ अग्नि
१६ वरुणदेव के साथ जल
१७ अग्निपत्नी—स्वाहा
१८ वरुण पत्नी-वरुणानी
१९ वायुदेव-प्राणादि पांचभेद
२० वायवी देवी-वायुपत्नी
२१ विराट्नामक बालक-विष्णु
२२ मधु और कैटभ दैत्य
२३ दैत्यके मेद से मेदिनी-पृथिवी.

इति सामान्य प्राकृतसृष्टि ।

गोलोक में रासमण्डल की सृष्टि का क्रम

१ राधा देवी
२ असंख्य गोपिकाएँ
३ असंख्य गोप
४ गाय, बैल और बछड़े
५ हंस पक्षी
६ अश्व
७ सिंह
८ पांच रथ
९ यक्षगण-कुबेर
१० कुबेर की पत्नी
११ भूत, प्रेत, राक्षस आदि
१२ पार्षद गण
१३ आठ भैरव
१४ त्रिनेत्र शंकर
१५ डाकिनी, योगिनी, क्षेत्रपाल
१६ तीन करोड़ देवता

ब्राह्मी सृष्टि का क्रम

१ मेदिनी—पृथिवी	१३ स्वायंभुव मनु और शतरूपा
२ आठ पर्वत	१४ ग्यारह रुद्र
३ ग्राम, नगर और सातसमुद्र	१५ पुलस्त्य और पुलह
४ सात द्वीप और उपद्वीप	१६ अत्रि और क्रतु
५ मेरु शिखर पर ८ नगरियाँ	१७ अरणि और अंगिरा
६ शेष नाग की नगरी	१८ रुचि और भृगु
७ भुर् भुवर् आदि सात स्वर्ग	१९ पंचशिख और बोढ़
८ ब्रह्मलोक	२० नारद और मरीचि
९ अतल आदि सात अधोलोक	२१ वशिष्ठ

१० वेदादि शास्त्र, ६राग,३६रागि०
११ अधर्म और दरिद्रता
१२ शिल्प विद्या, विश्वकर्मा और आठ वसु।

मानस सृष्टि का क्रम

१ कश्यप	८, ६० कन्याएँ	१५ सात सर्प
२ चन्द्रमा	९ इंद्र, बारह आदित्य	१६ मनसा देवी
३ गौतम	१० जयन्त	१७ अरुण, गरुड
४ मैत्रावरुण	११ मंगल ग्रह	१८ गाय-भैंस
५ आहुति, देवहुति, प्रसूति।	१२ हिरण्यकशिपु—हिरण्याक्ष।	१९ दानव
६ प्रियव्रत,उत्तानपाद	१३ सिंहिका	
७ कपिल मुनि	१४ राहु	

ब्रह्मवैवर्त पुराण के प्रकृति खण्ड की सृष्टि

सकृष्णः सर्वसृष्ट्यादौ, सिसृक्षुस्त्वेक एव च।
सृष्ट्युन्मुखस्तदंशेन, कालेन प्रेरितः प्रभुः॥
(ब्र० वै० प्रकृतिखण्ड अ० २।२८)

अर्थ—आरम्भ में अपने अंश रूप काल की प्रेरणा से प्रेरित होकर के उस एकाकी कृष्ण ने सृष्टि रचना करने की इच्छा से अपने शरीर के दो भाग किए। वाम भाग का अंश स्त्री रूप और दक्षिण भाग का अंश पुरुप रूप बन गया। परस्पर रतिक्रीड़ा करने से जो पसीना हुआ उससे विश्वाधार गोलक बन गया। उसके निश्वास वायु से वायवी नाम की वायु की स्त्री, प्राणादि पाँच भेद और वरुण देवता उत्पन्न हुए। वरुण के वाम अंग से उसकी पत्नी वरुणानी पैदा हुई। स्त्री रूप में जो गर्भ धारण किया था वह गर्भ एक सौ मन्वन्तर तक गर्भ रूप में रहा, उसके बाद सुवर्णमय एक अण्ड उत्पन्न हुआ। उसको देख कर स्त्री को खेद हुआ इसलिए उसे जल के गोले में फेंक दिया। कृष्ण ने उस स्त्री को शाप दिया कि तुझे कभी भी पुत्र प्राप्ति न होगी। इतना ही नहीं किन्तु तेरे अंश में से जो स्त्री उत्पन्न होगी उसको भी पुत्र न होगा। इसी अवसर पर उस स्त्री की जीभ से श्वेत वर्ण वाली, वीणा पुस्तक धारण करती हुई एक कन्या उत्पन्न हुई। थोड़ी देर बाद उस कन्या के दो भाग हो गये। वामार्द्ध भाग लक्ष्मी और दक्षिणार्द्ध भाग राधा हुई। इसी समय कृष्ण के भी दो भाग हो गये। दक्षिणार्ध भाग दोभुजा वाला कृष्ण और वामार्ध भाग चार भुजा वाला नारायण रूप से प्रसिद्ध हुआ। कृष्ण ने लक्ष्मी से कहा कि तू चतुर्भुज नारायण के साथ वैकुण्ठ लोक में चली जा। इस आज्ञा से

लक्ष्मी और चतुर्भुज दोनों वैकुण्ठ में चले गये। और राधा तथा द्विभुज कृष्ण गोलोक में रह गये। नारायण ने अपनी माया से अनेक पार्षद पैदा किए और लक्ष्मी ने अपने अंग से करोड़ों दासियाँ उत्पन्न कीं। दूसरी तरफ गोलोक वासी कृष्ण ने रोमकूप से असंख्य गोप और राधा ने अपनी रोम राजि से इतनी ही गोपियाँ उत्पन्न कीं। कृष्ण के शरीर से एक दुर्गादेवी प्रकट हुई, इसे विष्णु-माया कहते हैं; और इसी को त्रिगुणात्मक मूल प्रकृति भी कहते हैं। यही संसार का बीज रूप है। इसके बैठने के लिए कृष्ण ने एक रत्न सिंहासन तय्यार रक्खा था, उस पर वह बैठ गई। इसी समय ब्रह्मा अपनी धर्म पत्नी के साथ नाभि कमल में से निकल कर वहाँ आकर स्तुति करने लगे। इसी समय कृष्ण ने अपने शरीर के दो भाग किए—वामार्ध भाग महादेव और दक्षिणार्द्ध भाग गोपिका पति।

दूसरी तरफ जल में फैंका हुआ अण्डा ब्रह्मा के जीवन काल पर्यन्त वैसे का वैसा पड़ा रहा और बाद में अपने आप फूट पड़ा। उसमें सैकड़ों सूर्यों को कान्ति से लज्जित करता हुआ एक शिशु-बालक निकला। भूख से रुदन करता हुआ वह विराट नाम से प्रसिद्ध हुआ। इसके एक-एक रोमकूप में एक-एक ब्रह्माण्ड विद्यमान था। इसके बाद कृष्ण ने प्रकट होकर उस बालक को वरदान दिया कि "तुझे कभी भी भूख प्यास न सतायेगी, असंख्य ब्रह्माओं के व्यतीत हो जाने पर भी तेरा नाश न होगा, तेरे नाभिकमल से एक ब्रह्मा उत्पन्न होगा जिसके ललाट से ग्यारह रुद्र उत्पन्न होंगे और वे सृष्टि तथा संहार करेंगे।" इतना कह कर कृष्ण स्वर्ग में गया और ब्रह्मा तथा शंकर को प्रेरणा करके वहाँ भेज दिए।

विराट् ने अपने क्षुद्र अंश से अन्य युवक शरीर की रचना की। वह युवक विराट् पीत वस्त्र धारण किये हुए जल शय्या पर सोया रहा। उसके नाभिकमल से ब्रह्माजी उत्पन्न हुए। वह एक लाख युग तक तो लक्ष्यहीन होकर उसी कमल में भ्रमते रहे किन्तु उसका अन्त न ले सके। तब चिन्तित होकरके कृष्ण के चरणों का ध्यान किया तो जल में सोये हुए पुरुष विष्णुरूप दिखाई दिये। ब्रह्मा ने उनकी स्तुति की, उन्होंने सृष्टि का उपदेश दिया। उन्होंने उस उपदेश को ग्रहण कर के सनकादिक मानस पुत्र उत्पन्न किए। इसके बाद ललाट से रुद्र प्रकट किया, उसने सृष्टि का संहार किया।

(ब्र० वै० प्रकृतिखंडे अ० ३)

गोलोकवासी कृष्ण की दूसरी सृष्टि का क्रम

१ पुरुष
२ स्त्री
३ जल गोलक
४ वायु उसकी पत्नी वायवी प्राणादि पाँच भेद, वरुण
५ वरुणानी-वरुणपत्नी
६ सुवर्णमय अण्ड
७ लक्ष्मी और राधा
८ द्विभुज कृष्ण और चतुर्भुज नारायण
९ पार्षद और दासियाँ
१० असंख्य गोप और गोपियाँ
११ दुर्गादेवी-मूलप्रकृति
१२ रत्न सिंहासन
१३ ब्रह्मा और सावित्री
१४ महादेव और गोपिकापति
१५ विराट् बालक
१६ युवक विराट्
१७ ब्रह्मा
१८ विष्णुरूप
१९ सनकादिक मानस पुत्र
२० रुद्र

ब्रह्मवैवर्त पुराण के अनुसार प्रलय प्रक्रिया

एक के बाद एक इस प्रकार चौदह इन्द्रों के जीवन व्यतीत हों तब ब्रह्मा का एक दिन पूरा होता है। और इतनी ही लम्बी ब्रह्मा की एक रात्रि होती है। ब्रह्मा का दिन यह सृष्टि काल है और ब्रह्मा की रात्रि यह प्रलयकाल है। प्रलयकाल को काल रात्रि भी कहते हैं। यह क्षुद्र (छोटा) प्रलय कहलाता है। ब्रह्मा का एक दिन और एक रात्रि मिलकर एक कल्प होता है। ऐसे सात कल्पों में मार्कण्डेय मुनि की एक जिन्दगी पूरी होती है। ब्रह्मा का दिन पूरा होने पर जो क्षुद्र प्रलय होता है उसमें ब्रह्मलोक के नीचे-नीचे के समस्त लोक संकर्षण के मुख से निकली हुई अग्नि से दग्ध होकर भस्ममय हो जाते हैं। उस समय चन्द्र, सूर्य और ब्रह्मपुत्र ब्रह्मलोक में जाकर निवास करते हैं। ब्रह्मा की तीस अहोरात्रियों से एक मास और ३६० अहोरात्रियों से एक वर्ष होता है। ब्रह्मा के ऐसे पचास वर्षों में एक दैनंदिन प्रलय होता है। वेदों में इसे मोह रात्रि कहा हुआ है। इस प्रलय में सूर्य, चंद्र, दिगीश, आदित्य वसु, रुद्र, ऋषि, मुनि, गन्धर्व आदि सब नष्ट हो जाते हैं। ब्रह्मलोक के नीचे का सब भाग नष्ट हो जाता है। ब्रह्मपुत्रादिक ब्रह्मलोक में जा बसते हैं। दैनंदिन प्रलयकाल पूरा हो जाने पर पुनः ब्रह्मा सृष्टि रचना करते हैं। ब्रह्मा का आयुष्य ब्रह्मा के सौ वर्षों का है। उसका आयुष्य पूरा होने पर एक महाकल्प होता है। इसको महारात्रि भी कहते हैं। महाकल्प के अन्त में समस्त ब्रह्माण्ड जल में डूब जाता है। अदिति, सावित्री, वेद, मृत्यु और धर्म ये सब नष्ट हो जाते हैं। केवल शिव और प्रकृति

स्थायी रहते हैं। कालाग्नि नाम का रुद्र सृष्टि का संहार करके रुद्रगणों के साथ महादेव में लीन हो जाता है। ब्रह्मा के सौ वर्ष व्यतीत होने पर प्रकृति का एक निमेषमात्र होता है। उस समय पुनः नरायण, शंकर और विष्णु की रचना होती है। कृष्ण तो निमेष रहित हैं क्योंकि वह निर्गुण होकर प्रकृति से परे हैं। जो सगुण होता है उसी की काल संख्या या अवस्थामान होता है।

प्रकृति का आयुष्य

प्रकृति के एक हजार निमेषों से एक दण्ड-घड़ी होती है। साठ घड़ियों का एक दिन, तीस दिनों का एक मास, बारह मासों का एक वर्ष। ऐसे सौ वर्षों का आयुष्य प्रकृति का है। सौ वर्षों में प्रकृति का कृष्ण में लय होता है। इसका नाम प्राकृतलय है। समस्त क्षुद्र विष्णु महाविष्णु में लीन होते हैं। महाविष्णु, गोप, गोपियाँ, गायें, बछड़े वगैरह प्रकृति में लीन होते हैं। और प्रकृति कृष्ण भगवान् की छाती में समा जाती है। कृष्ण भगवान् योग निद्रा में मग्न हो जाते हैं। निद्रा पूरी होने पर जब जागते हैं तब पुनः नये ढंग से सृष्टि रचते हैं।

(ब्र० वै० प्रकृतिखण्डे अ० ५४)

मार्कण्डेय पुराण की ब्रह्मा-सृष्टि

प्रलयकाल में जगत् प्रकृति में समा जाता है और प्रकृति ब्रह्मा में समा जाती है। केवल हिरण्यगर्भ-ब्रह्मा ब्रह्मा रहता है। सृष्टि के प्रारम्भ में क्षेत्रज्ञ ब्रह्मा के अधिष्ठान से और रजो आदि गुण की हलचल से प्रकृति का आविर्भाव होता है। बीज जिस

प्रकार त्वचा से ढका हुआ रहता है उसी प्रकार प्रकृति महत्तत्त्व को आवृत्त कर लेती है। महत्तत्त्व तीन प्रकार का है—सात्त्विक, राजस और तामस। इनमें से तीन प्रकार का अहंकार उत्पन्न होता है—वैकारिक, तैजस और तामस, तामस अहंकार ही भूतादिक के नाम से प्रसिद्ध है और वह महत्तत्त्व से आवृत्त है। उसके प्रभाव से महत्तत्त्व विकारी बनकर के शब्द तन्मात्रा को उत्पन्न करता है। शब्द तन्मात्रा से आकाश उत्पन्न होता है। तामस अहंकार शब्द तन्मात्र आकाश को घेर लेता है। इस प्रकार स्पर्श तन्मात्रा से स्पर्श गुण युक्त वायु उत्पन्न होता है। और शब्द तन्मात्र आकाश से आवृत्त होता है। इस प्रकार यथापूर्व एक-एक से आवृत्त होते हुए वायु से अग्नि, अग्नि से जल और जल से पृथिवी उत्पन्न होती है। ऊपर लिखे अनुसार भूततन्मात्र-सर्ग तामस अहंकार से बनता है।

वैकारिक सर्ग

सत्त्वोद्रिक्त सात्त्विक और वैकारिक अहंकार से एक साथ वैकारिक सर्ग प्रवृत्त होता है। पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ और पाँच कर्मेन्द्रियाँ और मन ये तैजस इन्द्रियाँ कहलाती हैं और इनके अधिष्ठाता देवता वैकारिक कहलाते हैं। इसकी सृष्टि सात्त्विक और राजस अहंकार से होती है।

अण्ड सृष्टि

पूर्वोक्त महत् आदि पदार्थ एक दूसरे के साथ मिलकर और ब्रह्माविष्टित होकर प्रकृति के अनुग्रह से पानी के बुद्बुदे के समान पानी में एक अण्ड उत्पन्न करते हैं। ब्रह्मा नाम के क्षेत्रज्ञ

उस अण्ड में प्रवेश करके भूतों के योग से अण्ड की वृद्धि करते हैं।

स वै शरीरी प्रथमः, स वै पुरुष उच्यते।
आदिकर्त्ता च भूतानां, ब्रह्माग्रे समवर्तत॥
(मा० पु० अ० ४२।६४)

अर्थ—वही प्रथम शरीरधारी हुआ, वही आदि पुरुष कहलाता है, भूतों का आदि कर्त्ता भी वही है कि जो ब्रह्मा के नाम से सर्व प्रथम वर्त्तमान थे।

उससे (ब्रह्मा) चराचर युक्त तीनों लोक व्याप्त हैं। मेरु पर्वत का मूल भी वही है। उस अण्ड के जर से सभी पर्वत बने हैं। उस अण्ड के गर्भ जल से सभी समुद्र बने हैं। सुर, असुर, मनुष्य आदि समस्त जगत् उस अण्ड में रहा हुआ है। द्वीप, सागर, पर्वत और ज्योतिपचक्र युक्त समस्त लोक उस अण्ड में अवस्थित हैं। वह अण्ड प्रकृति, महत्तत्त्व अहंकार आदि सात आवरणों से आवृत्त है। अव्यक्त प्रकृति क्षेत्र है और ब्रह्माजी क्षेत्रज्ञ हैं। इति प्राकृत सर्ग।

सर्ग के नौ प्रकार—

अग्नि पुराण के बीसवें अध्याय में और मार्कण्डेय पुराण के ४४ वें अध्याय में सर्ग के नौ प्रकार बताये गये हैं। उनका संक्षेप से निदर्शन कराना यहाँ अप्रासंगिक न होगा।

प्रथमो महतः सर्गो, विज्ञेयो ब्रह्मणस्तु यः।
तन्मात्राणां द्वितीयस्तु, भूत सर्गो हि स स्मृतः॥

वैकारिकस्तृतीयस्तु, सर्गं ऐन्द्रियकः स्मृतः।
इत्येष प्राकृतः सर्गः, संभूतो बुद्धिपूर्वकः॥
(मा० पु० अ० ४४।३१।३२)

अर्थ—पहला महत् सर्ग, जिसमें महत्तत्त्व की उत्पत्ति होती है, दूसरा भूतसर्ग, जिसमें पाँच तन्मात्राएँ और पाँच भूतों की उत्पत्ति होती है। तीसरा वैकारिक सर्ग, जिसमें पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ पाँच कर्मेन्द्रियाँ और मन, इस एकादश गण की उत्पत्ति होती है ये तीनों सर्ग, प्राकृत सर्ग कहलाते हैं। जिसका वर्णन ऊपर किया जा चुका है।

मुख्यसर्गश्च चतुर्थ, मुख्या वै स्थावराः स्मृताः।
तिर्यक्स्रोतास्तु यः प्रोक्त-स्तैर्यग्योनस्ततः स्मृतः॥
तथोर्ध्व स्रोतसां षष्ठो, देव सर्गस्तु स स्मृतः।
ततोऽर्वाक् स्रोतसां सर्गः, सप्तमः स तु मानुषः॥
अष्टमोऽनुग्रहः सर्गः, सात्त्विकस्तामसश्च यः।
पञ्चैते वैकृताः सर्गाः, प्राकृताश्च त्रयः स्मृताः॥
प्राकृतो वैकृतश्चैव, कौमारो नवमस्तथा।
ब्रह्मतो नव सर्गास्तु, जगतो मूलहेतवः॥
(मा० पु० अ० ४४। ३३ से ३६)

अर्थ—चौथा मुख्य सर्ग, जिसमें स्थावर की उत्पत्ति होती है। पाँचवाँ तिर्यक् स्रोत सर्ग, जिसमें पशुपक्षी आदि तिर्यञ्चों की उत्पत्ति होती है। छठा ऊर्ध्वस्रोत सर्ग, जिसमें देवों की उत्पत्ति होती है। सातवाँ अर्वाक् स्रोतसर्ग, जिसमें मनुष्यगण की उत्पत्ति होती है। आठवाँ अनुग्रह सर्ग, जिसमें ऐसे महर्षियों की उत्पत्ति होती है जिनके अनुग्रह से दूसरों का कल्याण होता

है। चौथे से आठवें तक पाँच सर्ग वैकृत कहलाते हैं। नववाँ कौमार सर्ग है, जिसमें प्राकृत और वैकृत दोनों का मिश्रण होता है।

प्रकारान्तर से तीन सर्ग

नित्यो नैमित्तिकः सर्ग-स्त्रिधापि कथितो जनैः।
प्राकृतो दैनंदिनीया-दान्तर प्रलयादनु।
जायन्ते यत्रानुदिनं, नित्य सर्गो हि स स्मृतः॥

अर्थ—नित्य, नैमित्तिक और प्राकृत इस तरह तीन प्रकार भी सर्ग कहा गया है। दिन के बाद रात और रात के बाद दिन, इनमें दिन तो सर्ग है और रात प्रलय है। यह प्रतिदिन होता है इसलिए नित्य सर्ग है। ब्राह्म का एक दिन—यह सृष्टि काल और ब्रह्मा की एक रात्रि-यह प्रलय काल है। इसे नैमित्तिक सर्ग कहते हैं। ब्रह्मा के सौ वर्ष पूरे हो जाने पर जो प्रलय होता है उसे प्राकृत प्रलय कहते हैं और ब्रह्मा के सौ वर्ष पूरे होने पर जो सर्ग होता है वह प्राकृत सर्ग है। इस सर्ग से महाकल्प का भी परिवर्तन होता है। पाद्म कल्प पूर्ण होकर वाराह कल्प, या वाराह कल्प पूर्ण होकर ब्राह्म कल्प का प्रारम्भ होता है। वर्तमान में वाराह कल्प चालू है अर्थात् ऊपर बताया हुआ प्राकृत सर्ग, वाराह कल्प का प्राकृत सर्ग समझना चाहिए।

स्थावररूप मुख्यसर्ग

सत्त्वगुण उद्रिक्त ब्रह्मा जी ने पाद्म कल्प के अन्त में निद्रा से जागृत होकर देखा तो उन्हें यह लोक सर्वथा शून्य दिखाई दिया। ये ब्रह्मा जी अकेले पानी में सोये हुए थे अतः नारायण

भी कहलाते हैं। उन्होंने पानी के भीतर पृथिवी को देखा। उसे ऊपर लाने के लिये उन्होंने वाराह का रूप धारण किया और नीचे जाकर पृथिवी को ऊपर ले आये। पानी के ऊपर पृथिवी नाव की तरह इधर-उधर हिलने लगी उसे सीधी करके उसके ऊपर पर्वतों की रचना कर दी। पर्व सर्ग में संवर्त्तक अग्नि से जले हुए पर्वत पृथिवी पर चारों ओर बिखर गये थे और समुद्र में डूब गये थे, वहाँ का पानी भी वायु से एकत्रित हो गया था, जहां-जहां वे पर्वत संलग्न थे वहीं-वहीं पर वे अचलकर दिये गये। भूमि भाग को सात द्वीपों के अन्दर विभक्त कर दिया। ऊर्ध्व-लोक में भूर्भुवादि चार लोक पूर्व के अनुसार बनाये, उसके बाद तम, मोह, महामोह, तामिस्र अन्ध तामिसये पाँच अविद्याएँ उस महात्मा से प्रकट हुई अतः अप्रतिवोधयुक्त सृष्टि पाँच प्रकार से अवस्थित हुई। बाहर और भीतर अप्रकाशरूप पर्वत आदि की मुख्य संज्ञा है अतः इस सर्ग का नाम मुख्य सर्ग है।

तिर्यक्स्रोत आदि सर्ग

मुख्य सर्ग की रचना देखकर ब्रह्मा जी को सन्तोष नहीं हुआ अतः अन्य साधक सर्ग की इच्छा करते ही तिर्यक्स्रोतसर्ग की प्रवृत्ति आरम्भ हो गई—अज्ञान में ज्ञान मानने वाले, अहंकारी उत्पथगामी, अज्ञ, और तमोगुण प्रधान अट्ठाइस प्रकार के पशु-पक्षी आदि उत्पन्न हुए। इस सर्ग से भी ब्रह्मा जी खुश न हुए अतः तीसरा ऊर्ध्वस्रोत सर्ग प्रवृत्त हुआ—बाहर और भीतर आवरण रहित, सत्त्वगुण विशिष्ट, सुख और प्रेम प्रधान ऐसे देव उत्पन्न हुए। इस देव सर्ग से ब्रह्मा जी खुश तो हुए मगर इससे भी अधिक साधन सर्ग उत्पन्न करने की इच्छा हुई। इच्छा

करते ही अर्वाक् स्रोत नाम का मनुष्य सर्ग आरम्भ हुआ। इसमें प्रकाश अधिक और तम थोड़ा है। रजोगुण की अधिकता होने से इसमें दुःख अधिक है और वार-वार कार्य प्रवृत्ति चलती रहती है। अन्दर और वाहर प्रकाशयुक्त यह साधक मनुष्य सर्ग है।

पञ्चमोऽनुग्रहः सर्गः, स चतुर्धा व्यवस्थितः।
विपर्ययेण सिद्ध्याच, शान्त्या तुष्ट्या तथैव च॥
निवृत्तं वर्तमानं च, तेऽर्थं जानन्ति वै पुनः।
भूतादिकानां भूतानां, षष्ठः सर्गः स उच्यते॥
(मा०पु०अ० ४४। २८-२९)

अर्थ—पांचवाँ अनुग्रह सर्ग विपर्यय, सिद्धि, शान्ति और तुष्टि के भेद से चार प्रकार का है। वह भूतादिक प्राणियों के भूतकाल और वर्तमान काल के अर्थ को जानता है। जो परिग्रहधारी, विभाग करने में तत्पर, प्रेरणा में निपुण और कुत्सित स्वभाववाले होते हैं वे भूतादिक कहे जाते हैं। उनमें सत्त्वगुण और तमोगुण दोनों का अस्तित्व रहता है।

देवादि विशेष सृष्टि

सृष्टि करने की इच्छा होने पर प्रजापति में तमोगुण का उद्रेक हुआ और जंघा में से असुरों की उत्पत्ति हुई। जव उस तमोगुण युक्त शरीर का त्याग किया तव उससे रात्रि उत्पन्न हुई। सत्त्वगुण वाला शरीर धारण करके सृष्टि की इच्छा करते ही प्रजापति के मुखसे देवता उत्पन्न हुए। उक्त शरीर का जव त्याग किया तव सत्त्वगुणमय दिन उत्पन्न हुआ। इसके वाद सत्त्वगुण मात्रात्मक शरीर धारण करते ही प्रजापति की

देह से पितर उत्पन्न हुए। उस शरीर का त्याग करने पर प्रातःकाल और सायंकाल की सन्ध्या उत्पन्न हुई। रजोगुण मात्रावाला शरीर धारण करने पर सृष्टि बनाने की इच्छावाले प्रजापति के शरीर से मनुष्य उत्पन्न हुए और थोड़े उस शरीर से रात्रि के अन्त में और दिन के आरम्भ में जो ज्योत्स्ना दिखाई देती है वह उत्पन्न हुई।

ज्योत्स्ना सन्ध्या तथैवाहः, सत्त्वमात्रात्मकं त्रयम्।
तमो मात्रात्मिका रात्रिः, सा वै तस्मात्तमोधिका॥
तस्माद्देवा दिवा रात्रा वसुधारास्तु बलान्विताः।
ज्योत्स्नागमे च मनुजाः, सन्ध्यायां पितरस्तथा॥
भवन्ति बलिनोऽधृष्याः..........

(मा० पु० अ० ४५।१४-१५)

अर्थ—ज्योत्स्ना, सन्ध्या और दिन ये तीन सत्त्व मात्रा रूप हैं। रात्रि तमोगुणमयी है। इसी कारण से दिन में देवता रात्रि में असुर, ज्योत्स्ना में मनुष्य और संन्ध्या काल में पितर बलवान् हैं।

राक्षसादि देवयोनि सृष्टि

रात्रि में भूखे प्यासे प्रजापति ने रजोमय और तमोमय शरीर धारण करके भूख प्यास से कृश, विरूप दाढ़ी मूंछ वाले प्राणी पैदा किए। वे जब शरीर का भक्षण करने लगे तब जिन्होंने 'रक्षा करो' ऐसा कहा वे राक्षस और 'खा जाऊँगा' ऐसा जिन्होंने कहा वे यक्ष हुए। यह देखकर विधाता को अप्रसन्नता हुई जिससे मस्तक से बाल खिरने लगे, वे सर्प हो गये। हीन जाति वाले होने से अहि कहलाये। जो कपिल वर्ण

से उग्र बने हुए और मांसाहारी थे वे भूत और जो वाक्य ग्रहण करते-करते उत्पन्न हुए वे गन्धर्व कहे गये।

पशु आदि सृष्टि

इसके बाद ब्रह्माजी ने पक्षी और पशु बनाये। वे इस प्रकार कि—मुख से अज-बकरे, छाती से भेड़, उदर और दोनों पार्श्व, से गायें, पैर से घोड़े, हाथी, गर्दभ, खरगोश, मृग, ऊंट खच्चर तथा रोम से फल मूल युक्त औषधियाँ उत्पन्न कीं।

ब्रह्माजी ने त्रेतायुग के आरम्भ में यज्ञसृष्टि का उद्योग करते हुए ग्राम्य पशु और श्वापद द्विखुर, हस्ती, वानर, पक्षी, जलचर पशु और सरीसृप (सर्प आदि). अरण्य पशु उत्पन्न किये। विधाता ने प्रथम मुख से यज्ञ की गायत्री, त्रिऋक्-त्रिवृत्, साम रथन्तर और अग्निष्टोम उत्पन्न किये। दक्षिण मुख से यजुः, त्रैष्टुभ छन्द, पंचदश सोम, बृहत्साम और उकथ उत्पन्न किये, पश्चिम मुख से साम, जगती छन्द, पंचदश स्तोम, वैरूप तथा अतिरात्र को उत्पन्न किया। उत्तर मुख से इक्कीस अथर्व आप्तोर्याम, आनुष्टुभ और वैराज को उत्पन्न किया। ब्रह्मा ने कल्प की आदि में बिजली, वज्र, मेघ, रोहित, इन्द्र-धनुष् और पक्षियों की सृष्टि की—और

येषां ये यानि कर्माणि, प्राक्सृष्टेः प्रतिपेदिरे।
तान्येव प्रतिपद्यन्ते, सृज्यमानाः पुनः पुनः॥
(मा० पु० अ० ४५।३९)

अर्थ—जिन-जिन प्राणियों ने पूर्व सृष्टि में जो-जो कर्म किये थे उन्हीं पूर्व कर्मों के अनुसार उन-उन प्राणियों को व्यवस्थित कर दिया।

हिंस्राहिंस्रे मृदुक्रूरे, धर्माधर्मावृतानृते ।
तद्भाविताः प्रपद्यन्ते, तस्मात्तत्तस्य रोचते ॥
इन्द्रियार्थेषु भूतेषु, शरीरेषु च स प्रभुः ।
नानात्वं विनियोगं च, धातैव यद् व्यधात्स्वयम् ॥
नाम रूपं च भूतानां, कृत्यानां च प्रपञ्चनम् ।
वेद शब्देभ्य एवादौ, देवादीनां चकार सः ॥
(मा० पु० अ० ४५।४०-४१-४२)

अर्थ—पूर्वसृष्टि में जिनका जैसा स्वभाव होता है उसी के अनुसार इस वर्तमान सृष्टि में प्राणियों को हिंसा या अहिंसा, मृदुता या क्रूरता, धर्म या अधर्म, सत्य या झूठ, आदि गुण या दोष में रुचि होती है। प्राणी समूह के शरीर में इन्द्रियाँ तथा इन्द्रियों का पदार्थ के साथ योग पूर्व कर्मों के अनुसार विधाता स्वयं रचते हैं। प्राणियों के नाम तथा रूप—तथा कृत्याकृत्य का विस्तार तथा देव आदि के कर्म, वेद के शब्दों से विधाताने आदि में योजित किये—दर्शाये।

रात्रि के अन्त में जागृत होकर विधाता ने हर एक कल्प में ऊपर लिखे अनुसार सृष्टि रचना की है।

मनुष्यों की विशेष सृष्टि

सृष्टि के प्रारम्भ में ब्रह्माजी के मुख से सत्त्वगुणी और तेजस्वी एक हजार मिथुन (स्त्री पुरुष के जोड़े) उत्पन्न हुए। छाती से तेजस्वी, रजोगुणी और क्रोधी एक हजार मिथुन-जोड़े उत्पन्न हुए; जंघा से रजो-तमोगुणी तथा ईर्षायुक्त एक हजार मिथुन उत्पन्न हुए और पग से भी निस्तेज अथवा अल्पतेज युक्त तमोगुणी एक हजार मिथुन-जोड़े उत्पन्न हुए।

अन्योन्यं हृच्छयाविष्टा, मैथुनायोपचक्रतुः ।
ततः प्रभृति कल्पेऽस्मिन्, मिथुनानां हि सम्भवः ॥
मासि मास्यार्तवं यत्तु, न तदासीत्तु योषिताम् ।
तस्मात्तदा न सुषुवुः, सेवितैरपि मैथुनैः ॥
(मा० पु० अ० ४६।८-६)

अर्थ—वे मैथुन प्रसन्न चित्त से परस्पर मैथुन कर्म करने में प्रवृत्त हुए तब से इस कल्प में मिथुन-जोड़े उत्पन्न होने आरम्भ हुए हैं। उस समय स्त्रियों को प्रतिमास ऋतुधर्म नहीं होता था अतः मैथुन सेवन करने पर भी संतति का प्रसव नहीं होता था।

आयुषोऽन्ते प्रसूयन्ते, मिथुनान्येव ताः सकृत् ।
(मा० पु० अ० ४६।६)

अर्थ—वे स्त्रियाँ केवल आयुष्य के अन्तिम भाग में एक पुत्र और एक पुत्री रूप युगल का प्रसव करती थीं। इन युगलों की संतति परम्परा से पृथिवी पर मनुष्य फैल गये जिससे पृथिवी भरपूर हो गई।

उस समय सरदी-गरमी अधिक न थी अतः युगल तालाब, नदी और समुद्र के तीर पर या पर्वतों के ऊपर रहते थे और घूमते थे।

तृप्तिं स्वाभाविकीं प्राप्ता, विषयेषु महामते ।
न तासां प्रतिघातोऽस्ति, न द्वेषो नापि मत्सरः ॥
पर्वतोदधि सेविन्यो, ह्यनिकेतास्तु सर्वशः ।
तावै निष्कामचारिण्यो, नित्यं मुदितमानसाः ॥
(मा० पु० अ० ४६।१४-१५)

अर्थ—उनको विषयों में स्वाभाविक तृप्ति होती है। उनके लिए कोई किसी प्रकार का विघ्न उपस्थित नहीं कर सकता। न उनमें द्वेष है और न मत्सर। पर्वत और समुद्र पर विचरण करने वाले वे मकान तो बनाते ही न थे। सदा निष्काम होकर वे प्रसन्न मन से रहते थे। उस समय मूल, फल, फूल ऋतु, वर्ष आदि कुछ भी न था। वह समय अत्यन्त सुखमय था। इच्छा मात्र से स्वाभाविक तृप्ति हो जाती थी। रसोल्लासवती नाम की सिद्धि उपस्थित होकर के उनकी सब अभिलाषाओं को पूरी कर देती थी। वे स्थिर यौवन थे। संकल्प के बिना ही उनके मिथुन-प्रजा उत्पन्न हो जाती थी। युगल के जन्म और मृत्यु एक साथ होते थे।

चत्वारि तु सहस्राणि, वर्षाणां मानुषाणि तु।
आयुः प्रमाणं जीवन्ति, न च क्लेशाद्विपत्तयः॥

(मा० पु० अ० ४६।२४)

अर्थ—उन युगलियों के आयुष्य का परिमाण मनुष्यों के चार हजार वर्षों का था। उसमें न कोई क्लेश उपस्थित होता था और न विपत्ति।

काल क्रम से इन ऋद्धियों का तो नाश हो गया और आकाश से रस टपकने लगा, जल और दूध की प्राप्ति हुई, और घर में कल्पवृक्षों की उत्पत्ति हुई। इन कल्पवृक्षों से ही उनको समस्त भोग प्राप्त होने लगे। त्रेतायुग के आरम्भ में युगलियों की जीवन यात्रा का निर्वाह ऊपर लिखे अनुसार हो रहा था। धीरे-धीरे काल का परिवर्तन होने पर मनुष्यों में आकस्मिक राग उत्पन्न हुआ।

मांसि मास्यार्त्तवोत्पत्त्या, गर्भोत्पत्तिः पुनः पुनः ।
रागोत्पत्त्या ततस्तासां, वृक्षास्ते गृहसंस्थिताः ॥
प्रणेशुरपरे चासं-श्चतुः शाखा महीरुहाः ।
वस्त्राणि च प्रसूयन्ते, फलेष्वाभरणानि च ॥
तेष्वेव जायते तेषां, गन्धवर्णरसान्वितम् ।
अमाक्षिकं महावीर्यं, पुटके पुटके मधु ॥
(मा० पु० अ० ४६।२६-३०)

अर्थ—प्रतिमास ऋतुधर्म होने से वार-वार गर्भोत्पत्ति होने लगी। युगलियों में ममता और राग बढने लगे अतः घर में रहे हुए कल्पवृक्ष नष्ट होने लगे। चार शाखावाले अन्य वृक्ष उत्पन्न हुए और उनके फलों में वस्त्र और आभरण उत्पन्न होने लगे। उन फलों के प्रत्येक पुट में सुन्दर गन्ध और वर्ण-युक्त मक्खी रहित बलदायक मधु उत्पन्न होने लगा। त्रेता युग के प्रारम्भ में इस मधु का पान करके मनुष्य अपना जीवन व्यतीत करते थे। काल-क्रम से मनुष्य में अत्यन्त लोभ वृत्ति उत्पन्न हो गई। एक दूसरे के वृक्षों के फल चुराये जाने लगे। इस कृत्य से सब वृक्ष नष्ट हो गये। अनन्तर शीत-उष्ण, क्षुधा-तृषा आदि दुःखद्वन्द्व उत्पन्न हुए। उनका निवारण करने के लिये ग्राम-नगर आदि की रचना हुई।

पुरं च खेटकं चैव, तद्वद् द्रोणीमुखं द्विज ?
शाखा नगरकं चापि, तथा खर्वटकं द्रमी ॥
ग्राम संघोप विन्यासं, तेषु चावसथान् पृथक् ।
(मा० पु० अ० ४६ । ४२-४३)

अर्थ—नगर, खेटक (खेड़ा) द्रोणीमुख, शाखानगर खर्वटक, ग्राम, संघोप इत्यादि प्रकार की वस्तियों में रहने के

लिये अलग-अलग घर-निवास-स्थान वसाने की व्यवस्था हुई।

मरुभूमि, पर्वत गुफा इत्यादि स्थानों पर दुर्ग—किलों का निर्माण किया गया और वृक्ष, पर्वत तथा जल के दुर्ग-दुर्गम्य स्थानों में वे रहने लगे।

सोत्सेध वप्रकारं च, सर्वतः परिखावृतम् ॥
योजनार्द्धार्द्ध विष्कम्भ-मष्टभागायतं पुरम्।
प्रागुदक् प्रवणं शस्तं, शुद्ध वंश बहिर्गमम् ॥
तदर्द्धेन तथा खेटं, तत्पादेन च खर्वटम्।
न्यूनं द्रोणी मुखं तस्मा-दष्ट भागेन चोच्यते ॥
प्राकार परिखाहीनं, पुरं खर्वटमुच्यते।
शाखा नगरकं चान्य-न्मन्त्रिसामन्तभुक्तिमत् ॥
तथा शूद्रजनप्रायाः, स्वसमृद्ध कृषीवलाः।
क्षेत्रोपभोग्यभूमध्ये, वसतिर्ग्राम संज्ञिता ॥
अन्यस्मान्नगरादे र्या, कार्यमुद्दिश्य मानवैः।
क्रियते वसतिः सा वै, विज्ञेया वसतिर्नरैः ॥
दुष्टप्रायो विनाक्षेत्रैः, परभूमिचरो बली।
ग्राम एव द्रमी संज्ञो, राज वल्लभ संश्रयः ॥
शकटारूढ भाण्डैश्च, गौपालै र्विपणं विना।
गोसमूहैस्तथाघोषो, यत्रेच्छाभूमिकेतनः ॥

(मा० पु० अ० ४६ । ४३ से ५०)

जल—वर्षा।

कल्पवृक्ष से फल प्राप्ति का समय व्यतीत होने पर भी इतनी सिद्धि रह गई कि उनकी इच्छा के अनुसार पानी बरसने लगा। वर्षा का पानी निम्न प्रदेशों में होकर नदी नालों के रूप में परिणित हो गया।

औषधियाँ ।

ततो भूमेश्च संयोगा—दोषघ्न्यस्तास्तदाऽभवन् ।
अफालकृष्टाश्चानुप्ता, ग्राम्यारण्याश्चतुर्दश ॥
(मा० पु० अ० ४६ । ४६)

अर्थ—इसके बाद भूमि और जल के संयोग से मिट्टी का दोष दूर हो जाने से बिना हल से खेड़े और बोये ही ग्राम और आरण्य-जंगली चौदह प्रकार के वृक्ष, गुल्म और औषधियाँ उत्पन्न हो गईं । वे सब ऋतुओं में पुष्प और फल उत्पन्न करने लगे। कालान्तर में राग और लोभ बढने से वे एक दूसरे की वस्तुएं चुराने लगे जिससे पृथिवी ने औपधियों का ग्रास कर लिया अर्थात् औषधियाँ उत्पन्न होनी बंद हो गईं ।

खाद्य वस्तु का अभाव हो जाने से भूख से व्याकुल होकर के युगलि ये ब्रह्माजी की शरण में गये। ब्रह्माजी ने सुमेरु पर्वत को बछड़ा बनाया और पृथिवी का दोहन किया तब समस्त धान्यों के बीज उत्पन्न हुए। उसी प्रकार ग्राम और वन के वृक्ष उत्पन्न हुए। पकने के बाद सूखनेवाली औपधियाँ भी उत्पन्न हो गईं। इसके बाद ब्रह्माजी ने कर्मसे सिद्ध होनेवाली हस्तसिद्धि उत्पन्न की तब से कृष्टपच्या (जोतने और बोने से उत्पन्न होनेवाली) औपधियाँ पैदा हुईं। इसी समय ब्रह्माजी ने वर्ण व्यवस्था, आश्रम धर्म और कर्म व्यवस्था की योजना की। और ब्राह्मण आदि वर्णों का स्थान निश्चित किया ।

प्राजापत्यं ब्राह्मणानां, स्मृतं स्थानं क्रियावताम् ।
स्थानमैन्द्रं क्षत्रियाणां, संग्रामेष्वपलायिनाम् ॥

वैश्यानां मारुतं स्थानं, स्वधर्ममनुवर्तताम् ।
गान्धर्वं शूद्रजातीनां, परिचर्यानुवर्तिनाम् ॥
अष्टाशीति सहस्राणा—मृषीणामूर्ध्वरेतस्साम् ।
स्मृतं तेषां तु यत्स्थानं, तदेव गुरुवासिनाम् ॥
सप्तर्षीणां तु यत्स्थानं, स्मृतं तद्वै वनौकसाम् ।
प्राजापत्यं गृहस्थानां, न्यासिनां ब्रह्मणोऽक्षयम् ॥
योगिनाममृतस्थान-मितिवै स्थानकल्पना ॥
(मा० पु० अ० ४६।७७।७८।७६।८०।)

अर्थ—क्रियापरायण ब्राह्मणों का प्राजापत्य स्थान है, संग्राम में पीछे न हटनेवाले क्षत्रियों का ऐन्द्रस्थान है, स्वधर्म परायण वैश्यों का मारुत स्थान है, सेवा करनेवाले शूद्रों का गांधर्व स्थान है। ऊर्ध्वरेतस इठ्यासी हजार ऋषियों का जो स्थान है वही गुरुकुलवासी ब्राह्मणों का स्थान है। सप्तऋषियों का जो स्थान है वही स्थान वनवासी-वानप्रस्थों का है। गृहस्थों का प्राजापत्य स्थान और संन्यासियों का अक्षय ब्राह्मपद स्थान है। और योगियों का अमृत स्थान है। इति स्थान कल्पना।

मानसिक सृष्टि

ब्रह्माने सृष्टि का विस्तार करने के लिए अपने जैसे समर्थ मानस पुत्र उत्पन्न किये। वे इस प्रकार हैं—भृगु, पुलस्त्य, पुलह, क्रतु, अंगिरस, मरीचि, दक्ष, अत्रि, वशिष्ठ और इन नौ के उपरान्त क्रोधात्मक दसवाँ रुद्र नामक पुत्र। संकल्प और धर्म नाम के दो पुत्र पूर्व के भी पूर्वज रूप से उत्पन्न हुए। ये सब पुत्र भविष्य के जानने वाले रागद्वेष रहित-वीतराग, संसार में अनासक्त और समाधि भाव में तल्लीन रहने

वाले हुए अतः सृष्टि के कार्य में उपयोगी न हो सके। इससे क्रोधित होकर के ब्रह्मा जी ने सूर्य के समान एक तेजस्वी पुत्र उत्पन्न किया जिसका आधा शरीर पुरुषाकृति और आधा स्त्री की आकृति वाला था। पुरुष और स्त्री का युगल रूप एक जोड़ा पैदा करके ब्रह्मा जी अन्तर्धान हो गये। जो भाग पुरुष रूप था उसके ब्रह्मा जी ने पुनः सौम्य, असौम्य, शान्त, असित, सित आदि ग्यारह विभाग किए। जो प्रथम पुरुष भाग था उसका ब्रह्मा जी ने स्वायंभुव मनुनाम रखा और स्त्री भाग का नाम शतरूपा रखा। स्वायंभुव मनुने शतरूपा को अपनी पत्नी बना लिया इससे प्रियव्रत, उत्तानपाद ये दो पुत्र और आकूति तथा प्रसूति ये दो पुत्रियाँ उत्पन्न हुईं। इस प्रकार स्वायंभुव मनु से मनु सृष्टि का विस्तार आगे बढ़ा और पृथिवी पर फैल गया।

(मा० पु० अ० ४७। १ से १५ पर्यन्त)

मार्कण्डेय पुराण का सृष्टिक्रम

१ ब्रह्मा	७ वैकारिक सर्ग (पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ पाँच कर्मेन्द्रियाँ और मन)
२ प्रकृति	८ अण्ड-ब्रह्माधिष्ठित
३ महत्तत्व	९ शरीरधारी ब्रह्मा-सर्व व्यापक
४ अहंकार	१० स्थावर सृष्टि (द्वीप, सागर पहाड़, नदी, स्वर्गलोक)
५ पांच तन्मात्राएँ	११ तम आदि अविद्या पंचक
६ पांच महाभूत	१२ तिर्यक् सामान्य

१३ देवसामान्य	३० गायत्री, त्रिऋक्, त्रिवृत्, साम, रथन्तर, अग्निष्टोम।
१४ मनुष्य सामान्य	३१ यजुर्वेद इत्यादि
१५ भूतादिक अनुग्रह सर्ग	३२ सामवेद इत्यादि
१६ असुर और रात्रि	३३ अथर्ववेद
१७ देवता और दिन	३४ मिथुन-युगल सृष्टि
१८ पितर और संध्या	३५ रसोल्लासवती सिद्धि
१९ मनुष्य और ज्योत्स्ना	३६ कल्पवृक्ष, मधु
२० राक्षस	३७ ग्राम, नगर, द्रोणीमुख, खेटक इत्यादि
२१ यक्ष	३८ वर्षा
२२ सर्प-अहि	३९ औषधि-वृक्ष
२३ भूत	४० अनाज, गेहूँ, चाँवल आदि
२४ गन्धर्व	४१ प्राजापत्य इत्यादि स्थान
२५ बकरे, भेड़	४२ भृगुआदि ऋषि
	४३ स्वायंभुव-मनु और शतरूपा
२६ गायें	४४ उत्तानपाद आदि सन्तान परम्परा इति
२७ हाथी, घोड़े, गधे, खरगोश, मृग, ऊँट और खच्चर।	
२८ औषधियाँ	
२९ श्वापद, द्विखुर, वानर, पक्षी, जलचर, सरीसृप।	

मार्कण्डेय पुराण के अनुसार प्रलय

मनुष्यों के एक वर्ष से देवताओं का एक अहोरात्रि होता

है। मनुष्यों का दक्षिणायन देवताओं का दिन और उत्तरायण रात है। तीस अहोरात्रियों का एक मास, बारह मासों का एक वर्ष अर्थात् मनुष्यों के ३६० वर्षों से देवताओं का एक वर्ष होता है। देवताओं के चार हजार वर्षों काकृतयुग-सत्ययुग, तीन हजार वर्षों का त्रेता, दो हजार वर्षों का द्वापर और एक हजार वर्षों का कलियुग होता है। चारों युगों के दस हजार वर्ष होते हैं तथा चारों युगों की संध्या और संध्यांशों के इस प्रकार दो हजार वर्ष होते हैं—सतयुग की सन्ध्या के चार सौ वर्ष और संध्यांश के भी चार सौ वर्ष, त्रेता के तीन-तीन सौ; द्वापर के दो-दो सौ और कलियुग के सौ-सौ वर्ष। कुल चारों युगों के बारह हजार वर्ष हुए। इनको एक हजार से गुणा करने पर ब्रह्मा का एक दिन होता है। इतने समय में मनुष्यों के ४३२०००००० वर्ष व्यतीत हो जाते हैं। इतने समय में चौदह मन्वन्तर होते हैं। आठ लाख बावन हजार दिव्य वर्षों का एक मन्वन्तर होता है। चौदह मन्वन्तरों के ११६२८००० दिव्य वर्ष होते हैं। अन्य प्रकार से इकहत्तर चतुर्युगी में एक मन्वन्तर होता है। ऐसे चौदह मन्वन्तर पूरे होने पर या ब्रह्माका एक दिन पूरा होने पर जो प्रलय होता है वह नैमित्तिक प्रलय कहलाता है। इस प्रलय में भूर्लोक,भुवर्लोक और स्वर्लोक का विनाश हो जाने पर इसमें रहने वाले महर्लोक में चले जाते हैं और वहाँ भी ताप लगने पर जन लोक में चले जाते हैं। नैमित्तिक प्रलय में महर्लोक का नाश नहीं होता है। ब्रह्मा की रात्रि का परिमाण दिन के बराबर है। ३६० नैमित्तिक प्रलय या नैमित्तिक सर्ग पूरे होने पर ब्रह्मा का एक वर्ष होता है। ऐसे सौ वर्षों का ब्रह्माजी

का आयुष्य है। उसकी पर संज्ञा है। पचास वर्षों की परार्द्ध संज्ञा है। एक परार्द्ध से एक महाकल्प होता है। अर्थात् ब्रह्मा के पचास वर्ष में ब्राह्मनाम का महाकल्प व्यतीत हो गया है। इस समय वाराह नाम का दूसरा महाकल्प चलता है। उसके पूर्ण हो जाने पर चालू ब्रह्मा का जीवन पूर्ण हो जायगा। उसके बाद ब्राह्मकल्प आयगा उसमें नये ब्रह्माजी होंगे। एक ब्रह्मा के जीवनकाल में छत्तीस हजार बार नैमित्तिक सृष्टि-प्रलय होते हैं। वर्तमान ब्रह्माजी का जो अन्तिम प्रलय होगा वह प्राकृत प्रलय कहलाता है। इसमें तीनों लोक जलाकार हो जायँगे। अर्थात् महर्लोक भी नष्ट हो जायगा। जगत् प्रकृति में लीन हो जायगा और प्रकृति ब्रह्मा में लीन हो जायगी। यह प्राकृत प्रलय है।

(मा० पु० अ० ४३।२२ से ४४ तक)

शिवपुराण की शिवसृष्टि

प्रलयकाल में नामरूप रहित ब्रह्म के सिवाय अन्य कुछ न था। ब्रह्म ने अपनी इच्छा मात्र से पाँच मुखवाला, दस भुजा वाला, हाथ में त्रिशूल धारण किया हुआ एक शरीर धारण किया जो सदाशिव के नाम से प्रसिद्ध हुआ—यही ईश्वर है। इसने एक शक्ति बनाई, जिसको प्रकृति तथा माया भी कहते हैं। बाद में वह अम्बिका के नाम से प्रसिद्ध हुई। शक्ति की सहायता से शिव ने शिवलोक बनाया जिसे काशीपुरी भी कहते हैं। उसके आनन्द वन में शिवने शक्ति के दसवें अंग में अमृत का सिंचन किया। जिससे एक सुन्दर पुरुष उत्पन्न हुआ। उस पुरुष ने शिव को नमस्कार करके अपना नाम तथा कर्म

पूछा। तब शिव ने कहा कि तुम्हारा नाम विष्णु है, सृष्टि के लिए तप करो। विष्णु ने देवताओं के बारह हजार वर्ष तक कठिन तपस्या की किन्तु उसका मनोरथ सिद्ध नहीं हुआ। थकावट से विष्णु के अंगों से शिव-शक्ति द्वारा पसीने के रूप में जल की विपुल धाराएँ निकलीं। इसी समय विष्णु ने चौवीस तत्त्व बनाये। उन २४ तत्त्वों को साथ लेकर के विष्णु सो गये। इस अर्से में सदाशिव ने अपनी माया से ब्रह्मा को बना कर कमल से प्रकट किया। थोड़े समय पश्चात् जब विष्णु जागे और ब्रह्मा को देखा तो परस्पर विवाद उत्पन्न हो गया, जिसका वर्णन शिव पुराण के विद्येश्वर संहिताके छट्ठे अध्याय में नीचे लिखे अनुसार किया गया है—

युयुधातेऽमरौ वीरौ, हंसपक्षीन्द्रवाहनौ।
वैरंच्या वैष्णवाश्चैव, मिथो युयुधिरे तदा॥
तावद्विमानगतयः, सर्वा वै देवजातयः।
दिदृक्षवः समाजग्मुः, समरं तं महाद्भुतम्॥
क्षिपन्तः पुष्पवर्षाणि, पश्यन्तः स्वैरमम्बरो।
सुपर्णवाहनस्तत्र, क्रुद्धो वै ब्रह्मवक्षसि॥
मुमोच बाणानसहा-नस्त्रांश्च विविधान् बहून्।
मुमोचाथ विधिःक्रुद्धो, विष्णोरुरसि दुःसहान्॥
बाणाननलसंकाशा-नस्त्रांश्च बहुशस्तदा।
तदाश्चर्यमितिस्पष्टं, तयोः समरगोचरम्॥

... ...

ततो विष्णोः सुसंक्रुद्धः, श्वसन् व्यसनकर्षितः॥
माहेश्वरास्त्रं मतिमान्, संदधे ब्रह्मणोपरि।

ततो ब्रह्मा भृशं क्रुद्धः, कंपयन् विश्वमेव हि ॥
अस्त्रं पाशवं घोरं संदधे विष्णुवक्षसि ।
ततस्तदुत्थितं व्योम्नि, तपनायुतसंनिभम् ॥
सहस्रमुखमत्युग्रं, चण्डवात भयंकरम् ।

... ...

अर्थ—हंस वाहन ब्रह्मा और गरुड़ वाहन विष्णु, दोनों अपने अपने नौकर चाकरों के साथ, परस्पर युद्ध करने लगे। देवता इस युद्ध को देखने के लिए आये और दोनों पर पुष्पवृष्टि की। क्रोधाग्नमान विष्णु ने ब्रह्मा की छाती में मारने के लिये बाण और विविध प्रकार के अस्त्र छोड़े। क्रद्ध ब्रह्माने भी इसी प्रकार अग्नि के समान असह्य बाण और अस्त्र विष्णु की छाती में मारने के लिये फेंके। यह युद्ध सब को आश्चयकारी लगा। विष्णु ने थोड़ा दम लेकर ब्रह्मा के ऊपर माहेश्वर अस्त्र का और ब्रह्मा ने भी अति क्रुद्ध होकर विश्व को कंपानेवाला पाशुपत अस्त्र विष्णु की छाती को लक्ष्य कर के फेंका। इससे आकाश में दस हजार सूर्यों के समान विलक्षण तेज चमक उठा और प्रचण्ड भवन से भयंकर स्थिति उत्पन्न हो गई। यह देखकर देवता अत्यन्त व्याकुल हो गये।"

इसी अवसर पर शिवने प्लुत उच्चारण से ओंकार शब्द सुनाया। ओंकार शब्द सुनकरके दोंनों का क्रोध शान्त हो गया। यहाँ शब्द ब्रह्म की उत्पत्ति हुई अर्थात् अकारादि वर्णों की सृष्टि हुई। शान्त होकर के ब्रह्मा ने शिव का स्मरण किया और और पूर्व सृष्ट जलमें अंजलि डाली। अंजलि डालते ही जल अंड रूप में परिणत हो गया। ब्रह्मा ने विष्णु को कहा कि

यह विराट् रूप अण्ड जड़ है इसलिये आप इसमें चैतन्य उत्पन्न करो। तब विष्णु ने अव्यक्त रूप धारण करके उस अण्ड में प्रवेश किया। इस तरफ ब्रह्मा ने तम, मोह, महामोह, तामिस्र और अंधतामिस्र यह अविद्यापंचक उत्पन्न किया। बाद में स्थावर और दुःखयुक्त तिर्यक् सृष्टि बनाई। इसके बाद उर्ध्व-स्रोतस्—सात्विक देव सृष्टि और अर्वाक् स्रोतस्—मनुष्यसृष्टि उत्पन्न की। इसके बाद भूतादिक उत्पन्न किये। इसके बाद तपस्या करते हुए ब्रह्मा की भृकुटि से रुद्र का आविर्भाव हुआ। शब्दादिक और भूतादिक को पंचीकृत करके ब्रह्मा ने उनमें से स्थूल आकाश, वायु, अग्नि, जल, भूमि, पहाड़, समुद्र वृक्ष, और कला से लेकर युग पर्यन्तकालकी रचना की। पश्चात् ब्रह्मा ने मरीचि आदि ऋषि पैदा किए। इसके पश्चात् शरीर के दो भाग करके एक भाग से शतरूपा और एक भाग से मनु का निर्माण करके मैथुनी सृष्टि का आरम्भ किया।

(शि० पु० रुद्रसंहिता अ० ६ से १५ तक)

सृष्टि क्रम

१ ब्रह्म
२ सदाशिव
३ शक्ति-अंबिका
४ शिवलोक
५ विष्णु
६ जलधारा
७ चौवीस तत्व
८ ब्रह्मा
९ ब्रह्मा-विष्णु युद्ध
१० ओंकार शब्द ब्रह्म
११ अण्ड
१२ अविद्या पंचक
१३ स्थावर
१४ तिर्यञ्च
१५ देव
१६ मनुष्य
१७ भूत
१८ रुद्र
१९ शब्दादि भूतोंका पंचीकरण
२० आकाशादि स्थूलभूत
२१ पहाड़, समुद्र, वृक्ष आदि
२२ मरीचि आदि मुनि
२३ मनु और शतरूपा
२४ मैथुनी सृष्टि

शिव सृष्टि का दूसरा प्रकार

प्रारम्भकाल में एकाकी ब्रह्म को वहु होने की इच्छा उत्पन्न हुई। इस इच्छा का नाम ही प्रकृति है। विचित्र वस्त्र और आभूषण धारण किये गये प्रकृति की आठ भुजाएँ थीं। और हाथों में अनेक आयुध धारण किये हुए थे। पुरुष और प्रकृति दोनों को चिन्ता हुई कि हमें क्या करना चाहिए? इतने में आकाशवाणी हुई कि तप करो। दोनों ने कठिन तप किया। उसके परिश्रम से पसीना हो आया। पसीने के जल से सारा जगत् व्याप्त हो गया। प्रकृति से युक्त वह पुरुष उस जल में सो गया जिससे उसका नाम नारायण और प्रकृति का नाम नारायणी हुआ। उसमें से ब्रह्म सम्बन्धी तत्त्वों का प्रादुर्भाव हुआ। प्रकृति से महत्तत्व, उससे सत्त्वादि तीन गुण, उनसे अहंकार, अहंकार से पाँच तन्मात्राएँ, पंच तन्मात्राओं से पाँच महाभूत उत्पन्न हुए। उनमें से पांच ज्ञानेन्द्रियाँ, पाँच कर्मेन्द्रियाँ और मन उत्पन्न हुए। इन सब को ग्रहण करके जल में सोए हुए विष्णु की नाभि से कमल निकला। कर्णिकायुक्त उस कमल में अनन्त पत्ते थे जो अनन्त योजन लम्बे चौड़े और ऊँचे थे। उस कमल से हिरण्य गर्भ नामधरी ब्रह्मा पैदा हुआ। उसे कमल के अतिरिक्त और कुछ भी नहीं दिखाई दिया। प्राकृत पुरुष की तरह उसे विचार हुआ कि मेरा कौन उत्पादक है और मुझे क्या कार्य करना है? ऊहापोह करने पर ज्ञात हुआ कि कमल के मूल में मेरा उत्पादक होगा। ऐसा विचार करके कमल की नाल पकड़ते हुए ब्रह्मा जी नीचे उतरे। सौ वर्ष तक नीचे उतरते रहे मगर

मूल का का पता न लगा। पुनः ऊपर की तरफ लौटे मगर अग्र भाग भी न मिला। तब आश्चर्यमग्न होकर ब्रह्मा जी गोते खाने लगे। इतने में आकाश वाणी हुई कि हे ब्रह्मन्! तप करो। बारह वर्ष पर्यन्त कठिन तप किया तब विष्णु प्रकट हुए। वैष्णवीमाया देखकर ब्रह्मा को क्रोध हो आया। गुस्से से ब्रह्मा जी बोले कि तू कौन है? विष्णु ने कहा कि मैं तेरा पिता हूँ। ब्रह्मा जी घुड़क कर बोले कि हैं तू मेरा पिता!! अरे तेरा भी कोई पिता होगा या नहीं? इस प्रकार वचन-विवाद ने बहुत भयंकर रूप धारण कर लिया। दोनोंके कलह को शान्त करने के लिए दोनों के बीच में प्रलयकाल की अग्नि के समान ज्योतिरूप एक लिङ्ग प्रकट हुआ। उसकी न तो कहीं आदि थी और न अन्त ही। उसे किसी की उपमा भी नहीं दी जा सकती। वस्तुतः वह अनिर्वचनीय था। उस अग्नि स्तम्भ को देखकर ब्रह्मा और विष्णु दोनों आश्चर्यान्वित हो गये। दोनों ने सलाह करके समाधान किया कि इस स्तम्भ का हमें अन्त लाना चाहिए। ब्रह्मा जी ने हंस रूप बनाया और उस पर बैठकर ऊपर अग्र भाग की तरफ चले और विष्णु जी वराह रूप धारण करके नीचे की तरफ चले। भ्रमण करते-करते दोनों थक गये किन्तु स्तम्भ के ऊपर या नीचे के भाग का पता न लगा। दोनों पीछे लौटकर के एक स्थान पर मिले और शिव की स्तुत करने लगे। तब ओंकार शब्द स्पष्ट सुनाई दिया। स्तुति से प्रसन्न होकर के महादेव ने कहा कि हे ब्रह्मन् तुम सृष्टि बनाओ और विष्णु को कहा कि तुम इसकी सहायता करो। इतने में अग्नि स्तम्भ अदृश्य हो गया। विष्णु स्वस्थान पर चले गये। ब्रह्माजी ने सृष्टि बनाने के लिए पूर्व सृष्ट जल में हाथ डाला कि तुरन्त वह जल

अण्डरूप में परिणत हो गया। वह अण्ड विराट् रूप हो गया। बाद में ब्रह्माजी ने तप किया, तप से प्रसन्न होकर के विष्णु जी ने वर मांगने के लिये कहा। ब्रह्मा जी ने कहा कि अण्डजन्य विराट् जड़ है अतः आप इसे चैतन्य युक्त करदो। तब विष्णु ने हजार मस्तक, हजार भुजाएं, हजार नेत्र और हजारों चरणों से युक्त होकर के भूमि को चारों ओर से स्पर्श करके उस अण्ड को व्याप्त कर लिया। उसमें चैतन्य आ गया। पाताल से लेकर सत्यलोक तक उसकी अवधि हुई। बाद में ब्रह्मा ने सनकादिक पुत्र उत्पन्न किए और इसके बाद ऋषि पैदा किए किन्तु दोनों विरक्त होकर आगे की सृष्टि बनाने से इन्कार करने लगे। इसके दुःख से ब्रह्मा जी रो पड़े। रुदन करते हुए ब्रह्मा जी के शरीर से ११ रुद्र उत्पन्न हुए। ब्रह्मा को सान्त्वना देकर वे कैलास में चले गये। पश्चात् ब्रह्मा जी ने भृगु आदि सात ऋषि बनाये। इसके बाद उरु देश से नारद, छाया से कर्दम, अंगुष्ठ से दक्ष इस प्रकार दस पुत्र उत्पन्न किये। बाद में इनकी संतानों और असन्तानों से पृथिवी भर गई।

(शि० पु० ज्ञानसंहिता अ० २ से ६ तक)

सृष्टिक्रम

१ ब्रह्मा—नारायण

२ पसीना—जलधारा

३ सत्वादि तीन गुण

४ पांचतन्मात्राएं

५ पाँच ज्ञानेन्द्रिय, कर्मेन्द्रिय और मन

६ हिरण्यगर्भ ब्रह्मा

७ विष्णु	८ ब्रह्मा विष्णु युद्ध
९ अग्नि स्तम्भ लिङ्ग	१० ओंकार-शब्द ब्रह्म
११ अंड	१२ विराट् सचैतन्य
१३ प्रकृति—नारायणी	१४ महत्तत्त्व
१५ अहंकार	१६ आकाशादि महाभूत
१७ कमल	१८ सनकादि मुनि और ऋषि
१९ रुद्र	२० भृगु आदि सात ऋषि
२१ नारद, कर्दम, दक्ष आदि दस पुत्र	२२ उनकी सन्तानें

देवी भागवत की प्रकृति देवी की सृष्टि

प्रलयकाल के अन्त में विष्णु की नाभि से निकले हुए ब्रह्मा जी अपनी उत्पत्ति कहाँ से हुई उसका मूल ढूँढने के लिए एक हजार वर्ष तक घूमते रहे किन्तु पता न लगा। आकाश वाणी हुई कि 'तप करो' पद्म पर बैठ कर एक हजार वर्ष तप किया। पीछी आकाश वाणी हुई कि 'सर्जन करो'। किसमें से सर्जन करूं? ब्रह्मा जी को कुछ सूझा नहीं। मधुकैटभ नाम के दो दैत्य मिले, उनके भय से कमल की नाल में घुसकर ब्रह्मा जी छिप गये। अन्दर चतुर्भुज विष्णु शेष शय्या पर सोये हुए दिखाई दिये। उनको स्तुति करके जगाया। वे ऊपर आये। मधुकैटभ के साथ पाँच हजार वर्ष पर्यन्त युद्ध किया। दैत्य हटे नहीं। विष्णु ने प्रसन्न होकर वरदान मांगने के लिए कहा। अभिमानी दैत्य ने कहा हम तो पूर्ण कामना वाले हैं तुम ही वरदान मागो विष्णु ने कहा तुम्हारा मस्तक देदो। उन्होंने

कहा हम जल में नहीं मर सकते। जल के बाहर बाहर विष्णु ने अपनी जंघा फैला दी। उस पर बैठकर दैत्यों ने अपना सिर काटकर दे दिया। इसके बाद ब्रह्मा और विष्णु के पास रुद्र आ पहुँचे। तीनों मिलकर स्तुति करने लगे। इतने में आकाश वाणी हुई कि तुम तीनों सृष्टि स्थिति और लय के कार्य में लग जाओ। इतना कहती हुई एक देवी प्रकट हुई। तीनों ने देवी से कहा कि यहाँ तो जल के सिवाय अन्य कुछ भी नहीं है हम कहाँ बैठे और किस प्रकार अपना कार्य करें? देवी हँस पड़ी। इतने में आकाश से एक विमान उतरा। देवी ने कहा तुम तीनों जने इस विमान में बैठ जाओ मैं एक आश्चर्यकारी चीज़ बताऊंगी। देवी के साथ तीनों बैठ गये और विमान आकाश में उड़ गया। विमान उनको ऐसे स्थान पर ले गया जहाँ जल के बजाय विस्तीर्ण पृथिवी और बाग-बगीचे थे। विमान अभी और आगे चला स्वर्गलोक आया। वहाँ इन्द्र, कामधेनु, नंदनवन वगैरह देखे। उससे आगे ब्रह्मलोक आया, चतुर्मुख सनातन ब्रह्मा को देखा। वहाँ से भी आगे चले तो शिवलोक (कैलास लोक) दिखाई दिया। वहाँ पंचमुखी महादेव को देखा। वहाँ से आगे विष्णुलोक-वैकुण्ठ में लक्ष्मी जी युक्त सनातन विष्णु को देखकर आश्चर्य को प्राप्त हुए। वहाँ से आगे बढ़ते हुए महाद्वीप में पहुँचे। वन उपवन से सुशोभित उस द्वीप में एक पलंग पर बैठी हुई दिव्यांगनाएं दिखाई दीं। उनको चारों ओर से देव कन्याएं घेर कर बैठी हुई थीं। ब्रह्माने पूछा कि "यह स्त्री कौन है?" ज्ञान बल से जानकर विष्णु ने जबाब दिया कि यही सब का मूल कारणभूत प्रकृति देवी है। यही प्रकृति नित्य ब्रह्म और अनित्य माया रूप में रहनेवाली इच्छाशक्ति है। क्या तो देवता और क्या देवियाँ

सब की अपेक्षा इसकी शक्ति बढ़कर है। ब्रह्म आदि सब की यह माता है। तीनों देवी के साथ विमान से उतर कर ज्यों ही प्रकृति देवी के द्वार में प्रविष्ट हुए कि उन्हें स्त्रीरूप बना दिया। प्रकृति देवी को नमस्कार कर के सामने खड़े रहे। उस देवी के पाद पद्म के एक नख में स्थावर जंगमात्मक निखिल ब्रह्माण्ड उनको दिखाई देने लगा। कमल पर बैठे हुए ब्रह्मा, मधुकैटभ के पास शेष शय्या पर सोये हुए विष्णु, आदि सब वस्तु उस दर्पण में दिखाई देने लगी। स्त्री रूप बने हुए ब्रह्मा,,विष्णु महेश आदि बड़े चक्कर में पड़ गये। यह अद्भुत लीला देखते-देखते वहाँ सौ वर्ष व्यतीत हो गये। इसके बाद विष्णु ने देवी की स्तुति की,उनकी स्तुति पूरी होने पर शंकर ने स्तुति की, स्तुति से प्रसन्न होकर देवी ने शंकर को नवाक्षर मंत्र दिया। उसका जाप शंकर ने वहीं शुरू कर दिया। इसके बाद ब्रह्मा ने स्तुति की तब देवी ने कहा कि उस परम पुरुष से मेरा अभेदभाव है। मुझ में और उसमें किसी प्रकार का भेद भाव नहीं है। जो मैं हूँ वही पुरुष है और जो पुरुष है वही मैं हूँ। केवल बुद्धिभ्रम से मनुष्य हम में भेद देखते हैं। इस प्रकार भेदाभेद का वर्णन करती हुई और सृष्टि की शिक्षा देती हुई प्रकृति देवी आत्म प्रशंसा करती है। हे विधे! संसार में ऐसी कोई वस्तु नहीं है कि जो मुझ से संयुक्त न हो। मैं ही सर्वरूपा हूँ। प्रत्येक उत्पन्न कार्य में प्रत्येक पदार्थ में शक्ति रूप से मैं अवस्थान कर रही हूँ। अग्नि में उष्णता, जल में शीतलता, सूर्य में ज्योति, चन्द्र में प्रकाश, ये सब मेरे प्रभाव को प्रकट करने वाले केन्द्र हैं। जिन पदार्थों को मैं छोड़ दूँ वे हिलने चलने में भी समर्थ नहीं रह सकते। मेरे प्रभाव से ही शंकर दैत्यों का संहार करता है। मैं

चाहूँ तो आज ही समस्त जल को शोषित कर के समस्त पवन को रोक सकती हूँ। मैं जो चाहूँ वह कर सकती हूँ। शायद तुम यों कहो कि यदि आप सर्वरूपा और नित्य हो तो जगत् भी नित्य सिद्ध होगा, उसको आपने उत्पन्न कैसे किया? ऐसी आशंका करना ठीक नहीं है, क्योंकि असत् पदार्थ की उत्पत्ति तीनों काल में कभी भी नहीं हो सकती। क्या कभी किसी ने वन्ध्या पुत्र और आकाश-पुष्प की उत्पत्ति देखी है? कभी नहीं। सत् की ही उत्पत्ति होती है। उत्पत्ति और प्रलय का अर्थ आविर्भाव तिरोभाव मात्र है। जगत् सत् और नित्य है किन्तु कभी उसका आविर्भाव होता है और कभी तिरोभाव होता है। प्रलयकाल में मुझमें ही जगत् का तिरोभाव होता है और सृष्टि काल में मुझ में से ही आविर्भाव होता है। सब पदार्थों में प्रथम अहंकार उत्पन्न होता है। इसके बाद महदादिरूप से वे सात प्रकार के होते हैं। हे ब्रह्मन्! रजोगुणमयी वह सरस्वती देवी तुम्हें अर्पण करती हूँ यह तुम्हारी सहचरी होगी। इसको साथ लेकर तुम बिना विलम्ब सत्यलोक में चले जाओ। महत्तत्त्व रूपी बीज से चतुर्विध जीवों की सृष्टि करो। लिंग शरीर, जीव और कर्म समूह जो सम्मिलित हो गये हैं उनको पहले के समान पृथक् पृथक् करो। चराचर सकल जगत् को शब्दादिगुण द्वारा काल, कर्म और स्वभाव इन तीनों कारणों के साथ पूर्ववत् संयुक्त करो। सारांश यह है कि जिसका जो गुण हो तथा प्रारब्ध कर्म के फल भोग का जो समय प्राप्त हो तथा जिसका जो स्वाभाविक गुण हो, उसी काल में उस गुण और उस कर्म के अनुसार उसे फल अर्पण करो। ब्रह्मा के साथ इतनी बात करके विष्णु से कहा कि हे विष्णो! सत्त्व गुणमयी महालक्ष्मी

मैं तुम्हे अर्पित करती हूँ इसे लेकर के तुम वैकुण्ठ पुरी बनाकर उसमें निवास करो। इसके बाद शंकर के साथ बातचीत चली—हे शंकर! इस जगत् में ऐसी कोई वस्तु नहीं है कि जिसमें तीन गुण विद्यमान न हों। केवल परमात्मा निर्गुण है किन्तु वह दृष्टिगोचर नहीं है। मैं परा प्रकृति हूँ। कभी सगुण और कभी निर्गुण बना करती हूँ। मैं निरन्तर कारण रूपिणी हूँ। कभी भी कार्य रूपिणी नहीं होती हूँ। सर्गकाल में सगुण बन जाती हूँ और प्रलयकाल में जब परमात्मा में लीन होती हूँ तब निर्गुण बन जाती हूँ। महत्तत्त्व अहंकार और शब्दादि गुण समुदाय कार्य कारण रूप से रात दिन जगत् का व्यापार किया करते हैं। अपंचीकृत तन्मात्रा से पंचीकृत महाभूत उत्पन्न होता है। और उससे समस्त प्रपञ्च की उत्पत्ति होती है। पंच तन्मात्रा के सात्त्विक अंश से पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ, रज अंश से पाँच कर्मेन्द्रियाँ और पंचभूतों के सम्मिलित सात्त्विक अंश से मन उत्पन्न होता है। आदि पुरुष परमात्मा है। वह जैसे कार्य नहीं है वैसे कारण भी नहीं है। बस, अब तुम मेरा कार्य सिद्ध करने के लिए अपने स्थान पर चले जाओ।

ज्योंही वे विमान में बैठे और कुछ आगे गये कि तुरन्त ही पुरुष रूप में परिणत हो गये। थोड़ी देर में जहाँ से आये थे वहीं पहुँच गये। वहाँ जाकर ब्रह्मा ने महत्तत्त्व, त्रिगुण अहंकार आदि क्रम से सृष्टि रचना की। उसमें कोई नवीनता नहीं है। केवल मेदिनी-पृथ्वी मधुकैटभ दैत्य की मेद से बनाई गई। शेष वर्णन स्वायंभुव मनु और शतरूपा तक का पूर्ववत् है।

(दे० भा० पु० स्कन्ध ३ अ० २ से ८ तक)

सारांश–स्पष्टीकरण

इस सृष्टि का वर्णन प्रायः आलंकारिक है। परमात्मा और उसकी शक्ति दोनों का वास्तविक अभेद दिखाया गया है। औपाधिक भेद बताया गया है। संपूर्ण शक्ति को प्रकृतिदेवी का रूपक दिया हुआ है। सांख्यों की प्रकृति और वेदान्तियों की माया-इन दोनों का परमात्माकी शक्ति में समावेश कर दिया गया है। प्रकृतिदेवी की शिक्षा और प्रसाद प्राप्त किये बिना ब्रह्मा, विष्णु और महेश तीनों देव अकिञ्चित्कर हैं। प्रकृति-देवी के पास ये तीनों बालक के समान हैं। ब्रह्मा स्वयं अपने मुखसे कहता है कि जब मैं बालक होकर अपना अंगूठा चूस रहा था तब यह प्रकृति देवी माता मुझेझुलावनहारी थी। प्रारम्भ में ब्रह्मा, विष्णु दोनों चक्कर में पड़ जाते हैं—कहां बैठना और किस प्रकार सृष्टि रचना करनी चाहिए इसकी सूझ नहीं पड़ती है, तब एक देवी उनको विमान में बिठाकर प्रकृति देवी की शरण में ले जाती है। सनातन ब्रह्मा और सनातन विष्णु के ब्रह्मलोक में और वैकुण्ठ लोक में दर्शन करके नकली ब्रह्मा और नकली विष्णु आश्चर्य करते हैं। प्रकृति देवी के निवास स्थान मणिद्वीप की महिमा तो सब लोकों की अपेक्षा श्रेष्ठ बताई गई है। प्रकृति के तीन गुण रज, सत्त्व और तम की शक्तियों की सरस्वती, लक्ष्मी और अम्बादेवी रूप से कल्पना करके ब्रह्मा, विष्णु और महेश को अर्पित की गई हैं। अन्य प्रकार से कहें तो रजो गुण का ब्रह्मा को, सतोगुण का विष्णु को और तमोगुण का महेश को रूपक दिया गया है। इस प्रकार यदि आलंकारिक पद्धति को छोड़ दिया जाय तो प्रकृति और सत्वादि तीनों गुणों की ही सृष्टि रह जाती है। सुज्ञेषु किं बहुना ?

साम्ब पुराण की सूर्य सृष्टि

सर्गकाले जगत्कृत्स्नं—मादित्यात्संप्रसूयते ।
प्रलये च तमभ्येति, आदित्यं दीप्ततेजसम् ॥
(साम्ब पु० अ० २ । १३)

अर्थ—सृष्टि काल में यह समस्त जगत् सूर्य से उत्पन्न होता है और प्रलय काल में प्रदीप्त तेजयुक्त उसी सूर्य में लय हो जाता है ।

अनाद्यो लोकनाथः स, विश्वमाली जगत्पतिः ।
भिन्नत्वेऽवस्थितो देव—स्तपस्तेपे नराधिप ! ॥
ततः स च सहस्रांशु—रव्यक्तः पुरुषः स्वयम् ।
कृत्वा द्वादशधात्मान—मदित्यामुदपद्यत ॥
(साम्ब पु० अ० ४ । ३–)

अर्थ—हे नराधिप ! आदि अन्त रहित, लोकनाथ, जगत्पति सूर्य देवने भिन्न-भिन्न रूप में रहकर तपस्या की और तत्पश्चात् अव्यक्त पुरुष रूप हजार रश्मिवाले उस सूर्य ने अपने बारह हिस्से करके अदिति (कश्यप की पत्नि) में जन्म ग्रहण किया ।

सूर्य की बारह मूर्तियाँ

तस्य या प्रथमा मूर्ति—रादित्यस्येन्द्रसंज्ञिता ।
स्थिता सा देवराजत्वे, देवानामनुशासनी ॥
(साम्ब पु० अ० ४ । ८)

अर्थ—(१) उस सूर्य की प्रथम मूर्ति का नाम इन्द्र है। वह देवराज रूपसे देवताओं का अनुशासन कर रही है।

(२) सूर्य की दूसरी मूर्ति का नाम प्रजापति है। वह मूर्ति नाना प्रकार की प्रजा उत्पन्न करने में तत्पर हो रही है।

(३) सूर्य की तीसरी मूर्ति पर्जन्य नामसे प्रसिद्ध है। वह मेघ मंडल में निवास करती हुई पानी बरसाती रहती है।

(४) सूर्य की चौथी मूर्ति का नाम पूषा है। वह अन्न में स्थित रहकर प्रजा को पुष्ट करती है।

(५) सूर्य की पाँचवीं मूर्ति त्वष्टा नाम से प्रसिद्ध है। वह वनस्पति और औषधियों में रह कर रोगादिकों का निवारण करती है।

(६) छठी मूर्ति का नाम अर्यमा है। वह वायु का संचार करने के लिये शरीर में रहकर जीवन निर्वाह करती है।

(७) सातवीं मूर्ति का नाम भग है। वह भूमि और शरीर में रहती है।

(८) आठवीं मूर्ति विवस्वान् नाम की है। वह अग्नि में रहकर अन्न पाचन करती है।

(९) नववीं मूर्ति विष्णु नाम से प्रसिद्ध है। वह देवताओं का पालन और राक्षसों का संहार करने के लिए अनेक अवतार धारण करती है।

(१०) अंशुमान् नाम की दसवीं मूर्ति वायु में प्रतिष्ठित होकर प्रजा को आह्लादित करती है।

(११) वरुण नाम की ग्यारहवीं मूर्ति जल में प्रतिष्ठित होकर सब को जीवन दान करती है।

(१२) मित्र नाम की बारहवीं मूर्ति जन कल्याण के लिए चन्द्र भागा नदी के किनारे तप कर रही है।

(साम्बपु० अ० ४ । ६ से २०तक)

विष्णु की अपेक्षा सूर्य के अधिक प्रभाव पर साम्ब की कथा—

एकबार नारद मुनि द्वारका नगरी में आये। सब ने उनका स्वागत किया किन्तु कृष्ण महाराज के पुत्र साम्बकुमार ने सत्कार नहीं किया। इतना ही नहीं किन्तु उनका अनादर किया। दो चार बार ऐसा वाक़या बना जिससे नारदमुनि गुस्से हो गये। कृष्णजी को भरमा दिया कि साम्बकुमार सुन्दरता है किन्तु इस पर तुम्हारी सोलह हज़ार रानियाँ मोहित हो रही हैं। यह सुनकर कृष्णजी को मन में शंका हो गई किन्तु ऊपर से कह दिया कि ऐसा नहीं हो सकता। नारद ने कहा अच्छी बात है समय पर बताऊंगा इतना कह कर चले गये।

कुछ काल बाद नारदजी पुनः द्वारका में आये। उस समय कृष्णजी अपनी स्त्रियों के साथ जलक्रीड़ा करने के लिए रैवतक नामक बगीचे में गये हुए थे। स्त्रियां मदिरा के नशे में चकचूर बनी हुई थीं। वस्त्र आगे पीछे हो गये थे, निर्लज्ज बनी बैठी थीं। नारदजी वहाँ आपहुँचे। यह परिस्थिति देखकर अपनी बात को सिद्ध करने के लिए सुन्दर अवसर जानकर साम्बकुमार को जगाकर वहाँ ले आये। उसको देखकर नशे में भान भूली हुई

वे कामवासना से विह्वल हो गई। दूसरी तरफ़ नारद जी ने कृष्ण को लाकर यह दृश्य दिखाया। इससे कृष्ण को मन में स्त्रियों और साम्ब के दुराचार के विषय में निश्चय हो गया और क्रोधित होकर दोनों को शाप दिया। स्त्रियों को शाप दिया कि तुम पतिव्रता धर्म से भ्रष्ट होकर डाकुओं के अधीन रहोगी और साम्ब को शाप दिया कि तू कोढ़ी बन जायगा। साम्ब शीघ्र कोढ़ी बन गया।

ततः शापाभिभूतेन, साम्बेनाराध्य भास्करम्।
पुनः संप्राप्य तद्रूपं, स्वनाम्नाऽर्को निवेशितः॥
(साम्ब पु० अ० ३। ११)

अर्थ—शाप से तिरस्कृत साम्बकुमार ने सूर्य की उपासना की जिससे कोढ़ मिट गई और पूर्व जैसा रूप प्राप्त हो गया। सूर्य के प्रभाव से प्रभावित होकर साम्ब ने अपने नाम से सूर्य की स्थापना की।

(साम्ब पु० अ० ३)

कथा का सारांश

ब्रह्मा, विष्णु, महेश्वर इन सब की अपेक्षा सूर्य बड़ा देव है। विष्णु आदि सब सूर्य की मूर्ति रूप हैं। विष्णु और उसके जनाने की जल-क्रीड़ा, मदिरापान, घर का घर में व्यभिचार, स्त्रियों तथा पुत्र को शाप देना ये सब बातें ईश्वरत्व को हानि पहुँचानेवाली हैं। नारद मुनि ने कृष्ण को भरमा दिया और कृष्ण ने असत्य बात को सत्य मान लिया यह कृष्ण की अल्पज्ञता सिद्ध करती हैं जो सर्वज्ञ होता है वह इस प्रकार नहीं ठगा जा सकता।

अन्यदेव अप्रत्यक्ष हैं किन्तु सूर्य प्रत्यक्ष देव है। कहा है कि—

शब्दमात्र श्रुतिमुखा, ब्रह्मविष्णु शिवादयः !
प्रत्यक्षोयं परो देवः, सूर्य स्तिमिर नाशनः ॥
(सां० पु० अ० २ । १६)

अर्थ—ब्रह्मा, विष्णु, महादेव आदि देव शब्दमात्र या श्रुतिप्रतिपाद्य हैं किन्तु अन्धकार का नाश करनेवाला सूर्य प्रत्यक्ष परम देव है। इति।

कूर्म पुराण की सृष्टि में ब्रह्मोत्पत्ति

अतीत प्रलय में अन्धकार पूर्ण जल ही जल था। उसमें नारायण प्रभु शेपनाग की शय्या पर सोये हुए थे। उनकी नाभि से सौ योजन विस्तृत एक महान् कमल प्रकट हुआ। बहुत काल व्यतीत होने पर घूमते-घूमते ब्रह्माजी वहाँ आपहुँचे। और सोये हुए विष्णु को हाथ से जगाकर पूछने लगे कि इस एकार्णव में अकेले निर्भय होकर सोनेवाले तुम कौन हो ? विष्णु ने उत्तर दिया कि समस्त देवों को उत्पन्न करनेवाला सचराचर जगत् का स्वामी मैं विष्णु हूँ। यह सारा जगत् मुझमें विद्यमान है। मेरे मुख में प्रवेश करके यह देखा जा सकता है। भला यह तो बताओ कि तुम कौन हो और निर्भय होकर कहाँ भ्रमण कर रहे हो ? ब्रह्मा जी ने कहा कि मैं ब्रह्मा हूँ। सारा विश्व मुझ में वर्तमान है। उसको तुम मेरे शरीर में प्रवेश करके देख सकते हो। यह सुनकर विष्णु ने योग के द्वारा ब्रह्मा के शरीर में प्रवेश किया, वहाँ चराचर विश्व को देखकर आश्चर्यान्वित होकर मुख के रास्ते पीछा बाहर निकल आया। ब्रह्मा को विष्णु जी ने

कहा कि तुम भी मेरे अन्दर प्रवेश कर के जगत् को देख लो। ब्रह्मा ने कहा अच्छा। बाद में विष्णु के मुखके जरिये शरीर में प्रवेश करके ब्रह्मा जी बहुत समय तक निरीक्षण करते रहे किन्तु कहीं भी अन्त न मिला।

दूसरी तरफ विष्णु ने बाहर निकलने के द्वार बंद कर दिये। ब्रह्मा जी ने बाहर निकलने की बहुत कोशिश की मगर सब व्यर्थ हुई। निकलने का रास्ता न मिला। इतने में नाभि की तरफ नज़र गई वहाँ कमल नाल में होकर बाहर निकलने का एक मार्ग मिल गया। उस रास्ते बाहर निकले तो एक बड़े कमल के अन्दर अपने को पाया। बाहर आकर विष्णु से कहा कि अहो विष्णो! तुझे यह अभिमान है कि मेरे समान कोई नहीं है और मुझे कोई पराजित नहीं कर सकता। यह अभिमान तुम छोड़ दो। 'बहुरत्ना वसुन्धरा' यह पृथिवी अनेक रत्नों से भरपूर है। सेर के ऊपर सवासेर होता ही है। विष्णु ने कहा माफ करिये, मैंने तुमको दुःखी करने के आशय से द्वार बन्द नहीं किया था किन्तु केवल क्रीड़ा के लिए द्वार बन्द किये थे। तुम मेरे नाभि कमल से बाहर निकले हो अतः मेरे पुत्र हुवे। इसीलिए ब्रह्मा जी का नाम पद्म-योनि भी है।

(कूर्म पु० पूर्वार्द्ध अ० ८। ६ से २६ तक)

सारांश यह हुआ कि दोनों सृष्टि कर्त्ताओं का सर्वज्ञत्व इससे उड़ जाता है। अगर ज्ञान से पहले ही जान सकते तो अन्दर घुसने की क्या आवश्यकता थी। 'मैं बड़ा और तुम छोटे" ऐसी रसाकशी की भी क्या जरूरत ?

वराह पुराण की ओंकार सृष्टि

सृष्टि के आरंभ में नारायणके सिवाय अन्य कोई नहीं था। नारायण को अनेक होने की इच्छा होने पर ओंकार शब्द उत्पन्न हुआ। उसके पांच भाग थे। अ, उ, मकार, नाद और बिन्दु। इन पांचों भागों से क्रमशः भूलोक, भुवर्लोक स्वर्लोक, जनलोक और तपलोक उत्पन्न हुए। इन लोकों को वसति के बिना शून्य रूप देखकर सोलह स्वर और ३५ व्यंजन उत्पन्न किए। सृष्टि की वृद्धि कैसे हो? इसका विचार करते हुए नारायण की जीमनी आँख से तेज निकला, उसका सूर्य बन गया। बाँई आँख से तेज निकला वह चन्द्रमा बन गया। नारायण के प्राण से वायु उत्पन्न हुआ। वायु से अग्नि उत्पन्न हुई। इसके बाद नारायण के मुख से ब्राह्मण, भुजासे क्षत्रिय, उरु प्रदेश से वैश्य, और पैरसे शूद्र उत्पन्न हुए। इन चारों वर्णों से भूलोक को आबाद कर दिया। यक्ष और राक्षस उत्पन्न करके भुवर्लोक बसाया। देवताओं को उत्पन्न करके स्वर्लोक को अलंकृत किया। सनकादिक ऋषियों से महर्लोक, वैराज सृष्टि से जन लोक, तपस्वियों से तपलोक और तेजोमय सृष्टि से सत्य लोकको समृद्ध किया। अन्त में कल्प की अखीरी में इन लोकों का संहार करके नारायण निद्रावश होकर सो गये। रात्रि व्यतीत होनेपर पुनः जागृत होकर वेद तथा वेदमाता-गायत्री को याद करते हैं किन्तु निद्रावश मोह के कारण स्मृति नहीं होती है। तब मत्स्य रूप धारण करके अतल जल में प्रवेश किया और वहां से वेद शास्त्र लाये, उनको देखकर उनके अनुसार सृष्टि बनाई।

(व० पु० अ० ६। १ से २६ तक)

कालिका पुराण की ब्रह्मसृष्टि

प्रलय समाप्त होते ही ज्ञान स्वरूप परम ब्रह्म को सृष्टि रचने की इच्छा हुई। प्रकृति में क्षोभ करने से प्रधान तत्व और उसमें से महत्तत्व उत्पन्न हुआ। प्रधान तत्व ने महत्तत्व को चारों ओर से घेर लिया उससे त्रिविध अहंकार और उनसे पांच तन्मात्राएं प्रकट हुईं। शब्दादि तन्मात्राओं से क्रमशः आकाश, वायु, अग्नि, जल और पृथ्वी उत्पन्न हुई।

अण्ड सृष्टि

वायुकम्पित निराधार जलराशि को धारण करनेवाली विष्णु शक्ति में परमात्माने अपना अमोघ वीर्य डाला जिससे एक अण्ड उत्पन्न हुआ। ब्रह्मा का रूप धारण करके विष्णु ने एक वर्ष पर्यन्त अण्ड में रहकर उसके दो टुकड़े किये। बाद में पृथिवी और पृथिवी पर सुमेरू पर्वत तथा अन्य पहाड़ बनाये। बाद में स्वर्ग तथा पाताल लोक, तेज से महर्लोक, पवन से जनलोक, और ध्यान मात्र से तपोलोक बनाया।

वराह अवतार और शेष नाग

वाराह कल्प में विष्णु को वराह का रूप धारण करके जल में डूबी हुई पृथिवी को ऊपर उठा लाना पड़ता है। इसलिए विष्णु वराह रूप बनकर पृथिवी को ऊपर लाये। उसको अस्थिर-हिलती हुई देखकर विष्णु ने शेष नाग का अवतार धारण करके फण पर टिकाकर स्थिर कर दिया। और सात द्वीप तथा समुद्रों का विभाग करके पृथिवी का अन्त ले लिया।

ब्रह्मा और रुद्र

ब्रह्माने अपने शरीर के दो भाग किये आधा भाग स्त्री का और आधा भाग पुरुष का। उसका नाम रुद्र रखा गया क्यों कि वह रुदन करता हुआ उत्पन्न हुआ था। रुद्र के कहने से ब्रह्मा भी अर्धनारीश्वररूप बनगये।

मैथुनी सृष्टि

उक्त स्त्री भाग से विराट् उत्पन्न हुआ। उसने तप कर के स्वायंभुव मनु को उत्पन्न किया। उसने भी ब्रह्मा को संतुष्ट करने के लिए तप करके दक्ष को उत्पन्न किया। इसके बाद मरीचि, अत्रि, अंगिरस, पुलस्त्य, पुलह, क्रतु, प्रचेतस्, वशिष्ठ, भृगु और नारद ऐसे दस पुत्र उत्पन्न किए।

(का० पु० अ० २६। १ से ५५ तक)

प्रतिसर्ग

मनु, दक्ष मरीचि आदि ने अपने में से जो अलग-अलग सृष्टि बनाई उसका नाम प्रतिसर्ग है। स्वायंभुव मनुने छः पुत्र उत्पन्न किये इनके उपरान्त यक्ष, राक्षस, पिशाच, नाग, गन्धर्व किन्नर, विद्याधर, अप्सरा, सिद्ध, भूत, मेघ, बिजली, वृक्षादिक मत्स्य, पशु, कीट, जलचर और स्थलचर जीव पैदा किए। यह सब स्वायंभुव मनु का प्रतिसर्ग है।

देवर्षि, महर्षि, और पितृगण, यह दक्ष का प्रति सर्ग है।

ब्रह्माने मुखसे ब्राह्मण, बाहु से क्षत्रिय, उरु से वैश्य और पैर से शूद्र उत्पन्न किये। यह ब्रह्मा का प्रति सर्ग है।

देव, दानव और दैत्य, कश्यप ने पैदा किये अतः कश्यप का प्रतिसर्ग है।

यंत्र तंत्रादि अंगिरस का प्रतिसर्ग है।

विष्णु के नेत्र से सूर्य, मन से चंद्रमा, श्रोत्र से वायु, मुख से अग्नि उत्पन्न हुईं। यह विष्णु का प्रतिसर्ग है।

चार प्रकार के भूतग्राम रुद्र से उत्पन्न हुए। यह रुद्र का प्रतिसर्ग है।

(का० पु० अ० २७)

आकालिक सृष्टि

प्रलय काल समाप्त होते ही कूर्म रूप धारी विष्णु ने पर्वत सहित पृथिवी को अपनी पीठ पर धारण करके जल के बाहर ला रखी। ब्रह्मा विष्णु ने दक्ष आदि को कहा कि तुम तप कर के सृष्टि बनाओ। मनुजी से कहा कि जो बीज लाये हो वे जमीन में बो दो। वैसाही किया पृथिवी वनस्पति से शस्य श्यामला होगई।

(का० पु० अ० ३९)

कालिका पुराण के अनुसार प्रलय

(प्राकृत प्रलय)

प्रकृति के सिवाय अन्य कुछ भी न रहना, अखिल जगत् का प्रकृति में लय हो जाना प्राकृत प्रलय है। इसकी

शुरूआत सूर्य की गर्मी बढ़ने से होती है। पहले सूर्य की किरणें जल को शोष लेती हैं, वृक्ष और तृण सब सूख जाते हैं। दिव्य सौ वर्ष तक पानी का अभाव होने से प्राणियों का नाश हो जाता है। पर्वत चूर्ण होकर बिखर जाते है। एक सूर्य के बजाय बारह सूर्य चौदह भुवनों को जला डालते हैं। पृथिवी और आकाश तवे की तरह तपने लगते हैं। उन सूर्यों की किरणों से रुद्र निकलकर पाताल लोक तक पहुँचता है। वहाँ नाग, गन्धर्व, देवता, राक्षस, अवशिष्ट सम्पूर्ण ऋषिगण का नाश करता है। रुद्र रूपधारी जनार्दन अपने मुख से महा वायु फूंकते हुए तीनों लोकों में सौ वर्ष तक भ्रमण करते रहे और रूई के समान सर्व वस्तु को उड़ा देते हैं। बाद में वह महावायु सूर्य-मण्डल में प्रवेश करके महा मेघ उत्पन्न करता है। रथचक्र के समान धारा से वर्षा वर्षाते हुए ध्रुव लोक तक तीनों लोकों को पानी में डुबा देता है। इसके बाद रुद्र वायु रूप से मेघों को बिखेर डालता है। इसके बाद जन लोक से लेकर ब्रह्म लोक तक जो कुछ रहा हुआ था उसका संहार करता है। इसके बाद रुद्र छलांग मारकर बारह आदित्यों को निगल जाता है। और एक मुक्का मारकर ब्रह्माण्ड को चूर—चूर कर डालता है। पृथिवी का भी ब्रह्माण्ड के साथ चूर-चूर हो जाता है। रुद्र अपनी योग शक्ति द्वारा निराधार जल को धारण कर लेता है। ब्रह्माण्ड के बाहर और भीतर का जल एकाकार हो जाता है। बाद में पूर्वग्रस्त तेज-आदित्यों को उगलकर उनके द्वारा जल को शोष कर के नष्ट कर डालता है। इस प्रकार तेज, वायु और आकाश इन सब का सार खींच कर सब की सत्ता नष्ट कर देता है। तत्पश्चात् रुद्र ब्रह्मा के शरीर में और

ब्रह्मा विष्णु के शरीर में प्रवेश करते हैं। विष्णु अपने पंच भौतिक शरीर को समेटकर ब्रह्म में लीन होजाता है। स्वप्रकाश एक मात्र ब्रह्म अवशिष्ट रहता है। उस समय दिन, रात, आकाश, पृथिवी कुछ भी नहीं रहता है। इति प्राकृत प्रलय।

(का० पु० अ० २४ । ३८ से ६० तक)

आकालिक प्रलय

एकदा कपिल मुनि मनु के पास गये और स्वाभीष्ट स्थान की याचना की। मनुजी ने उनका बहुत अपमान किया। अपमान से कुपित होकर कपिल मुनि ने मनुजी को शाप दिया कि तुम जिसपर प्रभुत्व भोग रहे हो उसको उत्पन्न करनेवाला ही उसका जल प्रलय से नाश करेगा। इतना कह कर कपिल जी अन्यत्र चले गये। मनुजी ने बदरिकाश्रम में जाकर अत्यन्त कठिन तप किया तप से प्रसन्न होकर विष्णु मछली का रूप धारण कर के मनु के पास गये। और अपनी रक्षा के लिए प्रार्थना की मनुजी ने उस को एक बड़े घड़े में बंद कर के रखदी। वह मछली थोड़े दिनों में इतनी बड़ी होगई कि समुद्र के सिवाय उस के लिए दूसरा स्थान रहने लायक नहीं रह गया। यह देख कर मनुजी को बहुत आश्चर्य हुआ। विचार कर के निश्चय किया कि यह स्वयं ही ईश्वर है। परमेश्वर के सिवाय अन्य में ऐसी ताक़त नहीं हो सकती। मनुजी ने उसकी स्तुति की और कपिल के शाप की हक़ीक़त कह सुनाई। मत्स्य ने कहा कि प्रलय तो अवश्य होगा मगर मैं तुम को बचाने का बंदोबस्त करूंगा। मैं जैसा कहूंगा वैसा तुम को करना होगा। देखो सुनो-जब जल प्रलय होगा तब मत्स्यरूप से मैं तुम्हारी

रक्षा करूंगा। हे मनी ! यज्ञ योग्य लकड़े की एक मजबूत नाव बना लेना। जब जलप्रलय हो तब सात ऋषियों और वनस्पति के बीजों के साथ उस पर चढ़ जाना। उस समय मेरा एक सींग तुम को दिखाई देगा उस के साथ नैया को बांध देना। मैं बढ़े हुए जल को सुखाता हुआ इधर उधर भ्रमण करूंगा। जब जमीन सूख जावे तब नाव से उतर कर के नयेसर से सृष्टि रचना कर के ख्याति प्राप्त करना"। इतना कह कर मनु और मत्स्य अपने-अपने स्थान चले गये। थाड़ी देर बाद बराह रूप धारी विष्णु और शरभ रूप धारी रुद्र के बीच घोर संग्राम आरंभ हुआ। पादाघात के कठिन प्रहार से समुद्र का पानी उछल कर लोक में फैल गया। बहुत से पर्वत चूर-चूर हो गये उसी वक्त मूसलधार वृष्टि हुई। इस प्रकार अकाल प्रलय की भयंकर परिस्थिति देखकर मनुजी सात ऋषि और वनस्पति के बीजों के साथ नाव पर चढ़ गये और नाव को सींग के साथ मजबूत बांध दी। एक हजार वर्ष तक नाव पानी पर चक्कर काटती रही। जब जल प्रकृतिस्थ हुआ तब नाव को हिमाचल के पचास हजार योजन ऊँचे शिखर के साथ तब तक बांध रखा जब तक पानी पूर्णतया सूख न गया।

(का० पु० अ० ३३।३४)

दैनंदिन प्रलय

ब्रह्मा का दिन पूर्ण होने पर ब्रह्मा को सोने की इच्छा हुई। तब वह विष्णु के नाभि कमल में प्रवेश कर आराम से सो गया। दूसरी तरफ रुद्र ने पूर्ववत् सृष्टि का संहार किया। शेष नाग पृथिवी को छोड़कर विष्णु के पास चल दिया। पृथिवी क्षणमात्र

में नीचे चली गई। ब्रह्माण्ड के खण्डों के साथ पृथिवी टक्कर खाकर नष्ट न हो जाय इसलिए विष्णु ने कच्छप का रूप धारण कर के ब्रह्माण्ड के खंडों को पैर के नीचे दबा कर पृथिवी को पीठ पर रोक लिया। तत्पश्चात् निश्चिन्त होकर रात्रि की समाप्ति पर्यन्त विष्णु सो गये।

(का० पु० अ० २८)

आत्मपुराण के अनुसार आत्मसृष्टि (वेदान्त)

अतः समायोप्यात्मायं, निर्माय इव संलये।
स तमस्तो यथा भानु-र्दिवसे निस्तमा इव॥
एवं स्थितस्तदा देवः, पूर्व संस्कार संस्कृतः।
वासनानां समुद्बोधात्पर्यालोचयदीश्वरः॥

(आ० पु० अ० १।७०-७१)

अर्थ—प्रलय काल में यह आत्मा (ईश्वर) मायासहित होता हुआ भी माया रहित माना जाता है। जिस प्रकार रात्रि में अन्धकार युक्त भानु दिन में अन्धकार रहित हो जाता है इसी प्रकार माया वियुक्त भी देव-ईश्वर पूर्व संस्कार से संस्कृत होने से वासनाओं की जागृति होने पर पर्यालोचना करता है।

आलोचन—प्रकार

आकाश आदि समस्त जगत् अस्पष्ट रूपसे मुझमें रहा हुआ है उस को स्पष्ट कर के मैं सर्जन करूं, अर्थात् नामरूप रहित जो अव्याकृत जगत् कारणोपाधि में वर्तमान है उसको नाम रूप युक्त बनाऊं।

भूरादिलोक सहितः मण्डमण्डमुदपादयत् ।
आत्मनोऽव्यतिरिक्तं तन्ना मरूपक्रियात्मकम् ॥
(आ० पु० अ० १।७३)

अर्थ—उस ईश्वर ने भूर् आदि लोक युक्त अण्ड-ब्रह्माड को जो कि हिरण्यगर्भ; का शरीर रूप होकर सूक्ष्म पंचभूतों में कार्यरूप से स्थित है, उत्पन्न किया। यद्यपि उसकी सत्ता आत्मा से भिन्न नहीं है तो भी नाम रूप और क्रिया रूप से जो अव्यक्त था उसको व्यक्त किया। इसके वाद ईश्वर ने विचार किया कि यह विराट शरीर चेतन रहित है अतः लम्बे अर्से तक टिक नहीं सकेगा। जिस प्रकार कि विना स्वामीवाला घर शीघ्र ही अस्तव्यस्त हो जाता है। इसलिए इसे चेतन युक्त वनाना चाहिए। ऐसा विचार करके विराट् शरीर में अपञ्चीकृत भूतों के राजस अंश से कर्मेन्द्रियाँ और सात्त्विक अंश से ज्ञानेन्द्रियाँ उत्पन्न की। उनमें मुख के छिद्र में शब्द व्यवहार सम्पादक वाणी उत्पन्न हुई और उसका अधिष्ठाता रूप वैदिक कर्म सम्पादक अग्निदेव प्रकट हुआ। नासिका के छिद्र से घ्राण इन्द्रिय और उससे अधिष्ठाता वायुदेव प्रकट हुआ। नेत्र के छिद्र से चक्षुइन्द्रिय और उससे अधिष्ठाता सूर्य उत्पन्न हुआ। कान के छिद्र से श्रोत्रेन्द्रिय और उस से दिशाएँ प्रगट हुईं। देह के सूक्ष्म छिद्रों से त्वगिन्द्रिय और उससे रोम और केश प्रगट हुए। स्पर्शनेन्द्रिय सहकृत लोम और केश से औषधि आदि स्थावर उत्पन्न हुए और उसका अधिष्ठाता स्थावरोपाधिक वायुदेव प्रकट हुआ। अन्तर आकाश से पंच-छिद्रवाला मांस कमलरूप हृदय उत्पन्न हुआ, उससे मन और

मन से चन्द्र देव प्रकट हुआ। नाभि छिद्र से प्राण अपानादि वायु प्रकट हुए। उपस्थ छिद्र से उपस्थेन्द्रिय उत्पन्न हुई जो कि अंडज और जरायुज शरीर की कारणभूत मानी गई है। वीर्य से प्रजापति देव प्रकट हुआ। इस प्रकार छिद्रों की रचना करके विराट् शरीर के हाथ और पैर बनाये गये और उनमें हाथ का अधिष्ठाता इन्द्र और पैर का अधिष्ठाता उपेन्द्र-विष्णु प्रकट हुए।

(आ० पु० अ० १।६३)

विराट् शरीर में देवों की अतृप्ति

अपरिमित विराट शरीर में देवताओं को आश्रय तो मिल गया किन्तु वह शरीर सप्त धातुमय और "विण्मूत्रमल-संश्रयः" (आ० पु० अ० १।६७) मल मूत्र का आश्रय होने से तथा उसमें खुराक न मिलने से भूख और प्यास की पीड़ा से व्याकुल होकर देवों ने ईश्वर से अर्ज की कि—

"नैतस्माद्व्यतिरिक्तं भो, अन्नं पानं च दृश्यते।
ततोन्यं भगवन् देहं, सृजास्मभ्यं हिताय वै॥
यत्र स्थिता वयं स्याम ह्यन्न पानस्य भागिनः॥

(आ० पु० अ० १।१००)

अर्थ—हे भगवन्! इस शरीर से भिन्न अन्न पान तो कहीं दिखाई नहीं देता है इसलिए हम भूख प्यास से पीड़ित हो रहे हैं। हमारे हित के लिये कोई भिन्न शरीर बनाइये कि जिसमें रहकर हम अन्न पान के भोक्ता हो सकें। इस

प्रार्थना पर ईश्वर ने देवों की तृप्ति के लिये गाय का शरीर बनाया किन्तु उसमें अन्नादि न दिखने से तृप्ति नहीं हुई। अश्व बनाया किन्तु उसमें हाथ आदि न होने से संतोष न हुआ। इस प्रकार अनेक प्रकार के शरीर बनाये गये किन्तु देवों को प्रमोद न हुआ। तब मनुष्य का शरीर बनाया गया, उसे देखकर देवता खुश हो गये। ईश्वर ने आज्ञा दी कि अब भेद भाव छोड़कर अपने-अपने स्थान में निवास कर लो। देवताओं ने आज्ञानुसार आचरण किया।

(आ० पु० अ० १।१०१ से ११४)

अन्न सृष्टि

ईश्वर ने अपने पुत्रों की तृप्ति के लिये जल प्रधान पंच महाभूतों से अन्न उत्पन्न किया। वह भी प्रत्येक योनि के खाद्य भेद से अनेक प्रकार का बनाया गया। जैसे कि मनुष्यों के लिए व्रीहि यवादिक स्थावर अन्न और सिंहादिकों के लिये जंगम अन्न मृगादिक बनाये। देवता अपान वायु के बिना अन्न भक्षण न कर सके तब प्राण वायु रूप से ईश्वर ने उसमें प्रवेश किया और अन्न खिला दिया।

(आ० पु० अ० १।११७ से १२०)

आत्मप्रवेश

वाक् से लेकर प्राण तक के सभी देवताओं को स्थान तो मिल गया फिर भी चैतन्य के विना वे कुछ भी करने में समर्थ नहीं हैं, ऐसा विचार करके ईश्वर ने मस्तक के मध्य भाग में होकर अपने पुत्रों के शरीरों में प्रवेश कर लिया।

निरंजन ईश्वर को भी बाह्यार्थ का भोग

यदा बाह्यार्थं भोगार्थं, कर्मादत्ते निरंजनः ।
अनादिमायया तस्मिन्–काले द्वेधा प्रजायते ॥

(आ० पु० अ० १।१७८)

अर्थ—ईश्वर निरञ्जन होता हुआ भी बाह्य पदार्थों के भोग के लिये कर्म ग्रहण करता है। अनादि काल से लगी हुई माया के योग से ही वह ऐसा करता है। उस माया के कारण ही वह उस समय स्त्री और पुरुप रूप अपने दो भाग करता है (जो स्वायंभुव मनु और शतरूपा के नाम से प्रसिद्ध हैं।)

शुभाशुभ कर्म कराने वाला ईश्वर

कारयत्येप एवैतान् जन्तून्नाना शरीरगान् ।
भृत्यानिष्टानिव सदा, कर्मणी साध्वसाधुनी ॥

(आ० पु० अ० ४ । २३३)

अर्थ—नाना प्रकार के शरीर धारी जीवों को ईश्वर ही इष्ट अनिष्ट कर्म कराता है। जिस प्रकार कि सेठ नौकर से भले बुरे कार्य कराता है।

यानयं नरकं नेतुं, समिच्छति महेश्वरः ।
एतान् कारयति स्वामी, पापं कर्मैव केवलम् ॥
स्वर्गंनेतुं हि यानिच्छेत् , कारयेत् पुण्यमेव तान् ।
मनुष्य जातिं नेष्यन् स, कारत्येत्पुण्य पातके ॥

(आ० पु० अ० ४ । २३४-२३५)

अर्थ—ईश्वर जिनको नरक में ले जाना चाहता है उनसे केवल पाप कर्म करवाता है, जिनको स्वर्ग में ले जाना चाहता है उनसे केवल पुण्य कर्म कराता है और जिनको मनुष्य योनि में ले जाना चाहता है उनसे पुण्य तथा पाप-उभयरूप कर्म करवाता है।

राजेवायं फलं दद्यात्, कर्मणोः साध्वासाधुनोः।
इच्छानुसारतस्तेषां, कारयत्येष कर्मणी॥
विषमस्तेन नैवायं, सर्वभूताधिपो महान्॥

(आ० पु० अ० ४ । २३६)

अर्थ—ईश्वर जीवों की इच्छानुसार शुभाशुभ कर्म कराता है और राजा के समान भले बुरे कर्मों का फल देता है। इसलिए सर्वभूतों का अधिपति यह ईश्वर अन्यायी नहीं है।

जननी जनको वापि, सुखदुःखे यथैव हि।
ददाति तद्वद्भगवान्, भूतानां निर्घृणो न हि॥

(आ० पु० अ० ४ । २३७)

अर्थ—जिस प्रकार माता-पिता पुत्र को सुख देते हैं तो अच्छे के लिए और दुःख—ताडनादि देते हैं तो भी अच्छे के लिए ही उसी प्रकार ईश्वर भूतों-प्राणियों को स्वर्ग या नरक में पहुँचाता है वह श्रेय के लिए ही होता है अतः ईश्वर निर्दय नहीं है।

सर्वमेतज्जगच्छक्र ! नामरूपक्रियात्मकम्।

जगत और ब्रह्म की अभिन्नता

विश्वमित्यादि नामास्य, रूपं स्याद्भूतभौतिकम्।
सृष्टिस्थितिलयास्तस्य, क्रियाः प्रोक्ता मनीषिभिः ॥

(आ० पु० अ० ४ । ११३)

अर्थ—हे शक्र ! यह सारा जगत् नाम, रूप और क्रियात्मक है। विश्व, लोक, दुनिया, संसार इत्यादि जगत् के नाम, नाम जगत् हैं। पंचभूत तथा उनके विकारों का समूह रूप जगत् है और सर्ग, पालन और विनाश ये जगत् की क्रियाएं हैं। इस प्रकार नाम, रूप और क्रिया के सिवाय जगत् कोई भिन्न वस्तु नहीं है। जैसे घट आदि नाम, वर्तुल पृथुबुध्नोदरादिक रूप और जलाहरणादिक क्रिया ये तीनों मिलकर के घट हैं इसी प्रकार पट आदि सब वस्तुओं में समझ लेना चाहिए। वस्तुतः नाम, रूप और क्रिया ये तीनों अलग-अलग वस्तु नहीं हैं किन्तु एक रूप हैं, यही बात बताते हैं—

अवस्थाया विशेषः स्या-द्वस्तुनोऽत्र क्रिया यतः।
तस्मान्न रूपतो भिन्ना, क्रिया नामान्न विद्यते ॥
नाम मात्रेण रूपं स्या-द्विचारे नास्ति तद्यतः ॥
तस्मान्नामात्मकं कार्यं, नाम्नो नान्यद्धि वस्तु सत्।
एकमेतत्त्रयं सर्वं, नामरूप क्रियात्मकम् ॥

(आ० पु० अ० ४ । ११६-११७)

अर्थ—यह वस्तु नवीन है और यह प्राचीन है इत्यादि व्यवहार के समान क्रिया भी वस्तु की अवस्था विशेष का ही नाम है इसलिए वस्तु के स्वरूप से क्रिया भिन्न नहीं है। घटादि

पदार्थों का रूप उनके नाममात्र से जाना जा सकता है अर्थात् नाम से अतिरिक्त वस्तु का कुछ भी रूप नहीं है अतः पूर्वोक्त नाम, रूप और क्रिया परस्पर भिन्न नहीं हैं किन्तु एक रूप हैं।

नामादि नैव भिन्नं स्यात्, कारणात्स्वात्मनस्तथा।
कार्यत्वेन यथा सर्पो, रज्जोर्भिन्नो न विद्यते॥
(आ० पु० अ० ४ । ११८)

अर्थ—जिस प्रकार नामादि कार्य परस्पर भिन्न-भिन्न नहीं हैं उसी प्रकार अपने कारण रूप आत्मा से भी भिन्न नहीं हैं। जो कार्य जिस उपादान से उत्पन्न होता है वह उस उपादान से भिन्न नहीं होता है। जैसे कि रज्जु से सर्प भिन्न नहीं दीखता।

इदं सर्वं जगच्छक्र ! ब्रह्मपूर्णमभूत्पुरा।
मेघादिकं यथाकाशं मेवाद्युत्पत्तितः पुरा॥
(आ० पु० अ० ४ । ११६)

अर्थ—हे शक्र ! यह नाम रूपात्मक जगत् सृष्टि के पूर्व ब्रह्म रूप था जिस प्रकार कि मेघादिक उत्पन्न होने के पहले आकाश रूप ही थे। आकाश से भिन्न न दिखाई देते थे।

नामरूपात्मकं विश्वं, ब्रह्ममात्र व्यवस्थितम्।
अवगम्यात्र विद्वांसो, मायां ते कल्पयन्ति हि॥
(आ० पु० अ० ४ । १२१)

अर्थ—सृष्टि के पूर्व नामरूपात्मक जगत् कारणरूप ब्रह्म में ही अवस्थित था ऐसा जानकर विद्वान् कारणता का निर्वाह करने के लिए उसमें माया की कल्पना करते हैं। माया के विना केवल ब्रह्म में कारणता नहीं हो सकती। इसीलिए विद्वान् कारणता के निर्वाह के लिए माया की कल्पना करते हैं ऐसा

कहा गया है। क्योंकि ब्रह्म मन, वचन का विषय तो है नहीं। सर्प और रज्जु जैसे भिन्न नहीं हैं वैसे ही माया और ब्रह्म भी भिन्न नहीं है।

स्पष्टीकरण

आत्मपुराण की टीका शंकराचार्य ने की है। शंकराचार्य की दृष्टि वेदान्तमयी है वेदान्त दृष्टि से जगत् कल्पनामय है। "ब्रह्म सत्यं जगन्मिथ्या जीवो ब्रह्मैव नापरः" रज्जु में जैसे सर्प की भ्रान्ति है वैसे ही ब्रह्म में जगत् की भ्रान्ति है। जब कि माया की ही स्वतन्त्र सत्ता नहीं है तो माया से कल्पित की हुई जगत् की सत्ता कैसे हो सकती है। जहाँ सत्ता ही नहीं है वहाँ उसके कर्त्ता का प्रश्न ही नहीं किया जा सकता। यद्यपि मूल में ग्रन्थकार ने खण्ड शब्द का प्रयोग करके अन्य सृष्टि की तरह इसे भी अण्ड सृष्टि बताई है किन्तु टीकाकार शंकराचार्य ने खण्ड शब्द का अर्थ ब्रह्माण्ड किया है। ब्रह्माण्ड अर्थात् जगत और जगत् यह कल्पनामात्र। इस हिसाब से सृष्टि भी कल्पनामात्र है।

इति पौराणिक सृष्टि

क्रिश्चियन-सृष्टि

क्रिश्चियन—सृष्टि

"आदि में परमेश्वर ने आकाश और पृथिवी को सिरजा। और पृथिवी सूनी और अस्तव्यस्त पड़ी थी, और गहरे जल के ऊपर अन्धियारा था, और परमेश्वर का आत्मा जल के ऊपर-ऊपर मण्डलाता था। तब परमेश्वर ने कहा उजियाला हो, सो उजियाला हो गया। और परमेश्वर ने उजियाले को देखा कि अच्छा है, और परमेश्वर ने उजियाले और अन्धियारे को अलग अलग किया। और परमेश्वर ने उजियाले को दिन कहा और अन्धियारे को रात कहा, और सांझ हुई, फिर भोर हुआ, सो एक दिन हो गया" ॥

(बा० हिं० अ० १)

दूसरे दिन की कार्यवाही

"फिर परमेश्वर ने कहा जल के बीच ऐसा एक अन्तर हो कि जल दो भाग हो जाय। सो परमेश्वर ने एक अन्तर करके उस के नीचे के जल और उसके ऊपर के जल को अलग-अलग किया, और वैसा ही हो गया। और परमेश्वर ने उस अन्तर को आकाश कहा, और सांझ हुई, फिर भोर हुआ, सो दूसरा दिन हो गया" ॥

(बा० हिं० अ० १)

तीसरे दिन की कार्यवाही

"फिर परमेश्वर ने कहा आकाश के नीचे का जल एक स्थान मे इकट्ठा हो, और सूखी भूमि दिखाई दे, और वैसा ही हो गया। और परमेश्वर ने सूखी भूमि को पृथिवी कहा, और जो जल इकट्ठा हुआ उस को उसने समुद्र कहा, और परमेश्वर ने देखा कि अच्छा है। फिर परमेश्वर ने कहा पृथिवी से हरी घास और बीज वाले छोटे छोटे पेड़ और फलदाई वृक्ष भी जो अपनी अपनी जाति के अनुसार फलें औजिन के बीज पृथिवी पर उन्हीं में हों उगें, और वैसा ही हो गया।......और सांझ हुई, फिर भोर हुआ, सो तीसरा दिन हो गया" ॥

(बा० हिं० अ० १)

चौथे दिन की कार्य्यवाही

"फिर परमेश्वर ने कहा दिन और रात अलग-अलग करने के लिये आकाश के अन्तर में ज्योतियाँ हों, और वे चिन्हों और नियत समयों और दिनों और बरसों के कारण हों। और वे ज्योतियां आकाश के अन्तर में पृथिवी पर प्रकाश देने हारी भी ठहरें, और वैसा ही हो गया। सो परमेश्वर ने दो बड़ी ज्योतियां बनाईं, उन में से बड़ी ज्योति तो दिन पर प्रभुता करने के लिये, और छोटी ज्योति रात पर प्रभुता करने के लिये, और तारागण को भी बनाया। और परमेश्वर ने उन को आकाश के अन्तर में इसलिये रक्खा कि वे पृथिवी पर प्रकाश दें। और दिन और रात पर प्रभुता करें, और उजियाले और अन्धियारे

को अलग अलग करें, और परमेश्वर ने देखा कि अच्छा है। और सांझ हुई, फिर भोर हुआ, सो चौथा दिन हो गया" ॥

(बा० हिं अ० १)

पांचवें दिन की कार्यवाही

"फिर परमेश्वर ने कहा जल जीते प्राणियों से बहुत ही भर जाय, और पक्षी पृथिवी के ऊपर आकाश के अन्तर में उड़ें।......और परमेश्वर ने यह कह के उन को आशिष दी कि फूलो फलो, और समुद्र के जल में भर जाओ, और पक्षी पृथिवी पर बढ़ें। और सांझ हुई, फिर भोर हुआ सो पांचवां दिन हो गया" ॥

(बा० हिं० अ० १)

छट्ठे दिन की कार्यवाही

"फिर परमेश्वर ने कहा पृथिवी से एक एक जाति के जीते प्राणी उत्पन्न हों, अर्थात घरेलू पशु और रेंगने हारे जन्तु और पृथिवी के बनैले पशु जाति जाति के अनुसार और वैसा ही हो गया।......फिर परमेश्वर ने कहा हम मनुष्य को अपने स्वरूप के अनुसार अपनी समानता में बनाएं, और वे समुद्र की मछलियों और आकाश के पक्षियों और घरेले पशुओं और सारी पृथिवी पर और सब रेंगने हारे जन्तुओं पर जो पृथिवी पर रेंगते हैं अधिकार रक्खें।......फिर परमेश्वर ने उनसे कहा सुनो जितने बीज वाले छोटे छोटे पेड़ सारी पृथिवी के ऊपर हैं, और जितने वृक्षों में बीज वाले फल होते हैं, सो सब मैंने तुम को दिये हैं, वे तुम्हारे भोजन के लिये हैं। और जितने पृथिवी के पशु और आकाश के पक्षी और पृथिवी पर रेंगने

हारे जन्तु हैं, जिन में जीवन का प्राण है, उन सब के खाने के लिये मैंने सब हरे हरे छोटे पेड़ दिये हैं, और वैसा ही हो गया। और परमेश्वर ने जो कुछ बनाया था सब को देखा, तो क्या देखा कि वह बहुत ही अच्छा है, और सांझ हुई, फिर भोर हुआ, सो फिर छठवां दिन हो गया ॥

(बा० हिं० अ० १)

यों आकाश चौर पृथिवी और उन की सारी सेना का बनाना निपट गया। और परमेश्वर नें सातवें दिन अपना काम जो वह करता था, निपटा दिया, सो सातवें दिन उसने अपने किये हुए सारे काम से विश्राम किया। और परमेश्वर ने सातवें दिन को आशिप दी, और पवित्र ठहराया, क्यों कि उस में उसने सृष्टि के अपने सारे काम से विश्राम किया" ॥

(बा० हिं० अ०-२-)

मनुष्योत्पत्ति

"और यहोवा परमेश्वर ने आदम को भूमि की मिट्टी से रचा, और उसके नथनों में जीवन का श्वास फूंक दिया, और आदम जीता प्राणी हुआ। और यहोवा परमेश्वर ने पूरब और एदेन देश में एक बाड़ी लगाई, और वहां आदम को जिसे उसने रचा था रख दिया। और यहोवा परमेश्वर ने भूमि से सब भांति के वृक्ष जो देखने में मनोहर और जिनके फल खाने में अच्छे हैं उगाये, और जीवन के वृक्ष को बाड़ी के बीच में और भले बुरे के ज्ञान के वृक्ष को भी लगाया। और उस बारी के सींचने के लिये एक महानद एदेन से निकलता था और वहां से आगे बह कर चार धार हो गया।......जब यहोवा परमेश्वर ने आदम को लेकर एदेन की बारी में रख दिया कि वह उस में

काम करे, और उसकी रक्षा करे, तब यहोवा परमेश्वर ने आदम को यह आज्ञा दी कि वारी के सब वृक्षों का फल तू विना खटके खा सकता है। पर भले बुरे के ज्ञान का जो वृक्ष है उसका फल तू न खाना, क्योंकि जिस दिन तू उसका फल खायगा उसी दिन तू अवश्य मर जायगा॥......और यहोवा परमेश्वर भूमि में से सब जाति के वनैले पशुओं और आकाश के सब भांति के पक्षियों को रचकर आदम के पास ले आया......सो आदम ने सब जाति के घरैले पशुओं और आकाश के पक्षियों और सब जाति के वनैले पशुओं के नाम रक्खे पर आदम के लिये ऐसा कोई सहायक न मिला जो उस से मेल खाए। तब यहोवा परमेश्वर ने आदम को भारी नींद में डाल दिया, और जब वह सो गया तब उस ने उसकी एक पसुली निकाल कर उसकी संती मांस भर दिया। और यहोवा परमेश्वर ने उस पसुली को जो उसने आदम में से निकाली थी, स्त्री बना दिया, और उसको आदम के पास ले आये। और आदम ने कहा अब यह मेरी हड्डियों में की हड्डी, और मेरे मांस में का मांस है, सो इसका नाम नारी होगा क्योंकि यह नर में से निकाली गई"।

(बा० हिं० अ० २)

मनुष्य का पापी होना और ईश्वर का शाप

"यहोवा परमेश्वर ने जितने वनैले पशु बनाये थे सब में से सर्प धूर्त्त था, और उस ने स्त्री से कहा क्या सच है कि परमेश्वर ने कहा कि तुम इस वारी के किसी वृक्ष का फल न खाना। स्त्री ने सर्प से कहा इस वारी के वृक्षों के फल हम खा सकते हैं। पर जो वृक्ष वारी के बीच में है उसके फल के विषय में परमेश्वर ने कहा कि तुम उस को न खाना, न उस को छूना

भी, नहीं तो मर जाओगे । तब सर्प ने स्त्री से कहा तुम निश्चय न मरोगे । वरन् परमेश्वर आप जानता है कि जिस दिन तुम उस का फल खाओ उसी दिन तुम्हारी आंखें खुल जायेंगी और तुम भले बुरे का ज्ञान पाकर परमेश्वर के तुल्य हो जाओगे । सो जब स्त्री को जान पड़ा कि उस वृक्ष का फल खाने में अच्छा और देखने में मन भाऊ और बुद्धि देने के लिये चाहने योग्य भी है तब उसने उसमें से तोड़ कर खाया और अपने पति को दिया, और उसने भी खाया । तब उन दोनों की आँखें खुल गईं और उनको जान पड़ा कि हम नंगे हैं सो उन्हों ने अंजीर के पत्ते जोड़ जोड़ कर लंगोट बना लिये । पीछे यहोवा परमेश्वर जो सांझ के समय बारी में फिरता था उस का शब्द उनको सुन पड़ा और आदम और उसकी स्त्री बारी के वृक्षों के बीच यहोवा परमेश्वर से छिप गये तब यहोवा परमेश्वर ने पुकार कर आदम से पूछा तू कहां है उसने कहा मैं तेरा शब्द बारी में सुनकर डर गया, क्योंकि मैं नंगा था इसलिए छिप गया । उसने कहा किसने तुझे चिताया कि तू नंगा है, जिस वृक्ष का फल खाने को मैंने तुझे वर्जा था क्या तूने उसका फल खाया है । आदम ने कहा जिस स्त्रीको तूने मेरे संग रहने को दिया उसी ने उस वृक्ष का फल मुझे दिया सो मैंने खाया । तब यहोवा परमेश्वर ने स्त्री से कहा तूने यह क्या किया है स्त्री ने कहा सर्प ने मुझे बहका दिया सो मैंने खाया । तब यहोवा परमेश्वर ने सर्प से कहा तूने जो यह किया है इसलिए तू सब घरैले पशुओं और सब बनैले पशुओं से अधिक स्रापित है, तू पेट के बल चला करेगा और जीवन भर मिट्टी चाटता रहेगा । और मैं तेरे और इस स्त्री के बीच में और तेरे वंश और इसके वंश

के बीच में बैर उपजाऊंगा, वह तेरे सिर को कुचल डालेगा, और तू उसकी एड़ी को कुचल डालेगा। फिर स्त्री से उसने कहा मैं तेरी पीड़ा और तेरे गर्भवती होने के दुःख को बहुत बढ़ाऊँगा, तू पीड़ित होकर बालक जनेगी, और तेरी लालसा तेरे पति की ओर होगी और वह तुझ पर प्रभुता करेगा। और आदम से उसने कहा तूने जो अपनी स्त्री की सुनी और जिस वृत्त के फल के विषयमें मैंने तुझे आज्ञा दी थी कि तू उसे न खाना उसको तूने खाया है इस लिये भूमि तेरे कारण स्रापित है, तू उसकी उपज जीवन भर दुःख के साथ खाया करेगा। और वह तेरे लिये कांटे और ऊंटकटारे उगायेगी और तू खेत की उपज खाएगा। और अपने माथे के पसीना गारे की रोटी तू खाया करेगा, और अन्त में मिट्टी में मिल जाएगा, क्योंकि तू उसी में से निकाला गया, तू मिट्टी तो है और मिट्टी ही में फिर मिल जाएगा। और आदम ने अपनी स्त्री का नाम हव्वा रक्खा क्योंकि जितने मनुष्य जीते हैं उन सब की आदि माता वही हुई। और यहोवा परमेश्वर ने आदम और उसकी स्त्री के लिये चमड़े के अंगरखे बनाकर उनको पहना दिये"॥ (बा० हिं० अ० ३)

ईश्वर का भय

"फिर यहोवा परमेश्वर ने मनुष्य भले बुरे का ज्ञान पाकर हम में से एक के समान हो गया है सो अब ऐसा न हो कि वह हाथ बढ़ा कर जीवन के वृत्त का फल भी तोड़ के खाए, और सदा जीता रहे। सो यहोवा परमेश्वर ने उसको एदेन की बारी में से निकाल दिया कि वह उस भूमि पर खेती करे जिसमें से वह बनाया गया था। आदम को तो उसने बरबस निकाल दिया और जीवन के वृत्त के मार्ग का पहरा देने के लिये एदेन की

वारी की पूरब और करुबों को चारों ओर घूमती हुई ज्वालामय तलवार को भी ठहरा दिया" ॥

(बा० हिं० अ० ३)

आदम की आयु

"जब परमेश्वरने मनुष्य को सिरजा तब अपनी समानता ही में बनाया। नर और नारी करके उसने मनुष्यों को सिरजा और उन्हें आशिष दी और उनकी सृष्टि के दिन उनका नाम आदम रक्खा। जब आदम एक सौ तीस बरस का हुआ तब उसने अपनी समानता में अपने स्वरूप के अनुसार एक पुत्र जन्माकर उसका नाम शेत रक्खा। और शेत को जन्माने के पीछे आदम आठ सौ बरस जीता रहा, और उसके और भी बेटे बेटियां उत्पन्न हुईं। और आदम की सारी अवस्था नौसौ तीस बरस की हुई तब वह मर गया" ॥

(बा० हिं० अ० ५)

आदम के पीछे के वर्णन से पाया जाता है कि—आदम के पुत्र शेत की कुल आयु ९१२ वर्ष की हुई, उसके पुत्र एनोश की ७०५ वर्ष की, उसके पुत्र केनान की ९१० वर्ष की, उसके पुत्र महलेल की ८९५ वर्ष की, उसके पुत्र येरेद की ९६२ वर्ष की, और उसके पुत्र हनोक की आयु ९६९ वर्ष की हुई। हनोक के प्रथम पुत्र मतूशेलह की आयु ९६९ वर्ष की, और दूसरे पुत्र लैमेक की आयु ७७७ वर्ष की हुई इस प्रकार आदम की वंशावली बताई गई है। इस लेमेक का पुत्र नूह हुआ, जो बड़ाही धर्मात्मा और सच्चा मनुष्य बताया गया है। इसके तीन पुत्र शेम, हाम और येपेत नाम के थे, इस समय तक पृथ्वी मनुष्यों

से बहुत भर गई थी, और ईश्वर की दृष्टि में बिगड़ भी गई थी, अतएव ईश्वर को प्रलय करदेने की आवश्यकता दिखाई दी।

(बा० हिं० अ० ६)

"क्रिश्चियन—स्वर्ग"

एक सिंहासन स्वर्ग में धरा है और उस सिंहासन पर कोई बैठा है। और जो उस पर बैठा है वह यशब और मानिक सा देख पड़ता है और उस सिंहासन के चारों ओर मरकत सा एक मेघ धनुप दिखाई देता है। और उस सिंहासन के चारों ओर चौबीस सिंहासन हैं और इन चौबीस सिंहासनों पर चौबीस प्राचीन उजला वस्त्र पहिने हुए बैठे हैं और उनके सिरों पर सोने के मुकुट हैं। और उस सिंहासन में से बिजलियां और गर्जन निकलते हैं और सिंहासन के सामने आग के सात दीपक जल रहे हैं ये परमेश्वर के सात आत्मा हैं। और उस सिंहासन के सामने मानो बिल्लोर के समान कांच का सा समुद्र है और सिंहासन के बीच और सिंहासन के सामने चार प्राणी हैं जिनके आगे पीछे आंखें ही आंखें हैं। पहिला प्राणी सिंह के समान और दूसरा प्राणी बछड़े के समान, तीसरे प्राणी का मुंह मनुष्य का सा है और चौथा प्राणी उड़ते हुए उकाब के सामन है। और चारों प्राणियों के छः छः पंख हैं और चारों ओर और भीतर आंखें ही आंखें हैं और वे रात दिन बिना विश्राम लिये यह कहते रहते हैं पवित्र पवित्र पवित्र प्रभू परमेश्वर सर्वशक्तिमान् जो था और जो है और जो आने वाला है और जब जब वे प्राणी उसकी जो सिंहासन पर बैठा है जो युगानुयुग जीवित है महिमा और आदर और धन्यवाद करेंगे। तब तब चौबीसों प्राचीन

सिंहासन पर बैठने वाले के सामने गिर पड़ेंगे और उसे जो युगानुयुग जीवित है प्रणाम करेंगे और अपने अपने मुकुट सिंहासन के सामने यह कहते हुए डाल देंगे कि, हे हमारे प्रभु और परमेश्वर तू ही महिमा और आदर और सामर्थ के योग्य है क्यों कि तू ही ने सारी वस्तुएं सिरजीं और वे तेरी ही इच्छा से थीं और सिरजी गईं ॥......और मैंने उस सिंहासन और चारों प्राणियों और उन प्राचीनों के बीच में मानो एक वध किया हुआ मेम्ना खड़ा देखा, उसके सात सींग और सात आंखें थीं ये परमेश्वर के सातों आत्मा हैं जो सारी पृथिवी पर भेजे गए हैं। उसने आकर उसके दाहिने हाथ से जो सिंहासन पर बैठा था वह पुस्तक लेली और जब उसने पुस्तक लेली तो वे चारों प्राणी और चौबीसों प्राचीन उस मेम्ने के सामने गिर पड़े और हर एक के हाथ में वीणा और धूप से भरे हुए सोने के कटोरे थे ये तो पवित्र लोगों की प्रार्थनाएं हैं। और वे नया गीत गाने लगे कि तू इस पुस्तक को लेने और उसकी छापें खोलने के योग्य है क्योंकि तू ने वध होकर अपने लोहू से हर एक कुल और भाषा और लोग और जाति में से परमेश्वर के लिये लोगों को मोल लिया और हमारे परमेश्वर के लिये एक राज्य और याजक बनाया और वे पृथिवी पर राज्य करते हैं। और जब मैंने देखा तो उस सिंहासन और उन प्राणियों और उन प्राचीनों के चारों ओर बहुत से स्वर्गदूतों का शब्द सुना जिनकी गिनती लाखों और करोड़ों की थी। और वे ऊंचे शब्द से कहते थे वध किया हुआ मेम्ना ही सामर्थ और धन और ज्ञान और शक्ति और आदर और महिमा और धन्यवाद के योग्य है। फिर मैंने स्वर्ग में और पृथिवी पर और पृथिवी के नीचे समुद्र की सब सिरजी हुई वस्तुओं को

और सब कुछ जो उनमें हैं यह कहते सुना कि जो सिंहासन पर बैठा है उसका और मेम्ने का धन्यवाद और आदर और महिमा और पराक्रम युगानुयुग रहे। और चारों प्राणियों ने आमीन कहा और प्राचीनों ने गिरकर प्रणाम किया॥

(हि० बा० यूहन्ना का प्रकाशित वाक्य अ० ५-५)

"नेकी बदी का इन्साफ़"

जब मनुष्य का पुत्र अपनी महिमा में आएगा और सब स्वर्गदूत उसके साथ होंगे तो वह अपनी महिमा के सिंहासन पर बैठेगा। और सब जातियां उस के सामने इकट्ठी की जायँगी और जैसा रखवाला भेड़ों को बकरियों से अलग कर देता है वैसा ही वह उन्हें एक दूसरे से अलग करेगा। और वह भेड़ों को अपनी दाहिनी ओर और बकरियों को बाईं ओर खड़ी करेगा। तब राजा अपनी दाहिनी ओर वालों से कहेगा हे मेरे पिता के धन्य लोगो आओ उस राज्य के अधिकारी हो जाओ जो जगत् के आदि से तुम्हारे लिये तैयार किया हुआ है। क्योंकि मैं भूखा था और तुमने मुझे खाने को दिया मैं पियासा था और तुमने मुझे पिलाया मैं परदेशी था और तुमने मुझे अपने घर में उतारा। मैं नंगा था और तुमने मुझे कपड़े पहिनाये, बीमार था और तुमने मेरी खबर ली, मैं जेल खाने में था और तुम मेरे पास आये। तब धर्मी उसको उत्तर देंगे कि हे प्रभु हमने कब तुझे भूखा देखा और खिलाया पियासा देखा और पिलाया। हमने कब तुझे परदेशी देखा और अपने घर में उतारा या नङ्गा देखा और कपड़े पहिनाए हमने कब तुझे बीमार या जेल खाने में देखा और तेरे पास आए। तब राजा उन्हें

उत्तर देगा मैं तुमसे सच कहता हूँ कि तुमने जो मेरे इन छोटे से छोटे भाइयों में से एक के लिए किया वह मेरे लिए भी किया तब वह बाईं ओर वालों से भी कहेगा हे स्रापित लोगो मेरे सामने से उस अनन्त आग में जा पड़ो जो शैतान और उसके दूतों के लिए तैयार की गई है क्यों कि मैं भूखा था और तुमने मुझे खाने को नहीं दिया। मैं पियासा था और तुमने मुझे नहीं पिलाया।.........मैं तुम से सच कहता हूँ कि तुमने जो इन छोटे से छोटों में से एक के लिए न किया वह मेरे लिए भी न किया। और ये अनन्त दण्ड भोगेंगे पर धर्मी अनन्त जीवन में जा रहेंगे।

(हिं० बा० मत्ती रचित सुसमाचार अ० २५)

और जिन सात स्वर्गदूतों के पास वे सात कटोरे थे उनमें से एक ने आकर मुझसे यह कहा कि इधर आ मैं तुझे उस बड़ी वेश्या का दण्ड दिखाऊं जो बहुत से पानियों पर बैठी है। जिस के साथ पृथिवी के राजाओं ने व्यभिचार किया और और पृथिवी के रहने वाले उस के व्यभिचार की मदिरा से मतवाले होगए थे। सो वह मुझे आत्मा में जंगल को लेगया और मैंने किरमिजी रंग के पशुपर जो निन्दा के नामों से छपा हुआ और जिसके सात सिर और दश सींग थे एक स्त्री को बैठे हुए देखा।......और पशु उस वैश्या से वेर रक्खेंगे और उसे लाचार और नंगी कर देंगे और उसका मांस खा जायेंगे और उसे आग में जला देंगे। ....फिर मैंने स्वर्ग से किसी और का शब्द सुना कि हे मेरे लोगो! उसमें से निकल आओ कि तुम उसके पापों में भागी न हो और उसकी विपत्तियों में से

कोई तुम पर न आ पड़े।……मृत्यु और शोक और अकाल और वह आग में भस्म करदी जायगी।

(हिं० बा० यू० के प्र० वा० अ० १७-१८)

फिर मैंने एक स्वर्ग-दूत को स्वर्ग से उतरते देखा जिस के हाथ में अथाह कुण्ड की कुन्जी और एक बड़ी जंजीर थी। और उसने उस अजगर अर्थात् पुराने साँप को जो इबलिस और शैतान है पकड़ के हजार वर्ष के लिए बांधा। और उसे अथाह कुण्ड में डाल कर बंद किया और उस पर छाप करदी कि वह हजार वरप के पूरे होने तक जाति जाति के लोगों को फिर न भरमाए और जब हजार बरस पूरे हो चुकेंगे तो शैतान कैद से छोड़ दिया जायगा और उन जातियों को जो पृथिवी के चारों ओर होंगी अर्थात् याजूज और माजूज को जिनकी गिनती समुद्र की बालू के बराबर होगी भरमाकर लड़ाई के लिये इकठे करने को निकलेगा।………और उनका भरमाने वाला शैतान आग और गंधक की उस झील में जिस में वह पशु और झूठा नवी भी होगा डाला जायगा और वे रात दिन युगानुयुग पीड़ा में रहेंगे।

(हिं० बा० यूहन्ना के प्रकाशित वाक्य अ० २०)

विधर्मियों पर यहोवा का कोप और उसका फल

"और यदि तुम मेरी न सुनो और इन सब आज्ञाओं को न मानो, और मेरी विधियों को निकम्मा जानो और तुम्हारा जी, मेरे नियमों से घिन्न करे और तुम मेरी सब आज्ञाओं को न मानो वरन मेरी वाचा को तोड़ो, तो मैं तुम से यह करूंगा

अर्थात् मैं तुमको भरमाऊँगा और क्षय रोगी और ज्वरसे पीड़ित करूँगा और इनके कारण तुम्हारी आंखे धुन्धली और तुमारा मन अति उदास होगा और तुम्हारा बीज बोना व्यर्थ होगा क्योंकि तुम्हारे शत्रु उसकी उपज खालेंगे। फिर मैं तुम्हारे विरुद्ध हूँगा और तुम अपने शत्रुओं से हारोगे और तुम्हारे वैरी तुम्हारे ऊपर अधिकार जतायेंगे वरन जब कोई तुम को खदेड़ता न हो तब भी तुम भागोगे। और यदि तुम इन बातों पर भी मेरी न सुनो तो मैं तुम्हारे पापों के कारण तुम्हें सात गुनी ताड़ना और भी दूगा।……और मैं तुम्हारे बीच बनैले पशु भेजूंगा जो तुमको निरवंश करेंगे……मैं तुम पर तलवार चलाऊँगा जिससे वाचा तोड़ने का पलटा लिया जायगा और जब तुम अपने नगरों में इकटठे होगे तब मैं तुम्हारे बीच मरी फैलाऊंगा और तुम अपने शत्रुओं के वश में पड़ जाओगे। ……फिर यदि तुम इस पर भी मेरी न सुनो वरन मेरे विरुद्ध चलते ही रहो, तो मैं जल कर तुम्हारे विरुद्ध चलूंगा और तुम्हारे पापों के कारण मैं आपही तुमको सातगुनी ताड़ना दूंगा। और तुम को अपने बेटों और बेटियों का मांस खाना पड़ेगा। और मैं तुम्हारे पूजा के ऊंचे स्थानों को ढादूंगा और और तुम्हारी सूर्य की प्रतिमाएं तोड़ डालूँगा और तुम्हारी लोथों को तुम्हारी तोड़ी हुई मूरतों पर फेंक दूंगा और मेरा जी तुम से घिनला जायगा। और मैं तुम्हारे नगरों को उजाड़ दूंगा और तुम्हारे पवित्र स्थानों को सूना कर दूंगा और तुम्हारा सुख दायक सुगन्ध ग्रहण न करूँगा। और मैं आपही तुम्हारा देश सूना कर दूँगा और तुम्हारे शत्रु जो उसमें बस जायंगे सो उसके कारण चकित होंगे। और मैं तुमको जाति जाति के बीच

तितर बितर करूंगा और तुम्हारे पीछे तलवार खींचकर चलाऊंगा और तुम्हारा देश सूना होगा और तुम्हारे नगर उजाड़ हो जायेंगे।

(हिं० बा० लैव्य व्यवस्था अ० २६)

"यहोवा ने मूसा से कहा फिरौन के पास जाकर कह, यहोवा तुझ से यों कहता है कि मेरी प्रजा के लोगों को जाने दे, कि वे मेरी उपासना करें। और यदि तू उन्हें न जाने दे तो सुन मैं मेंढ़क भेजकर तेरे सारे देश को हानि पहुँचाता हूँ। और नील नदी मेंढ़कों से भर जायेगी और वे तेरे भवन और शयन की कोठरीमें और तेरे बिछौने पर और तेरे कर्म्मचारियों के घरों में और तेरी प्रजापर......चढ़ जायेंगे।......मेंढ़कों ने मिश्र-देश पर चढ़कर उसको छा लिया......मैं तुझ पर और तेरे चारियोंपर और तेरी प्रजापर और तेरे घरों में झुंडके झुंड डांस भेजूंगा।......दूसरे दिन यहोवा ने ऐसा ही किया और मिश्र के तो सब पशु मर गये पर इस्राएलियों का एक भी पशु न मरा।

(हिं० बा० निर्गमन अ० ८)

जो कोई यहोवा को छोड़कर किसी देवता के लिये बलिकरे वह सत्यानाश किया जाये।

(हिं० बा० निर्गमन अ० २२)

"अब मुझे मत रोक मैं उन्हें भड़के कोप से भस्म करदूँ और तुझ से एक बड़ी जाति उपजाऊं। तब मूसा अपने परमेश्वर यहोवा को यह कहके मनाने लगा कि हे यहोवा! तेरा कोप अपनी प्रजापर क्यों भड़का है, जिसे तू बड़े सामर्थ्य

और बलवन्त हाथ के द्वारा मिस्र देश से निकाल लाया है। ....तू अपने भड़के हुए कोप से फिर और अपनी प्रजा की ऐसी हानि से पछता......तब यहोवा अपनी प्रजा की वह हानि करने से पछताया जो उसने करने को कही थी।

(हिं० बा० निर्गमन अ० ३२)

ईश्वर (यहोवा) की आत्म प्रशंसा

"मैंने अब हाथ बढ़ाकर तुझे और तेरी प्रजा को मरी से मारा होता तो तू पृथिवी पर से सत्यानाश हो गया होता। पर सचमुच मैंने इसी कारण तुझे बनाये रखा है कि तुझे अपना सामर्थ्य दिखाऊँ और अपना नाम सारी पृथिवी पर प्रसिद्ध करू"।

(हिं० बा० निर्गमन अ० ६)

"मैं ही ने उसके और उसके कर्म्मचारियों के मन को इस-लिए कठोर कर दिया कि वे चिन्ह उन के बीच दिखाऊं। और तुम लोग अपने बेटों पोतों से इस का वर्णन करो कि यहोवा ने मिस्रियों को कैसे ठट्ठों में उड़ाया और अपने क्या क्या चिन्ह उन के बीच प्रगट किए जिस से तुम यह जान लोगे कि मैं यहोवा हूँ"।

(हिं० बा० निर्गमन अ० १०)

ईश्वर की असर्वज्ञता

'और जब तुम अपने देश में किसी सताने हारे वैरी से लड़ने को निकलो तब तुरहियों को सांस बांधकर फूंकना तब

तुम्हारे परमेश्वर यहोवा को तुम्हारा स्मरण आयेगा और तुम अपने शत्रुओं से बचाये जाओगे।......मैं तो तुम्हारा परमेश्वर यहोवा हूँ।

(हिं० बा० गिनती अ० १०)

यहोवा शाऊल को इस्रायेल का राजा कर के पछताया।

(हिं० बा० शमूएल नाम पहिली पुस्तक अ० १५)

यहोवा के लिए पशु पक्षियों का बलिदान

"यहोवा ने मिलाय वाले तम्बू में से मूसा को बुलाकर उस से कहा इस्राएलियों से कह कि तुम में से यदि कोई मनुष्य यहोवा के लिए पशु का चढ़ावा चढ़ाए तो उसका बलि पशु गाय, बैलों वा भेड़ बकरियों (इन) में से एक का हो॥........ ....और यदि वह यहोवा के लिए पक्षियों में का होम बलि चढ़ाए तो पिंडुकों वा कबूतरों का चढ़ावा चढ़ाए। याजक उसको वेदी के समीप ले जाकर उसका गला मरोड़ कर सिर को धड़ से अलग करे और वेदी पर ले जाय और उसका सारा लोहू उस वेदी की अलंग पर गिराया जाय।

(हिं० बा० लेव्य व्यवस्था अ० १)

क्रिश्चियन फिरस्ते (यमदूत)

फिर मैंने देखा कि मेम्ने ने उन सात छापों में से एक को खोला और उन चारों प्राणियों में से एक का गर्ज का सा शब्द सुना कि आ। और मैंने दृष्टि की और देखो एक श्वेत घोड़ा है और उसका सवार धनुष लिये हुए है और उसे मुकुट दिया

गया और वह जय करता हुआ और और भी जय करने को निकला ॥

और जब उसने दूसरी छाप खोली तो मैंने दूसरे प्राणी को यह कहते सुना कि आ । फिर एक और घोड़ा निकला जो लाल रंग का था उसके सवार को यह अधिकार दिया गया कि पृथिवी पर से मेल उठाले कि लोग एक दूसरे को वध करें और उसे एक बड़ी तलवार दी गई ॥

और जब उसने तीसरी छाप खोली तो मैंने तीसरे प्राणी को यह कहते सुना कि आ । और मैंने दृष्टि की और देखा एक काला घोड़ा है और उसके सवार के हाथ में एक तराजू है । मैंने उन चारों प्राणियों के बीच में से एक शब्द यह कहते सुना दीनार का सेर भर गेहूं और दीनार का तीन सेर जव और तेल और दाख रस की हानि न करना ॥

और जब उसने चौथी छाप खोली तो मैंने चौथे प्राणी का शब्द यह कहते सुना कि आ। और मैंने दृष्टि की और देखा एक पीला सा घोड़ा है और उसके सवार का नाम मृत्यु है और अधो लोक उसके साथ हो लेता है और उन्हें पृथिवी की एक चोथाई पर यह अधिकार दिया गया कि तलवार और अकाल और मरी और पृथिवी के बन पशुओं के द्वारा लोगों को मार डाले ॥......

क्रिश्चियन प्रलय

और जब उसने छठवीं छाप खोली तो मैंने देखा कि एक बड़ा भूईं डोल हुआ और सूरज कम्मल की नाईं काला और पूरा चाँद लोहू सा हो गया । आर आकाश के तारे पृथिवी पर गिरे और बड़ी आंधी से हिल कर अंजीर के पेड़ में से कच्चे फल झड़ते हैं । और आकाश ऐसा सरक गया जैसा पत्र लपेटने

से सरक जाता है और हरएक पहाड़ और टापू अपनी २ जगह से टल गया, और पृथिवी के राजा और प्रधान और सरदार और धनवान और सामर्थी लोग और हरएक दास और हरएक स्वतंत्र पहाड़ों की खोहों में और चटानों में जाछिपे और पहाड़ों और चटानों से कहनेलगे कि हम पर गिर पड़ो और हमें उसके मुंह से जो सिंहासन पर बैठा है और मेम्ने के क्रोध से छिपालो। क्योंकि उनके क्रोध का बड़ा दिन आ पहुँचा है अब कौन ठहर सकता है ॥........इसके पीछे मैंने पृथिवी के चारों कोनों पर चार स्वर्ग दूत खड़े देखे वे पृथिवी की चारों हवाओं को थांमे हुए थे, कि पृथिवी या समुद्र या किसी पेड़ पर हवा न चले। फिर मैंने एक और स्वर्ग दूत को जीवित परमेश्वर को छाप लिए हुए पूरब से ऊपर को और आते देखा......ये वे हैं जो उस बड़े क्लेश में से निकल कर आए हैं इन्होंने अपने २ वस्त्र मेम्ने के लोहू में धोकर उजले किए हैं। इसी कारण ये परमेश्वर के सिंहासन के सामने हैं .....मेम्ना जो सिंहासनके बीच में है उनकी रखवाली करेगा।.........और जब उसने सातवीं छाप खोली तो स्वर्ग में आध घड़ी तक मौन छा गया।......और वे सातों स्वर्ग दूत जिनके पास सात तुरहियां थीं फूंकने को तैयार हुए ॥

पहिले स्वर्ग दूत ने तुरही फूंकी और लोहू से मिले हुए ओले और आग हुए और वे पृथिवी पर डाले गये और पृथिवी की एक तिहाई जल गई और सब हरी घास जल गई ॥

और दूसरे स्वर्ग दूतने तुरही फूंकी और आग से जलता हुआ एक बड़ा पहाड़ सा समुद्र में डाला गया और समुद्र की एक

तिहाई लोहू होगई और समुद्र में की सिरजी हुई वस्तुओं की एक तिहाई जो सजीव थी मरगई और जहाजों की एक तिहाई नाश हो गई ॥

और तीसरे स्वर्ग दूतने तुरही फूंकी और एक बड़ा तारा जो मशाल की नाईं जलता था स्वर्ग से टूटा और नदियों की एक तिहाई पर और पानी के सोतों पर आ पड़ा। और उस तारे का नाम नागदोना कहलाता है और एक तिहाई पानी नागदौना सा कड़वा हो गया और बहुतेरे मनुष्य उस पानी के कड़वे हो जाने से मरगये ॥

और चोथे स्वर्ग दूत ने तुरही फूंकी और सूरज की एक तिहाई और चाँद की एक तिहाई और तारों की एक तिहाई मारी गई यहां तक कि उन की एक तिहाई अंधेरी हो गई और दिन की एक तिहाई में उजाला न रहा वैसे ही रात में भी ॥

और मैंने देखा तो आकाश के बीच में एक उकाब को उड़ते और ऊंचे शब्द से यह कहते सुना कि उन तीन स्वर्ग दूतों की तुरही के शब्दों के कारण जिनका फूंकना अभी बाकी है पृथिवी के रहने वालों पर हाय हाय हाय ॥

और पांचवें स्वर्ग दूत ने तुरही फूंकी और मैंने स्वर्ग से पृथ्वी पर एक तारा गिरता हुआ देखा और उसे अथाह कुंड की कुंजी दी गई। और उसने अथाह कुंड को खोला और कुंड में से बड़ी भट्टी का सा धूआं उठा और कुंडके धूएं से सूरज और आकाश अंधेरे होगए। और उस धूएं में से पृथिवी पर टिड्डीयां निकलीं और उन्हें पृथिवो के बिच्छूओं की सी शक्ति दी गई। और उनसे कहा गया कि न पृथिवी की घास को न किसी हरियाली को न

किसी पेड़ को हानि पहुँचाओ केवल उन मनुष्यों को जिनके माथे पर परमेश्वर की छाप नहीं। और उन्हें मार डालने का तो नहीं पर पांच महीने तक लोगों को पीड़ा देने का अधिकार दिया गया और उनकी पीड़ा ऐसी थी जैसे बिच्छू के डंक मारने से मनुष्य को होती है। उन दिनों में मनुष्य मृत्यु को ढूंढेंगे और न पाएंगे और मरने की लालसा करेंगे और मृत्यु उनसे भागेगी। और उनके टीड्डियों के आकार लड़ाई के लिये तैयार किये हुये घोड़ों के से थे और उनके सिरों पर मानों सोनेके मुकुट थे;और उनके मुंह मनुष्योंके से थे और उनके बाल स्त्रियों के से और दांत सिंहों के से थे। और वे लोहे की सी झिलम पहिने थे और उनके पंखों का शब्द ऐसा था जैसा रथों और बहुत से घोड़ों का जो लड़ाई में दौड़ते हों। और उनकी पूंछ बिच्छुओं की सी थीं और उन में डंक थे और उन्हें पांच महीने तक मनुष्यों को दुःख पहुंचाने की जो सामर्थ थी वह उनकी पूंछों में थी। अथाह कुंड का दूत उन पर राजा था उसका नाम इब्रानी में अवद्दोन और यूनानी में अपुल्लयोन है॥

पहिली विपत बीत चुकी देखो अब इसके पीछे दो बिपतें होने वाली हैं॥

और छठवें स्वर्ग दूत ने तुरही फूंकी और जो सोने की वेदी परमेश्वर के सामने है उसके सींगों में से मैंने ऐसा शब्द सुना। जो छठवें स्वर्ग दूत से जिसके पास तुरही थी कोई कह रहा है उन चार स्वर्ग दूतों को जो बड़ी नदी फिरात के पास बंधे हुए हैं खोल दे। और वे चारों दूत खोल दिए गए जो उस घड़ी और दिन और महीने और बरस के लिये मनुष्यों की एक तिहाई के मार डालने को तैयार किए गए थे। और फौज़ों

के सवारों की गिनती बीस करोड़ थी मैंने उनकी गिनती सुनी। और मुझे इस दर्शन में घोड़े और उनके ऐसे सवार दिखाई दिए जिनकी झिलमें आग और धूम्र कान्त और गन्ध का सी थीं। और उन घोड़ों के सिर सिंहों के सिरों के से थे और उनके मुँह से आग और धुआं और गंधक निकलती थीं। इन तीनों मरियों अर्थात् आग और धुआं और गन्धक से जो उस के मुंह से निकलती थीं मनुष्यों की एक तिहाई मार डाली गई।.........पर सातवें स्वर्ग दूत के शब्द देने के दिनों में जब वह तुरही फूंक ने पर होगा तो परमेश्वर का गुप्त मनोरथ उस सु समाचार के अनुसार जो उसने अपने दास नबियों को दिया पूरा होगा।

फिर मैंने मन्दिर में किसी को ऊंचे शब्द से उन सातों स्वर्ग दूतों से यह कहते सुना कि जाओ परमेश्वर के कोप के सातों कटोरों को पृथिवी पर उंडेल दो॥

सो पहिले ने जाकर अपना कटोरा पृथिवी पर उंडेल दिया और उन मनुष्यों के जिन पर पशु की छाप थी और जो उसकी मूरत की पूजा करते थे एक प्रकार का बुरा और दुखदाई फोड़ा निकला॥

और दूसरे ने अपना कटोरा समुद्र पर उंडेल दिया और वह मरे हुए का सा लोहू बन गया और समुद्र में का हरएक जीवधारी मर गया॥

और तीसरे ने अपना कटोरा नदियों और पानी के सोतों पर उंडेल दिया और वे लोहू बन गये। और मैंने पानी के स्वर्गदूतों को यह कहते सुना कि हे पवित्र जो है और जो था

तू न्यायी है और तूने यह न्याय किया। क्योंकि उन्होंने पवित्र लोगों और नबियों का लोहू बहाया था और तूने उन्हें लोहू पिलाया क्योंकि वे इसी योग्य हैं। फिर मैंने वेदी से यह शब्द सुना कि हां हे सर्वशक्तिमान् प्रभु परमेश्वर तेरे फैसले सच्चे और ठीक हैं ॥

और चौथे ने अपना कटोरा सूरज पर उंडेल दिया और उसे मनुष्यों को आग से झुलसा देने का अधिकार दिया गया। और मनुष्य बड़ी तपन से झुलस गए और परमेश्वर के नाम की जिसे इन विपतों पर अधिकार है निन्दा की और उसकी महिमा करने के लिये मन न फिराया ॥

और पांचवें ने अपना कटोरा उस पशु के सिंहासन पर उंडेल दिया और उसके राज्य पर अन्धेरा छा गया और लोग पीड़ा के मारे अपनी अपनी जीभ चबाने लगे। और अपनी पीड़ाओं और फोड़ों के कारण स्वर्ग के परमेश्वर की निन्दा की और अपने अपने कामों से मन न फिराया ॥

और छठवें ने अपना कटोरा बड़ी नदी फिरात पर उंडेल दिया और उसका पानी सूख गया............ ....
और सातवें ने अपना कटोरा हवा पर उंडेला दिया और मंदिर के सिंहासन से यह ऊँचा शब्द हुआ कि हो चुका। फिर बिजलियां और शब्द और गर्जना हुए और एक ऐसा बड़ा भूंईं डोल आया कि जब से मनुष्य की उत्पत्ति पृथिवी पर हुई तब से ऐसा बड़ा भूंईं डोल न हुआ था। और उस बड़े नगर के तीन टुकड़े हो गए और जाति जाति के नगर गिर पड़े और बड़ी बाबिल

का स्मरण परमेश्वर के यहां हुआ कि वह अपने क्रोध की जल-जलाहट की मदिरा उसे पिलाए। और हर एक टापू अपनी जगह से टल गया और पहाड़ों का पता न लगा। और आकाश से मनुष्यों पर मन मन भर के बड़े ओले गिरे और इसलिये कि यह विपत बहुत ही भारी थी लोगों ने ओलों की विपत के कारण परमेश्वर की निन्दा की ॥

(हिं० बा० युहन्ना के प्रकाशित वाक्य अ० ६, ७, ८, ६, १०, १६)

"नूतन सृष्टि निर्माण"

फिर मैंने नए आकाश और नई पृथिवी को देखा क्योंकि पहिला आकाश और पहिली पृथिवी जाती रही थी और समुद्र भी न रहा। फिर मैंने पवित्र नगर नई यरूशलेम को स्वर्ग से परमेश्वर के पास से उतरते देखा और वह उस दुल्हिन के समान थी जो अपने पति के लिए सिंगार किए हो।......परमेश्वर की महिमा उसमें थी और उसकी ज्योति बहुत ही बहुमोल पत्थर अर्थात् बिल्लोर सरीखे यशब की नाई स्वच्छ थी......नगर ऐसे चोखे सोने का था जो स्वच्छ काँच के समान हो......और उसके फाटक दिन को कभी बंद न होंगे, न वहाँ रात होगी......और नदी के इस पार और उस पार जीवन का पेड़ था, उसमें बारह प्रकार के फल लगते थे...और फिर स्राप न होगा और परमेश्वर और मेम्ने का सिंहासन उस नगर में होगा और......और फिर रात न होगी और उन्हें दीपक और उजाले का प्रयोजन न होगा क्योंकि प्रभु परमेश्वर उन्हें उजाला देगा और वे युगानुयुग राज्य करेंगे ॥

(हिं० बा० युहन्ना के प्रकाशित वाक्य अ० २१-२२)

नई सृष्टि पर ईश्वर की कृपा

परमेश्वर का डेरा मनुष्यों के बीच में है, वह उनके साथ डेरा करेगा और वे उसके लोग होंगे और परमेश्वर आप उनके साथ रहेगा और उनका परमेश्वर होगा। और वह उनकी आँखों से सब आंसू पोंछ डालेगा और इसके पीछे मृत्यु न रहेगी और न शोक न विलाप न पीड़ा रहेगी, पहिली बातें जाती रहीं।

(हिं० बा० यूहन्ना के प्रकाशित वाक्य अ० २१)

मुस्लिम-सृष्टि

वही है जिसने तुम्हारे लिए धरती की चीजें पैदा की फिर आकाश की तरफ ध्यान दिया तो सात आकाश हमवार (समधरातल) बना दिए और वह हर चीज से जानकार है।

(हिं० कु० पा० १ सूरे बक़र आ० २६)

उसी के किए से प्रातः पौ फटती है और उसीने आराम के लिए रात और हिसाब के लिए सूरज और चन्द्रमा बनाये हैं। यह प्रबल बुद्धिमान के करतब हैं। और वही है जिसने तुम लोगों के लिए तारागण बनाये ताकि जंगल और नदी के अंधेरों में उनसे हिदायत पाओ।

(हिं० कुं० पा० ७ सूरे अनयाम आ० ६७-६८)

तुम्हारा पालन कर्त्ता अल्लाह है जिसने छः दिन में ज़मीन और आस्मान को पैदा किया फिर तख़्त पर जा विराजा; वही

रात को दिन का पर्दा बनाता है, रात दिन के पीछे चली आती है और उसीने सूर्य चन्द्रमा और तारों को पैदा किया।

(हिं० कु० पा० ८ सूरे आराफ आ० ५४)

और वही है जो अपनी दया के आगे खुश खबरी देने को हवा में भेजा करता है यहां तक कि वह पानी के भरे बादल उठालाती हैं तो हम किसी मुर्दा बस्ती की तरफ उस बादल को हांक देते हैं फिर बादल से पानी बरसाते हैं......इसी तरह हम (कयामत के दिन) मुर्दों को निकाल खड़ा करेंगे।

(हिं० कु० पा० ८ सूरे आराफ आ० ५७)

तुम्हारा पालन कर्त्ता वही अल्लाह है जिसने छ दिन में आस्मान और जमीन को बनाया फिर अर्श पर जा विराजा। हर एक काम का प्रबन्ध कर रहा है.........वही अव्वल मर्तबा सृष्टि को पैदा करता है-फिर उसको दुबारा जिन्द करेगा।......जिसने सूर्य को जमकीला बनाया और चांद को रोशन और उसकी मंजिलें ठहराईं ताकि तुम लोग वर्षों की गिनती और हिसाब मालूम कर लिया करो। यह सब खुदा ने मसलहत (विचार) से बनाया है।

(हिं० कु० पा० ११ सूरे यूनिस आ० ३-४-५)

अल्लाह वही है जिसने आस्मान और जमीन को पैदा किया और आस्मान से पानी बरसाया। फिर पानी के जरिये फल निकाले कि वह तुम लोगों की रोजी है और किश्तियों को तुम्हारे अधिकार में किया ताकि उसके हुक्म से नदी में चलें और नदियों को भी। और सूरज और चन्द्रमा को जो चक्कर

खाते हैं एक दस्तूर पर तुम्हारे काम में लगाया और रात दिन को तुम्हारे अधिकार में कर दिया......खुदा के अहसान को गिनना चाहो तो पूरा पूरा गिन न सकोगे। मनुष्य बड़ा अन्याई और बड़ा कृतघ्न (नाशुक्र) है।

(हिं० कु० पा० १३ सूरे इब्राहीम आ० ३२-३३-३४)

"अल्लाह वह है जिसने आस्मानों को बिना किसी सहारे के ऊँचा बना खड़ा किया (जैसा कि) तुम देख रहे हो फिर तख्त पर जा बिराजा और चन्द्रमा सूर्य को काम में लगाया कि हर एक नियत समय तक चला जा रहा है वही सब संसार का प्रबन्ध कर्ता है......और वह है जिसने जमीन को फैलाया और उसमें पहाड़ और नदी बना दीं और उसमें हर तरह के फलों की दो-दो क़िस्में पैदा कीं............आस्मान से पानी बरसाया फिर अपने अन्दाजे से नाले बह निकले।

(हिं० कु० पा० १३ सूरे राद आ० २-३-१७)

"क्या जो लोग इन्कार करनेवाले हैं उन्होंने नहीं देखा कि आस्मान और ज़मीन दोनों का एक पिंडा सा था। सो हमने (उसको तोड़कर) जमीन और आस्मान को अलग अगल किया और पानी से जानदार चीजें बनाईं तो क्या इस पर भी लोग ईमान नहीं लाते। और हमही ने जमीन में पहाड़ रक्खे ताकि लोगों को लेकर झुक न पड़े और हम ही ने चौड़े चौड़े रास्ते बनाये ताकि लोग राह पावें। और हमही ने आस्मान को बचाव की छत बनाया और वे आस्मानी निशानियों को ध्यान मे नहीं लाते।.........और (हे पैगम्बर) हमने तुमसे पहिले

किसी आदमी को अमर नहीं किया पस अगर तुम मर जाओगे तो क्या यह लोग हमेशा रहेंगे ?

(हिं० कु० पा० १७ सूरे अम्बिया आ० ३० से ३४)

"यह हिकमत वाली किताब की आयतें हैं। ....उसीने आस्मानों को जिन को तुम देखते हो बगैर खम्भों के खड़ा किया है और ज़मीन में पहाड़ों को डाल दिया कि तुम्हें लेकर जमीन झुक न पड़े और उसमें हर किस्म के जानदार फैला दिये और आसमान से पानी बरसाया फिर जमीन में हर तरह के उम्दह जोड़े पैदा किए। यह खुदा की पैदायश है: पस तुम मुझे दिखाओ कि खुदा के सिवाय जो पूजित तुम लोगों ने बना रक्खे हैं उन्होंने क्या पैदा किया ? यह जालिम खुली गुमराही में है।

(हिं० कु० पा० २१ सूरे लूकमान आ० २-१०-११)

"और जो अल्लाह है जो हवायें चलाता है फिर हवायें बादल को उभारती हैं। फिर बादल को जुदी शहर की तरफ़ हाँका। फिर हमने मेह के जरिये से जमीन का उसके मरे पीछे ज़िन्दह किया है। इसी तरह मुर्दों का उठाना है।.......
...जिसने हमको अपनी कृपा से ठहरने के घर में उतारा। यहां हमको कोई दुःख न पहुँचायेगा और न यहाँ हमको थकान आवेगी।

(हिं० कु० पा० २२ सूरे फ़ातिर आ० ६-२५)

"इसके बाद दो दिन में उस (धुँयें से) सात आसमान बनाये।

(हिं० कु० पा० २४ सूरे हमीम सिजदा आ० १२)

"और हमने आस्मानों को अपने बाहुबल से बनाया और हम सामर्थ्य वाले हैं।

(हिं० कु० पा० २७ सूरे जारियात आ० ४७)

मुस्लिम सृष्टि

आदम-मनुष्य की उत्पत्ति

अल्लाह के यहाँ ईसा की मिसाल जैसी आदम की (कि खुदाने) मिट्टी से आदम को बनाकर उसको हुक्म दिया कि 'हो' और वह हो गया।

(हिं० कु० पा० ३ सूरे आल इमरान आ० ५८)

हमने सड़े हुए गारे से जो सूख कर खनखनाने लगता है आदमी को पैदा किया। और हम जिन्नों को पहले लूकी गर्मी से पैदा कर चुके थे।

(हिं० कु० पा० १४ सूरे हजर आ० २६-२७)

अल्लाह वह है जिसने तुम लोगों को कमजोर हालत से पैदा किया फिर (लड़कपन की) कमजोरी के बाद (जवानी की) ताकत दी। फिर ताकत के बाद कमजोरी और बुढ़ापे (की हालत) दी।

(हिं० कु० पा० २१ सूरे रूम आ० ५४)

हमने तुमको जमीन में स्थान दिया और उसीमें तुम्हारे लिये जिन्दगी के सामान इकट्ठे किये......और हम ही ने तुमको पैदा कियां और फिर तुम्हारी सूरत बनाई और फिर हमने

फिरिश्तों को आज्ञा दी कि आदम के आगे झुको तो झुक गये मगर वह इबलीस झुकनेवालों में न हुआ। पूछा कि तुमको किस चीज ने माथा नवाने से रोका-बोला मैं आदम से अच्छा हूँ मुझको तूने आगसे पैदा किया और उसको मिट्टी से पैदा किया। (हिं० कु० पा० ८ सूरे आराफ आ० १० । ११ । १२)

(हमने आदम से कहा कि) हे आदम तुम और तुम्हारी स्त्री वैकुण्ठ में रहो और जहाँ से चाहो खाओ मगर इस दरख्त के पास न फटकना नहीं तो तुम पापी होगे। फिर शैतान ने मियां बीवी दोनों को बहकाया ताकि उनकी याद करने की चीजें जो उनसे छिपी थीं उन्हें खोल दिखावें और कहने लगा तुम्हारे पालन कर्ता ने जो इस दरख्त (के फल खाने) से तुम को मना किया है तो इसका कारण यही है कि कहीं ऐसा न हो कि तुम दोनों फिरिश्ते बन जाओ या दोनों अमर बन जाओ और उसने कस्म खाई कि मैं तुम्हारा भलाई चाहने वाला हूँ। गरज धोखे से उनको (सुहबत प्रसंग के लिए) मायल कर-लिया तो ज्योंही उन्होंने दरख्त चखा तो दोनों के पर्दे करने की चीजें उनको दिखाई देने लगी, और अपने ऊपर पत्ते ढाँकने लगे, उनके पालनकर्ता ने उनको पुकारा। क्या हमने तुमको इस वृक्ष की मनाई नहीं की थी और तुमसे नहीं कह दिया था कि शैतान तुम्हारा खुला दुश्मन है।... तुम (वैकुण्ठ से) नीचे उतर जाओ तुममें एक का एक दुश्मन है। और तुमको एक खास वक्त तक जमीन पर रहना होगा।...... हे आदम के बेटो ? हमने तुम्हारे लिये पोशाक उतारी है जो तुम्हारे परदे की चीजों को छिपाये।

(हिं० कु० पा० ८ सूरे आराफ आ १६।२०।२१।२२।२४।२६)

फिर शैतान ने आदम को फुसलाया और कहा हे आदम कहो तो तुमको हमेशगी का दरख्त बतादूँ। कि जिसको खा कर हमेशा जीते रहो।

(हिं० कु० पा० १६ सूरे ताहा आ० १२०)

मुस्लिम स्वर्ग

(हे पैगम्बरों इन लोगों से) कहो कि मैं तुमको इनसे बहुत अच्छी चीज बताऊँ वह यह कि जिन लोगों ने परहेज-गारी अख्तियार की। उनके लिये उनके पालनकर्ता के यहाँ बाग है जिनके नीचे नहरें बह रही हैं (और वह) उन में हमेशा रहेंगे और (बागो) के सिवाय सुथरी (पाक साफ) बीवियाँ हैं। और खुदाकी खुशी है।

(हिं० कु० पा० ३ सुरे आल इमरान आ० १४)

जब जमीन बड़े जोर से हिलने लगेगी और पहाड़ के टुकड़े टुकड़े हो जायँगे।.........फिर दाहिने हाथ वाले सो दाहिने हाथवालों का क्या कहना है। और बाये हाथ वाले बायें हाथ वालों का क्याही बुरा हाल है.........जड़ाऊ तख्तों के ऊपर। आमने सामने तकिये लगाये बैठे होंगे। उनके पास लौंडे हैं जो हमेशा (लड़के ही) बने रहेंगे। उनके पास आब खोरे और लोटे और साफ शराब के प्याले लाते और ले जाते होंगे। जिससे न तो उनके सिर में दर्द होगा न बकबाद लगेगी। और जो मेवे उनको अच्छे लगें। और जिस किस्म के पक्षी का मांस उनको अच्छा लगे। और हूरे बड़ी-बड़ी आंखोंवाली

जैसे छिपे हुए मोती..........और ऊँचे बिछौने। हमने हूरों की एक खास सृष्टि बनाई है। फिर इनको क्वारी बनाया है प्यारी प्यारी समान अवस्थावाली.......तारों के टूटने के समय की कसम है। और समझो तो यह बड़ी कसम है।

(हिं० कु० पा० २७ सुरे वाकिया आ० ४-५-८-६-१५-१६-१७-१८-१६-२०—२१-२२-२३-२५-२६-३७-७५-७६)

यह उनके कर्म का पूरा बदला है।........(यानी रहने को) बाग और (खाने को) अंगूर और नौजवान स्त्रियाँ हम उम्र। और छलकते हुए प्याले। जब कि जिब्रील और फिरिश्ते पांति की पांति खड़े होंगे।

(हिं० कु० पा० ३० सुरे नबा आ० ३६-३२-३३-३४-३८)

मुस्लिम-नरक

वैकुण्ठ वासी लोग नरक वासियों को पुकारेंगे कि हमारे पालन कर्त्ता ने जो हमसे प्रतिज्ञा की थी हमने तो सच्चा पाया तो क्या जो तुम्हारे पालनकर्त्ता ने वादा किया था तुमने भी सच्चा पाया। वह कहेगा 'हां', इतने में पुकारनेवाला पुकार उठेगा कि जालिमों पर खुदा की लानत......वैकुण्ठ और नरक के बीचमें एक आड़ होगी यानी आराफ़ उसके सिरे पर कुछ लोग हैं जो हर एक को उनकी शक्लों से पहिचानते हैं। वैकुण्ठ वासियों को पुकार कर सलामालेक करेंगे।......जब उनकी नज़र नरक वासियों की तरफ़ जा पड़ी तो दुआ मांगने लगे।

(हिं० कु० पा० ८ सूरे आराफ आ० ४४-४६-४७)

ऐसे तमाम लोगों के लिये नरक का वादा है। उसके सात दरवाजे हैं हर दरवाजे के लिये नरक वासियों की टोलियां अलग-अलग होंगी।

(हिं० कु० पा० १४ सूरे हजर आ० ४३-४४)

मुस्लिम प्रलय

और (हे पैगम्बर तुमसे पहाड़ों की बाबत पूछते हैं कि कयामत के दिन इनका क्या हाल होगा,) तो कहो कि मेरा पालनकर्त्ता इनको उड़ा देगा। और जमीन को मैदान हम वार कर छोड़ेगा। जिसमें तू न तो कहीं मोड़ देखेगा और न कहीं ऊँचा नीचा।

(हिं० कु० पा० १६ सूरे ताहा आ० १०५-१०६-१०७)

"जब कि आसमान फट जाये। और जब सितारे झड़ पड़ें। और जब नदियाँ वह चलें। और जब कब्रें उखाड़ दी जायें।

(हिं० कु० पा० ३० सूरे इन्फितार आ० १-२-३-४)

जिस वक्त सूरज लपेट लिया जाय। और जिसवक्त तारे झड़ पड़ें। और जिस वक्त पहाड़ चलने लगें।......और जिस वक्त दरिया पाट दिये जावें।......और जिस वक्त कर्मों का लेखा खोला जायगा। और जिस वक्त आसमान की खाल खींची जायगी।

(हिं कु० पा ३० सूरे तकवीर आ० १-२-३-६-१०-११)

"जब कि जमीन बदल कर दूसरी तरह की जमीन करदी जावेगी और आस्मान और (सब) लोग एक खुदा जबरदस्त के सामने निकल खड़े होंगे।

(हिं कु० पा० १३ सूरे इब्राहीम आ० ४८)

कयामत के दिन इन्साफ

"और जब सूर (नरसिंहा) फूंका जायगा तो एकदम से कब्रों से (निकल-निकल) अपने पालन कर्ता की तरफ चल खड़े होंगे।

(हिं० कु० पा० २३ सूरे यासीन आ० ५१)

"फिर इसके बाद तुमको मरना है। फिर क़यामत के दिन तुम उठा खड़े किये जाओगे। और हमने तुम्हारे ऊपर सात राह (आस्मान) बनाये और पैदा करने में हम अनाड़ी न थे।

(हिं० कु० पा० १८ सूरे मोम्नून आ० १५-१६-१७)

"जिस दिन कब्रों से दौड़ते निकलेंगे जैसे किसी निशानों पर दौड़ते हैं। ज़िल्लत के मारे निगाह नीची किये होयँगे ये वह दिन है जिसका उनसे वादा है।

(हिं० कु० पा० २९ सूरे यारिन आ० ४३-४४)

"अल्लाह पहली दफा पैदा करता है फिर उसको दुहरावेगा फिर उसकी तरफ फिर जाओगे। जिस दिन कयामत उठेगी अपराधी निराश होकर रह जावेंगे। फिर जो लोग इमान लाये और उन्होंने सुकर्म किये वह बाग (वैकुण्ठ) में होंगे उनकी आवभगत हो रही होगी।

(हिं० कु० पा० २१ सूरे रूम आ० ११-१२-१५)

"और आसमान फट जायगा और वह उस दिन सुस्त हो जायगा और फिरश्ते किनारों पर होयंगे और उस दिन, तुम्हारे पालनकर्ता के तख्त को आठ फिरिश्ते अपने ऊपर उठाये होंगे।

उस दिन तुम सामने लाये जाओगे और तुम्हारी बात छुपी न रहेगी। सो जिसकी किताब उसके दाहिने हाथ में दी जावेगी वह कहेगा लो मेरा कर्म लेखा पढ़ो।......और वह शख़्श जिसको उसकी किताब बायें हाथ में दी जावेगी वह कहेगा अफ़सोस मुझको मेरा यह कर्म लेखा न मिला होता।

(हि० कु० पा० २६ सूरे हाका आ० १६-१७-१८-१६-२५)

"कयामत के दिन सारी जमीन उसकी मुट्ठी में होगी और सब आसमान लपटे हुये उसके दाहिने हाथ में होंगे......और सूर (नरसिंहा) फूंका जायगा तो जो आस्मानों में और जमीनों में हैं बेहोश होयंगे मगर जिसको खुदा चाहे (बेहोश न होगा) फिर दुबारा सूर (नरसिंहा) फूंका जायगा। फिर वे खड़े हो जायंगे और देखने लगेंगे। और जमीन अपने पालन कर्ता के नूर से चमक उठेगी और किताबें रखदी जायंगी और उनमें पैगम्बर गवाह हाजिर किये जायँगे और उनमें इन्साफ के साथ फैसला कर दिया जायगा। और उन पर जुलम न होगा।

(हि० कु० पा० २४ सूरे जुमुर आ० ६७-६८-६६)

मुस्लिम कर्म सिद्धान्त

जो अभागे हैं वह नरक में होंगे वहां उनको चिल्लाना और दहाड़ना होगा। जब तक आकाश व जमीन है।......और जो लोग भाग्यवान हैं वह बैकुण्ठ में होंगे जब तक आस्मान और जमीन है।

(हिं० कु० पा० १२ सूरे हूद आ० १०६-१०७-१०८)

हमने हर आदमी का भाग्य उसकी गर्दन से लगा दिया है और क़यामत के दिन हम (उसके) कर्मों का लेख निकाल कर उसके सामने पेश करेंगे ... (और हम उससे कहेंगे कि वह) अपना लेखा पढ़ले आज अपना हिसाब लेने के लिए तू आप ही काफी है।

(हिं० कु० पा० १२ सूरे बनी इसराईल आ० १३—१४)

तुमको कोई फ़ायदा पहुँचे तो अल्लाह की तरफ से है और तुमको कोई नुकसान पहुँचे तो वो तेरी रूह (आत्मा) की तरफ़ से है।

(हिं० कु० पा० ५ सूरे निसा आ० ७९)

खुदा की युद्ध के लिए प्रेरणा

"खुदा की राह में लड़ो"।

(हिं० कु० पा० २ सूरे बक़र आ० २४४)

"और (मुसलमानों ?) जो लोग तुमसे लड़े तुम भी अल्लाह के रास्ते में उनसे लड़ो ... (जो लोग तुम से लड़ते हैं) उनको जहाँ पाओ क़त्ल करो और जहाँ से उन्होंने तुमको निकाला है (यानी मक्के से) तुम भी उनको (वहाँ से) निकालो और फ़साद का (कायम रहना) खून बहाने से भी बढ़कर है, और जबतक काफ़िर अदबवाली मसज़िद के पास तुम से न लड़े तुम भी उनसे न लड़ो, लेकिन अगर वह लोग तुमसे लड़ें तो तुम भी उनको क़त्ल करो, ऐसे काफ़िरों की यही सजा है।

(हिं० कु० पा० २ सूरे बकर आ० १९०-१९१)

"दो गिरोहों में तुम्हारे लिये निशानी हो चुकी है जो एक दूसरे से गुथ गये। एक गिरोह तो खुदा की राह में लड़ता था और दूसरा (गिरोह काफिरों का था, जिनको आंखों देखते मुसलमानों को अपने से दूना दिखलाई दे रहा था, और अल्लाह अपनी मदद से जिसको चाहता है मदद देता है।

(हिं० कु० पा० ३ सूरे आलइमरान आ० १२)

"जो खुदा की राह में लड़े और फिर मारा जावे या जीत जाय तो हम उसको बड़ा फल देवेंगे।"

(हिं० कु० पा० ५ सूरे निसा आ० ७४)

"और जिस वक्त तुम खुदा के हुक्म से काफिरों को तलवार से मार रहे थे।"

(हिं० कु० पा० ४ सूरे आलइमरान आ० १५२)

इसी तरह हमने हर बस्ती में बड़े बड़े अपराधी पैदा किये ताकि वहाँ फ़िसाद (विद्रोह) करते रहे।

(हिं० कु० पा० ८ आ० १२४)

"पस काफिरों को तुमने कत्ल नहीं किया बल्कि उनको अल्लाह ने कत्ल किया और जब तुमने तीर चलाये तो तुम ने तीर नहीं चलाये बल्कि अल्लाह ने तीर चलाये।...जानो कि अल्लाह मुसलमानों के साथ है।

(हिं० कु० पा० ६ सूरे अनफाल आ० १७-१६)

"क़ाफिरों से लड़ते रहो यहाँतक कि फ़िसाद (द्रोह) न रहे और सब खुदा ही का दीन हो जावे।

(हिं० कु० पा० ६ सूरे अनफाल आ० ४०)

खुदाकी मक्कारी—

"और यहूदने (ईसा से) मकर किया और अल्लाह ने मकर किया और अल्लाह मकारों में अच्छा मक्कार है।

(हिं० कु० पा० ३ सूरे आलइमरान आ० ५३)

"काफिर मकर करते थे और अल्लाह भी फरेब करता था। और अल्लाह सब मक्कारों में अच्छा मक्कार है।

(हिं० कु० पा० ६ सूरे अनफाल आ० ३०)

मुसलमानों तुम को क्या होगया है कि जब तुम से कहा जाता है कि जहाद के लिये निकलो तो तुम जमीन पर ढेर हुए जाते हो........अगर तुम न निकलोगे तो खुदा तुमको बड़ी दुःखदाई मार देगा और तुम्हारे बदले लोग लाकर मोजूद करेगा।

(हिं० कु० पा० १० सूरे तोबा आ० ३८-३९)

"जब कि खुदाने तुमको थोड़े काफिर दिखलाये, और अगर उन्हें तुम को बहुतकर दिखाता तो तुम जरूर हिम्मत हार देते·· ···मगर खुदाने बचाया···········और जब तुम एक दूसरे से लड़मरे काफिरों को तुम मुसलमानों की आँखों मे थोड़ा कर दिखलाया ताकि खुदा को जो कुछ करना मन्जूर था पूरा कर दिखाये।

(हिं० कु० पा० १० सूरे अनफाल आ० ४४-४५)

"अपने आस पास के काफिरों लड़ो और चाहिये कि वह तुम से सख्ती मालूम करे।

(हिं० कु० पा० ११ सूरे तोवा आ० १२३)

"वेशक खुदा उन लोगों को प्यार करता है जो उसकी राह में कतार वाँध कर लड़ते हैं।

(हिं० कु० पा० २८ सूरे सफ आ० ४)

"तो जव (लड़ाई में) काफिरों से तुम्हारी मुठ भेड़ हो तो गर्दनें काटो यहाँतक कि जव खूब अच्छी तरह उनका जोर तोड़ लो तो मुस्कें कसलो । फिर पीछे या तो भलाई रखकर छोड़ दो या वदला लेकर यहाँतक कि (दुश्मन) लड़ाई के हथियार रखदे। ऐसा ही हुक्म है। और खुदा चाहता तो उनसे वदला लेलेता लेकिन यह इस लिये हुआ कि तुम में से एक को एक से आजमाये, और जो लोग खुदा की राह में मारे गये उन के कामों को खुदा अकारथ नहीं होने देगा।

(हि० कु० पा० २६ सूरे मुहम्मद आ० ४)

खुदा का द्वेषभाव

जो मनुष्य अल्लाह का दुश्मन हो और उस के फिरिश्तों का और उसके रसूलों का और जिव्रील का और मीकाईल (फिरिश्ते) का अल्लाह भी ऐसे विधर्मियों (काफिरों) का दुश्मन है।

(हिं० कु० पा० २ सूरे वक़र आ० ६८)

अल्लाह अन्याइयों को शिक्षा नहीं देता।

(हिं० कु० पा० २ सूरे वक़र आ० २५८)

अल्लाह काफिरों को उपदेश नहीं दिया करता।

(हिं० कु० पा०.२ सूरे बक़र आ० २६४)

अल्लाह अन्याइयों को हिदायत नहीं दिया करता।

(हिं० कु० पा० ३ सूरे आलइमरान आ० ८५)

मुसलमानों को चाहिये कि मुसलमानों को छोड़ कर काफिरों को अपना मित्र न बनावें और जो वैसा करेगा तो उससे अल्लाह से कोई सरोकार नहीं।

(हिं० कु० पा० ३ सूरे आलइमरान आ० २८)

और यह मंजूर था कि अल्लाह मुसलमानों को शुद्ध करदे और काफिरों का जोर तोड़ दे।

(हिं० कु० पा० ३ सूरे आलइमरान आ० १४१)

खुदाने उन लोगों के ऐसे खयालात इसलिए कर दिये हैं कि उनके दिलों में दुःख रहे और अल्लाह ही जिलाता और मारता है।

(हिं कु० पा० ४ सूरे आलइमरान आ० १५६)

खुदा काफिरों को मुसलमानों पर हरगिज जीत न देगा।······काफिर खुदा को धोखा देते हैं हालांकि खुदा उन्हीं को धोखा देरहा हैं।

(हिं० कु० पा० ५ सूरे निसा आ० १४१-१४२

किसी ईमानवाले को जायज्ञ नहीं कि ईमानवाले को मार डाले मगर भूलसे और जो ईमानवालेको भूलसे मारडाले तो एक ईमानवाला गुलाम छोड़ दे, और कत्ल हुए के वारिसों को खून

की कीमत दे·········और जो मुसलमान को जानबूझ कर मारडाले तो उसकी सजा नरक है जिसमें वह हमेशा रहेगा और उसपर खुदा का कोप होगा।

(हिं० कु० पा० ५ सूरे निसा आ० ६२-६३)

हमने उनमें दुश्मनी और ईर्षा कयामत के दिन तक के लिए लगादी।

(हिं० कु० पा० ६ सूरे मायदा आ० १४)

जो लोग अल्लाह और उसके पैगम्बर से लड़ते और फिसाद की गरज से मुल्क में दौड़े-दौड़े फिरते हैं उनकी सजा तो यही है कि मारडाले जायँ या उन को सूली दी जावे या उनके हाथ पाँव उल्टे काट दिये जायं या उनको देश निकाला दिया जाय।

(हिं० कु० पा० ६ सूरे मायदा आ० ३३)

जिसको खुदा सीधी राह दिखाना चाहता है उसके दिलको इस्लाम के लिए खोल देता है और जिस शख्स को भटकाना चाहता है उसके दिल को तंगकर देता है।

(हिं० कु० पा० ८ सूरे अनयाम आ० १२६)

अल्लाह नापाक को पास से अलग करे और नापाक को एक दूसरे के ऊपर रखकर उन सब का ढेर लगाय फिर उस ढेर को नरक में झोंक दे।

(हिं० कु० पा० ६ सूरे अनफाल आ० ३८)

जिनको खुदा राह दिखाये वही राह पाते हैं और जिनको वह गुम राह करे वही लोग घाटे में हैं। हमने बहुतेरे जिन्न

और मनुष्य नरक ही के लिए पैदा किए हैं।

(हिं० कु० पा० ६ सूरे आराफ आ० १८८-१८६)

इसी तरह हमने अपराधियों के दिल में ठठ्ठेवाजी डाली है।

(हिं० कु० पा० १४ सूरे हजर आ० १२)

क्या तुमने नहीं देखा कि हमने शैतानों को काफिरों पर छोड़ रखा है कि वह उनको उकसाते रहते हैं। तो (हे पैगम्वर) तुम इन (काफिरों) पर (सजा उतरने की) जल्दी न करो हम उनके लिये दिन गिन रहे हैं।

(हिं० कु० पा० १६ सूरे मरिमय आ० ८३-८४)

अनेक देव वाद का उच्छेद और एक देववादकी स्थापना

जव हमने याकूव के वेटों से पक्की प्रतिज्ञा ली कि खुदा के सिवा किसी की पूजा नहीं करेंगे।

(हिं० कु० पा० १ सूरे वकर आ० ८३)

अल्लाह की पूजा करो इसके सिवाय कोई तुम्हारा पूजित नहीं।

(हिं० कु० पा० ८ सूरे आराफ़ आ० ५६)

उन लोगों ने पूछा। क्या तुम हमारे पास इसलिए आये हो कि हम सिर्फ एक खुदा की पूजा करने लगें, जिनको हमारे वड़े पूजते रहे उनको छोड़ वैठें।

(हिं० कु० पा० ८ सूरे आराफ़ आ० ७०)

हे पालन कर्ता इस शहर (मक्का) को शान्ति की जगह बना और मुझको और मेरी सन्तान को मूर्ति पूजा से बचा । हे पालनकर्ता इन मूर्तियों ने बहुतेरे लोगों को भटकाया है ।

(हिं० कु० पा० १३ सूरे इब्राहीम आ० ३५-३६)

जब उनके पास उनके आगे से और उनके पीछे से पैगम्बर आये कि खुदाके सिवाय किसी की पूजा न करो । ....क्या उनको इतना न सूझा कि जिस अल्लाह ने उनको पैदा किया वह बल बूते में उनसे कहीं बढ़ चढ़ कर है । गरज वह लोग हमारी आयतों से इन्कार ही करते रहे । तो हमने उनपर बड़े जोर की आन्धी चलाई ताकि दुनिया कि जिन्दगी में उनको सजा का मजा चखायें और आखिरत की सजा में तो पूरी ख्वारी है और उसको मदद न मिलेगी ।

(हि० कु० पा २४ सूरे हमीम ;सिजदा आ० १४-१५-१६)

खुदा की इच्छा में पूर्ण सामर्थ्य

"और अल्लाह जिसे चाहे बे हिसाब रोजी दे ।

(हिं० कु० पा० २ सूरे बक़र आ० २१२)

"अल्लाह जिस की रोजी चाहता है बढ़ा देता है और जिस की चाहता है कम कर देता है ।

(हिं० कु० पा० १३ सूरे राद आ० २६)

"अल्लाह ही रङ्क और राव बनाता है ।

(हिं० कु०. पा० २ सूरे राद बकर आ० २४५)

"(हे पैगम्बर) तू कह कि खुदा मुल्क का मालिक है, जिसको चाहे राज्य दे और जिस से चाहे छीन ले और तू जिसको चाहे इज्जत दे और जिसे चाहे बर्वादी दे खैर तेरे ही हाथ में है। निस्सन्देह तू हरचीज पर सर्वशक्ति मान है। तूही रात को दिन में शामिल करदे और तू दिन को रात में शामिल करदे और तू वेजान से जानदार और जानदार से बेजान करदे और जिसको चाहे वे हिसाव रोजी दे।

(हिं० कु० पा० ३ सूरे आलइमरान आ० २५-२६)

"अल्लाह जिस को चाहता है वे हिसाव रोजी देता है।

(हिं० कु० पा० ३ सूरे आलइमरान आ० ३६)

"और वह चाहे तुम को मेट दे और दूसरों को ला वसाये और अल्लाह ऐसा करने पर शक्ति शाली है।

(हिं० कु० पा० ५ सूरे निसा० आ० १३३)

"(हे पैगम्बर) इन लोगों को सीधामार्ग पर लाना तुम्हारे आधीन नहीं वल्कि अल्लाह जिस को चाहता है सीधे मार्ग पर लाता है।

(हिं० कु० पा० ३ सूरे बकर आ० २७२)

"जो कुछ आस्मानों में और जो कुछ जमीन में हैं अल्लाह ही का है ......फिर जिसको चाहे वख्से और जिसको चाहे सजा दे, अल्लाह हर चीज पर शक्ति रखता है।

(हिं० कु० पा० ३ सूरे बकर आ० २८४)

"और आस्मान व जमीन का अख्तियार अल्लाह ही को

है और अल्लाह हर चीज पर शक्ति रखता है।

(हिं० कु० पा० ४ सूरे आलइमरान आ० १८६)

"और कोई शख्स बे हुक्म खुदा मर नहीं सकता।

(हिं० कु० पा० ४ सूरे आलइमरान आ १४५)

"हे पैगम्बर तुम्हारा पालनकर्त्ता चाहता तो जितने आदमी जमीन की सतहमें हैं सब के सब ईमान ले आते।......और किसी शख्स के अधिकार में नहीं है कि बिना हुक्म खुदा के ईमान ले आवे।

(हिं० कु० पा० ११ सूरे यूनिस आ० ६६-१००)

"और हम ही जिलाते और हम ही मारते हैं और हम ही उनके धन दौलत के वारिस होंगे।

(हिं० कु० पा १४ सूरे हजर आ० २३)

"हम को जब किसी गाँव का मार डालना मंजूर होता है हम उसके खुश हाल लोगों को आज्ञा देते हैं। फिर वह उसमें बे हुक्मी करते हैं।..........फिर हम उस बस्ती को मार कर तबाह कर देते हैं। और नूहके बाद हमने कितनी बस्तियों को मार डाला।

(हिं० कु० पा १५ सूरे बनी इसराईल आ० १६-१७

"और जो शख्स तौबा करे और ईमान लाये और नेक काम करे फिर सच्ची राह पर (कायम) रहे तो हम उसके क्षमा करने वाले हैं।'

(हिं० कु० पा १६ सूरे ताहा आ० ८२)

"क्या इनको मालूम नहीं कि अल्लाह जिसकी रोजी चाहता है बढ़ा देता है और जिसको चाहता है नपी तुली कर देता है। इसमें ईमान वालों के लिये निशानियां हैं। (हे पैगम्बर इनसे) कहदो कि हे हमारे बन्दो जिन्हों ने अपनी जानों पर जियादती की अल्लाह की मिहर्बानी से नाउम्मेद हो जाओ अल्लाह तमाम पापों को क्षमा करदेता है। वह बख्शने वाला मिहर्बान है।

(हिं० कु० पा० २४ सूरे जुमुर आ० ५२-५३)

"आस्मान जमीन की कुंजियां उसी के पास हैं जिस की रोजी चाहता है बढ़ा देता है (जिसकी चाहता है) नपी तुली कर देता है।......आस्मान और जमीन का राज्य अल्लाह ही का है जो चाहे पैदा करे जिसे चाहे बेटियां दे और और जिसे चाहे बेटे दे। या बेटे और बेटियां (मिलाकर) उनको दोनों तरह की औलाद दे। और जिस को चाहे बांझ करे......किसी आदमी की ताकत नहीं कि खुदा से बातें करे मगर आकाशवाणी से या पर्दे के पीछे से या किसी फिरिश्ते को उनके पास भेज दे।

(हिं० कु० पा० २५ सूरे शोरा आ० १२-४६-५०-५१)

———

पौराणिक, मुस्लिम और क्रिश्चियन सृष्टि की समालोचना

दो और दो चार अथवा चार और तीन सात होते हैं, यह बात किसी भी देश या किसी भी काल में एक रूप ही मानी हुई है, क्योंकि गणित का सिद्धांत सत्य-यथार्थ निश्चयरूप माना हुआ है। उसी प्रकार सृष्टिकर्त्ता ईश्वर है यह सिद्धांत सत्य अर्थात् यथार्थ रूप से निश्चित होता तो उसका वर्णन किसी भी काल में, किसी भी देश में या किसी भी शास्त्र में एक रूप होता। सृष्टि कर्त्ता ईश्वर के सम्बन्ध में केवल वेदों में ही कितने मत भेद हैं यह हम देखचुके हैं। अब पुरान, कुरान और बाईबल, जिनको मानने वाले करोड़ों मनुष्य हैं अर्थात् पुराणों को मानने वाले करोड़ों हिन्दु हैं, कुरान को मानने वाले करोड़ों मुसलमान और बाईबल को मानने वाले करोड़ों क्रिश्चियन हैं, इनकी सृष्टिवाद के विषय में क्या मान्यता है, तुलनात्मक दृष्टि से उसका विचार किया जाता है।

ईश्वर एक या अनेक ?

कुरान में दुनिया का मालिक एक ही खुदा माना गया है जो जगद् व्यापक, निरञ्जन, निराकार है। एक होते हुए भी उसके फिरस्ते अनेक हैं। बाईबल में एक यहोवा ईश्वर रूप दर्साया गया है किन्तु स्वर्ग में उसकी सात आत्माएं और चौवीस सभासद माने गये हैं। पुराणों में प्रायः हर एक पुराण का ईश्वर अलग अलग माना गया है। जैसे कि ब्रह्म-वैवर्त्तपुराण का ईश्वर गोलोकवासी कृष्ण, मार्कण्डेय पुराण

का मुख्य ईश्वर ब्रह्मा, शिव पुराण का मुख्य ईश्वर शिव और देवीभागवत में सृष्टिकर्त्री प्रकृतिदेवी मुख्य मानी गई है। साम्ब पुराण में सृष्टिकर्त्ता सूर्य, कालिका पुराण में ब्रह्म और आत्मपुराण में आत्मा ही ईश्वर-सृष्टि कर्त्ता रूप से दर्साया गया है। इन में भी कहीं-कहीं तो आदि पुरुष रूप में ब्रह्म दर्साया गया है और ब्रह्मा, विष्णु, सूर्य, प्रकृतिदेवी आदि उसी के आविष्कार या अवतार हैं, जरा गहरा विचार करने से ऐसा मालूम पड़ता है। वस्तुतः अवतार वाद का विकास करने के लिए ही पुराणों की रचना की गई है ऐसा कहें तो भी असत्य न होगा। इन अवतारों की कुरान में बताये हुए खुदा के फिरस्तों के साथ और बाईबल में बताये हुए यहोवा को सात आत्मा के साथ तुलना करें तो लगभग तीनों का समन्वय एक समान हो जाता है। जैनशास्त्र में बताये हुए देवों और इन्द्रों के साथ भी इन अवतारों की एकवाक्यता हो सकती है। ब्रह्म वैवर्त्त पुराण में गोलोकवासी कृष्ण के मुख से वीणा पुस्तक धारिणी सरस्वती, मन से महालक्ष्मी, बुद्धि से अस्त्र शस्त्र धारिणी मूल प्रकृति आदि प्रकट होने की बात लिखी है उसे जैन शास्त्र में प्रदर्शित देवता की वैक्रिय शक्ति का प्रभाव मान लें तो सब बातें ठीक घटित हो जाती हैं। जैन शास्त्र में तो कृष्ण महाराज को वैक्रिय शक्तियुक्त माना गया है। वैक्रियशक्ति से हजारों, लाखों या करोड़ों गोपियाँ बनानी हों तो बना सकते हैं। मुखसे सरस्वती और मन से महालक्ष्मी देवी प्रकट करनी हो तो की जा सकती हैं, विषय क्रीड़ा करनी हो तो वह भी की जा सकती है और रासलीला भी रची जा सकती है। यह सब प्रक्रिया देवकोटि की है, ईश्वर कोटि की नहीं। विषय-क्रीड़ा

करने वाले और रासलीला रचने वाले को भी ईश्वर कोटि में गिनना उसके भक्तों की अंधश्रद्धा के सिवाय अन्य कुछ नहीं है। खुदा और यहोवा को ब्रह्म के समान निरञ्जन निराकार जगद्व्यापक मानकर सर्वसामर्थ्यवान् मानें वहाँ तक तो वे ईश्वर कोटि में रह सकते हैं—किन्तु जब उन्हें सृष्टिकार्य में प्रवृत्त करते हैं—एक वर्ग के उद्धारक और दूसरे के घातक, भक्तों के रागी और प्रतिपक्षियों के द्वेषी, युद्ध की प्रेरणा करने वाले या उपदेश करनेवाले, भक्तों की वृत्ति में संकुचितता पैदा करनेवाले या पशुबलि चाहनेवाले मानते हैं तब खुदा या यहोवा ईश्वर कोटि में नहीं रह सकते किन्तु स्पष्टतया वे देवों में भी उच्च कोटि के देव न रहकर हल्की जाति के देवों की कोटि में आजाते हैं। 'देवाणं मनसाणं' इस जैनागम प्रतिपादित वाक्यानुसार देव मन में जो धारते हैं वह कार्यरूप में परिणत कर सकते हैं अर्थात् मन में इच्छा हुई कि शीघ्र ही वह कार्य हो जाता है। इस हिसाब से बाईबल और कुरान में जो यह कथन हैं कि ६ दिन तक दृष्टि बनाई और सातवें दिन आराम किया वह जैन दृष्टि से अनुचित नहीं है। इतनाही नहीं किन्तु जैन दृष्टि से छः दिन तो क्या, छः घण्टे या छः मिनिट या छः सेकण्ड में भी देव सृष्टि बना सकते हैं यह देवता की शक्ति है। अतः खुदा यहोबा या इनके फिरस्तों को देव कोटि में गिने तब ऊपर की बात ठीक घटित हो जाती है। उन्हें ईश्वर कोटि में गिनकर उनके द्वारा युद्ध का उपदेश कराकर रागद्वेष का कार्य कराना, निरी विचार शून्यता या अज्ञता के सिवाय अन्य क्या हो सकता है? सुज्ञेषु किं बहुना?

पारसी-सृष्टि

अहुरमजद के द्वारा पैदा की हुई वस्तुएँ

"अए दादार, शुक्रतारा के तें मने नेक तथा भली दीन वालो पैदा कीधो, अने तें बुद्धि तथा अक्कल तथा आसाएश तथा आंखनी रोशनी तथा हाथ ने पग तथा स्वादिष्ट खोराक तथा सुशोभित पोषाक अने तमाम नेकी मारी खाहेश मुजब आप्युं ?

त० खो० अ० दादार अहुर मजदनी नमाज

'अए दादार, तारी सेतायश करूं छूं कारण के आ तारी पैदायश हूँ जोऊं छूं—जेम के बुलन्द आस्मान, तपतो आफताब, गोस्पन्द नी तोखम धरांवनार माहताब, लाल बलतो प्रकाशित आतश, आबादी थी भरपूर खजाना, तथा दोलत साथनुं पादशाही खोरेह, फलद्रुप जमीन, निर्मल पाणी खीलतां ओरवर तथा झाड़पान, कपड़ां, सारा चहेरानी खोरेहमन्द ताबेदार स्त्री.........मीठी जबान, आनन्दी मित्रो, पाडोशीओ, भाइयो अने सौथी नजदीकनाओ, खुशाली भरेलुं खाणुं (आदि)

'अए दादार ? तारी सेपास गुजारी करूं छुं के भलो जमानो आव्यो, हुँ शुक्र करूं छुं के मुश्केली नो जमानो नथी आवी पहोंच्यो ! सृष्टि नी शरूआतथी ते आज दिन सुधी,

तथा आज दिन थी ते कयामत अने तने पसीन सुधी आस्मान नी हैयाती ने माटे, जमीन नी पहोलाई, तथा नदी नी लम्बाई, तथा खुरशेद नी बुलन्दी, पाणीओ नु वहेवु, झाड़ पाननु उगवु, आफताव नु प्रकाशवु, आस्मान उपरना झलकता माहताव, तथा सेतारा ए वधांने माटे हुँ शुक्र गुजारी करू छु?

अए दादार होरमजद? मनश्नी थी शुक्र गुजारू छु, गवश्नीथी शुक्र करू छु, कुनश्नीथी शुक्र गुजारू छु? अए दादार तारा शुकराना के तें मानवीनी ओलाद नो पेदा कीधो; अने तें मने सांभलवानो, बोलवानी तथा जोवानी शक्तिओ आपी, वली तें मने स्वतन्त्र पेदा कीधो, नहि के गुलाम तरी के अने तें मने मरद तरीके पैदा कीधो, नहि के औरत तरिके, अने तें लाज धरीने खानार तरीने पेदा कीधो, नहि के बोलतां चालतां।

त० खो० अ० दादार अहुरमजदनी नमाज

ईश्वर ने मनुष्य को सर्वश्रेष्ठ बनाया है

'तेणे तमाम पैदायशोमां इन्सानने वाचा, डहापण अने अक्कल वत्ती ने चढ़ता दरज्जानु बनाव्यु छे; जेथी ते देवों नी सामेथई तेओथी दूर रहीश के अने खलकत ने सारीराह ऊपर चलावे।

त० खो० अ० दोआनाम् सेतायश्ने

ईश्वर ने ही सब बनाया है।

.........जे पैदायशोनो पेदा करनार अने अन्त लावनार छे.....तेणे यो तानी जात शक्ति थी तथा दानाई थी चढ़ता

दरज्जाना छ अमशास्पन्दो, रोशन वहेशत, फरतु आस्मान, खोरशेद, माहताव, सेतारा, पवन, हवा, पाणी, जमीन, झाड़-पान, गोसपन्द, धातु अने माणसो ने पेदा कर्या छे...... ।

त० खो० अ० दोआनाम् सेतायशने

तेणे अशोलोकोनां फरोहरो पेदा कीधां, जेओ आस्मान, पाणी, झाड़पान, पांच जातना गोस्पन्दो तथा गर्भस्थान नी अन्दर बचाओनी जालवणी करे छेः जेओनी मदद थी खोरशेद, चन्द्र तथा सेताराओ पोताना राह ऊपर चाले छेः ।

त० खो० अ० फरवरदीन रोजनी सेतायश

ईश्वर की आज्ञा से चन्द्र बढ़ता है और घटता है

माहताव दादार अहुरमझदना हुकम थीं पन्दर दहाड़ा वधे छे अने पन्दर दहाड़ा घटे छे ।

त० खो० अ० माहबोख्तार नीआएश

तमान न्यामतो नो बच्चनार अहुरमझद छे एवो हूँ एकरार करूं छुं ।

त० खो० अ० जसमे अवंवहे मजद

जमयादयझद धरती ऊपर मवक्कल छे; अने ते धरती ऊपर दादार अहुर मजदे बावीस सौ चमालीस २२४४ पहाड़ो पैदा कीधा ।

त० खो० अ० जम्याद यश्त

नूरमन्द, खोरेहमंद, सर्वज्ञ, साहेबो नो साहेब, पादशाहो नो पादशाह, कुल खलकतनो पेदाकरनार, रोजी रजक आपनार,

शक्तिवान्, अनन्त बक्षेस आपनार रहेमवाला, डहापण वाला, पाक पेदाकरनार, दादार अहुरमज्जदनी हुँ सेतायश करू छु ।

त० खो० अ० खोरशेद नीआएश

अहुनवर तनने बचावे छे, वामदादने हुँ नमस्कार करू छुं, दुष्ट अहेरेमनने, एशमदेव ने तथा तमाम बुरीशक्तिओ ने तोड़वा ने माटे अहुरमज्द ने हुँ नमाज अर्पण करू छुं ।

त० खो० अ० होशबाम

जो मजद ! मारी मददेआव ? हुं एकज खुदाने माननारो छुं, एकज खुदाने माननारो जरथोस्ती धर्म पालनारो छुं ।

त० खो० अ० जसमेअवंघहे मज्द

अहुरमज्द नो पेदा कीधेलो वहेरामयजद मीनो यझदोमां सौथी फतेहमन्द छे……अने कोई बी संकटनी वखते तेनी मदद चाहे छे, तेनु संकट ते टालेछे, अने तेने फतेह आपवा माटे ते जुदे जुदे वखते जुदा जुदा, रूपमां आवे छे ।

१–खुशनुमा पवनना रूपमां उड़तो
२–गोधाना रूपमां
३–घोड़ाना रूपमां
४–ऊंटना रूप मां
५–भुंड ना रूप मां
६–भरजुवान माणसनारूपनां
७–वारघ्नहपक्षी ना रूपमां
८–मेंढ़ाना रूप मां
९–बकरा ना रूप मां
१०–पहेलवान ना रूप मां

त० खो० अ वहेराम यश्त

बहेराम यजद एक जोरावर भुण्डना रूपमां तेनी पडखे रहीने देवोनो नाश करवा मां तेओने मदद करे छे।

त० खो० अ० मेहेरयश्त

तेशतरतीर नी आराधना

सेवटे कहे छे के तेशतर तीरनी आराधना जे देश मां थाय छे, त्या दुःख, दरद, संकट अने दुश्मनो नो धसारो कांइ वी खराबी करी शकतो नथी। वली वधु जणाव्यु छे के गुनेगार, वद ओरत अने दीन दुश्मन तेशतर तीरनी सेतायशमां कीधेली क्रियानी चीजों ने अडकी शके नहीं अगर जो क्रियानी चीजो उपयोग मां लेवा पामेतो ते जग्याए संकट आवी पड़े, दुश्मन धसारो लावे, अने लोकोनो मरो थाय।

त० खो० आ० तीरयश्त

सूर्य की महिमा

खोरशेदनां उगवाथी कुल जमीन पाक थाय छे, तमाम वहेतां अने स्थिर पाणी पाक थाय छे, अने अहुर मजदनी तमाम पैदायश पाक थाय छे.........ए सबब ने लीधे जे कोई शखस खोरशेदनी आराधना करेछे ते गोया अहुरमजद अने अमशास्पन्दो नी आराधना करे छे, अने मीनो यजदों नो खुशनुद करे छे।

त० खो० आ० खोरशेद नीआएश

........रात तेमज पूनम ना चन्द्र ने हुं नमस्कार करूं छुं, अमशास्पन्दो माहतावनी रोशनी ने टकावी राखे छे,

अने ते रोशनी पृथवी ऊपर फे लावे छे......

त० खो० आ० माह्बोख्तारनीआएश

अए अहुरमजद ना सौथी महान आतश यजद ? .... मारा घर मां कयामतना वखत सुधी तुं वलतो अने प्रकाशतो रहेजे, अए आतश ! मने आसानी, लाम्बी जिन्दगी, पुर सुख, मोटाई, डहापण......फरजन्द बखश ।

त० खो० अ० आतश नीआएश

ए अरदवीसुर नुं पाणी मरदोना खुनने स्वच्छ करे छे, ओरतो ने जनम आपती वखते सहेलाई करी आपे छे, माताओ ना गर्भ स्थान ने पाक करे छे, अने तेओना थान मां वखत सर दूध मूके छे। एनुं पाणी बीजा पाणीओ थी चड़तुं गणवामां आव्युं छे एवी विख्यात पामेली अरदवीसुरनी हुं सेतायश करूं छुं ।

त० खो० अ० अरदवीसुर नीआएश

दुन्याना लोको ने माटे बन्दगी सारी छे, सर्वोत्तम छे, ते पापीओनी सामे आपणो बचाव करेछे आपणी बन्दगी पापीओना हाथ पग अने मोढ़ाने बेड़ी समान बांधी लेछे ।

त० खो० अ० सरोशयश्त हादोख्त

अशो जरथोश्ते अहुरमजद ने पुछयुं के ओ हाडमन्द दुनियाना पाक पेदा करनार ! कई माथ्रवाणी घणीज हिम्मत आपनार, घणीज फतेहमन्द, वेरीने मारनार, तनदरोस्ती, आपनार, अने पापी दुःख पहोंचाडनारा-

ओना दुःख ने टालनार छे ? त्यारे अहुरमजदे जमाव आप्यो के मारा अने अमशास्पन्दो नां नामो घणाज हिम्मत आपनार, फतेहमन्द, वेरी ने मारनार, तन्दरोस्ती आपनार, अने पापीओ ना दुखोने टालनार छे।

त० खो० अ० होरमजद यश्त

अशीषबन्ध नारी फरेश्तो छे, ते दोलत, खजाना अने सुख ऊपर मवक्कल छे........एने अहुर मजदनी दीकरी, अमशास्पन्दोनी बेहेन, असपन्दार मद अमशास्पन्द (नारी फरेश्ता) नी दीकरी अने महेर यजद, शरोश यजद, अने रश्नुयजदनी बेहेन अनेभली माजदयस्नी दीन नी बेहेन करीछे।

त० खो० अ० अशीश बंध यश्त

भला वृद्धि करनार, महेरवान दादारनी हुं सेपास गुजारी करूं छु, के जेणे तुं शहेरेवर ने पेदाकोधो, जे गेती नी दुनियां मां धातुओ ऊपर मवक्कल छे। शहेरेवरनी मारफते सोना तथा रूपांनो, तेमज जमीन खेडवाने तथा दुश्मनने मारवाने माटे ना हथियारो ने माटे वपरातां लोह खण्ड नो वधारो थाय छे।

त० खो अ० शहेरेवर रोजनी सेतायश

आगला बखत मां हुं जेवी कांई होऊं, हवे पछीना जमाना मां हुं जेवी कांई थाऊं, ईरान ने लगतो होऊं, के बीजा कशाने लगतो होऊं तेमां तुं गुवाद मारी यारीए पहोच।

त० खो० अ० गुवादरोजनी सेतायश

कायम जमाना सुधी ते सेतायश करवा लायक छे, तेने थी खोरेह रोशनी तथा आशानीुं मूल छे। तेने थी बे किनार

जमानो छे, ते पेदायश नो पेदा करनार, रक्षण करवार, दुख भी बचावनार अशो तेमज दरवन्द ने पवित्र करणार, तेओने हमेश सुधी खुशाल राखनार, तेओनी करणे प्रमाणी तेओने बदलो आपनार छे........तारी आशा तथा मरजीने लीधे आस्मान जमीन अने हरेक पेदायश शणगार पामेली छे।

त० खो० अ० दएप महेररोजनी सेतायश

आ दुनिया मां व्यवस्थाने माटे, तुं सरोश ने सौ थी खूब-सूरत, सौ थी घणा बलवालो, तथा दरुज ने मारनार पैदा कर्यो छे। तारां प्रताप जोर तथा खोरेहने लीधे इनसान ना तन तथा रवानती पासवानी थाय छे।

त० खो० अ० सरोश रोजनी सेतायश

अशो शरोप यजद मुकद्देश नरनारीओनो बचाव करे छे। ते ऐशम याने गुस्सा ना देव ने मारी हटाड़े छे।

त० खो० अ० शरोप यश्त वड़ीनी नीरंग

ईरान नो पक्षपात अने श्राप

ईरानी नहीं तेवा बद पादशाहो हमेशां हारेलां तथा मार खाधेला थई ने हेठे पड़ जो।

त० खो० अ० नामे-खावर

ते खोरेहनी बरकत थी अहुरमजदे पुष्कल नूरमन्द आबादी करनारी पेदायशो बनावी अने जेने लीधे रस्ताखेजने बखते गुजारेला पाछा सजीवन थशे। जीन्दगी अने अमरपणुं आवशे

अने दुनिया तरशे ताजगी वाली थशे। ते वखते दुनियां ने हानि पहोंचाड़वाने माटे दरूज पोतानी कोशेष मां निष्फल थशे।

त० खो० अ० जम्याद यश्त

अशो जरथोश्ते होरमज्द ने पूछ्यु के मने तु जणाव के रवान ने शाथी छुटकारो मलीशके ?

होरमज्दे जवाव आप्यो के……पहेलु वहेशत मां जवानु मेलववुंमाटे हुं होरमज्द तथा अमशास्पन्दों नी हस्ती अने वहेश्त तथा दोजख तथा कयामत तथा तन पसीन तथा चिन् वद्पुल उपरना हिसावविषे तथा अहेरेमन, देवो तथा दोजखनो मार खाधेल दरवन्दोनी नीस्ती बाबे बेगुमान रहेवु अने बीजु रास्तराह अख्तार करवो, त्रीजु शुक्रगुजारी करवी, चोथु मनशनी थी शुरुआत करवी, पांचमु ए जे पोताने लायक नहीं होय ते कोई बी शख्सना सम्बन्ध मां करवु नहीं।

त० खो० अ० बनाम यज़द

अहुरमज्द नो डर राखी ने काम कर जो, नेक अने रास्तीनी राहनां काम करवानु चालु राखजो, जेथी तमारू रवान मुक्ति पामे।

त० खो० अ० बनामे यज़द

सर्व भला विचारो, भला सखुनो तथा भला कामो सारी वुद्धि थी कराय छे अने ते आपण ने वहेशत तरफ लई जाय छे, सर्व भुंडा विचारो, तथा भुंडा सखुनो तथा भुंडा कामो

सद्बुद्धि थी करातां नथी, अने ते आपण ने दोज़ख तरफ लई जाय छे।

त० खो० अ० दोआ वीस्प हुमत

अने जे कोई मुसाफरीए जाय छे तेणे पोतानुं खावानुं लई जवुं जोइये, तेज प्रमाणे सघलांओए गेती नी दुनिया मां थी मीनोई दुनियाने माटे नो आरास्ता कीधेलो हदीओ लई जवो जोइए के जेथी रवान हलाक थाय नहीं।

त० खो० अ० बनासे यज़द

समालोचना (पारसी सृष्टि)

हिन्दुओं के अवतार, मुस्लिम खुदा के फरिश्ता, क्रिश्चियन यहोवा के सभासद, और पारसी अहुरमजद के अमशास्पन्द लगभग एक कक्षा में रहुनेवाले अथवा एक स्कूल के विद्यार्थियों के समान सदृशता धारण करने वाले हैं। जैनों के इन्द्र के लोकपालों के साथ इनकी समानता की जावे तो कितने ही अंशों में हो सकती है। सृष्टि के सम्बन्ध में चारों की कार्यप्रणाली में बहुत अन्तर है। अवतार तो स्वयं अपने आप गृह-स्वामी की भांति सृष्टि का कार्य करते हैं। खुदा और यहोवा कितने ही स्थलों में स्वयं कार्य करते हैं और कितने ही स्थलों में फिरश्ताओं के द्वारा आज्ञामात्र से कार्य करवाते हैं। जब कि अहूरमजद ने खुद पृथ्वी जलादि को आज्ञा कहीं भी नहीं की है किन्तु अमशास्पन्दों को उत्पन्न किया और अमुक अमुक कार्यों का अधिकार उन्हें सौंप दिया, उसके अनुसार अमशास्पन्द ही सृष्टि कार्य के अधिष्ठाता बने हैं। कुरान और बाइबल में जिस

प्रकार खुदा और यहोवा ने बारम्बार मनुष्य समाज के सम्पर्क में आकर अपनी शक्ति का परिचय कराने में आत्मप्रशंसा एक को बचाने की दूसरे को मारने की, शत्रु मित्रभाव फैलाने की, बलि लेने की, लड़ाई का मार्ग बतलाने की लौकिक बातें जैसी की हैं वैसी अहूरमजद के द्वारा अपने मुख से कहीं पर कही गई सुनने में नहीं आती है। किन्तु अहुरमजद के भक्तों ने भक्तिवश स्तुति करते हुए अहुरमजद की महिमा का गान किया है तथा अपने को और संसार को उत्पन्न करने का वर्णन किया है। मानवीय स्वार्थ वृत्ति को तृप्त करने के लिए अमशास्पन्दों के सिवा चन्द्र, सूर्य, नदी, अग्नि आदि की स्तुति करते हुए किसी के पास से सोना चांदी तो किसी के पास से लड़ने के हथियार किसी के पास से सहूलियत, दीर्घायु मुटाई, चातुर्य और सन्तान आदि मांगे हैं। पुस्तक में केवल मांगनी ही मांगनी की गई है, किसी के द्वारा दिया गया उत्तर तो देखने में नहीं आता है।

अलबत्ता अरहुमजद के भक्तों की यह विशेषता है कि कुरान और बाईबल की तरह लड़ाई करवाने का उपदेश किसी उत्तर में अहुरमजद के मुख से या स्तुति करने वालों के मुख से नहीं दिया गया। पशुओं की बलि और मनुष्यों की हत्या भी नहीं बतलाई गई है। ये सब बातें अहुरमजद की सात्त्विक वृत्ति को सिद्ध करती हैं।

अहुरमजद के भक्त स्वर्ग नरक और मुक्ति के साधनों के विषय में भी अहुरमजद से प्रश्न पूछकर खुलासा प्राप्त करना नहीं भूले। ईश्वर का भय रखकर भला आचरण करने और सन्मार्ग में चलने की सूचना करके मुक्ति का मार्ग भी दिखाया

हैं। कर्मों का नियम भी स्पष्टता से समझाया है। भला करोगे तो स्वर्ग मिलेगा और बुरा करोगे तो नरक प्राप्त होगा यह बतलाकर 'जैसी करनी पार उतरनी' यह कर्म का नियम समझाकर अहुरमजद ने भक्तों को अपनी कृपा पर ही आश्रित नहीं रखा है। जिस प्रकार खुदाने और ईशु ने तौबा करने वाले को क्षमा प्रदान की है और सामना करने वाले को अधिक से अधिक दण्ड देकर रागद्वेष की तीव्रता के साथ कर्म के नियम का उच्छेद कर दिखाया है, वैसे अहुर मजद ने 'कर्म के नियम का भंग कर अपनी कृपा से सब सुखी रहेंगे और कोप से सर्वथा अनिष्ट पावेंगे' ऐसा भय और लालच बतलाकर रागद्वेप की प्रवृत्ति नहीं बढ़ाई है। इतना अवश्य किया है कि एक जगह ईरान के बादशाह की प्रशंसा और ईरान का पक्षपात दिखलाया है कि ईरान के बादशाह के सिवा दूसरे बादशाह पराजित और मारखाये हुए होकर अधः पतन को प्राप्त हों ? इन वाक्यों से ईश्वर को पक्षपाती बनाने की अनिष्ट वाणी उच्चारण की गई है, परन्तु ऐसे अधिक वाक्य नहीं हैं। परभव के लिए कलेवा बाँधने की बात कह कर जैनों के साथ एकता दर्शाई गई है। क्योंकि नेकी से परलोक सुधरता है और बदी से बिगड़ता है, यह जैनधर्म का अटल सिद्धान्त है। सुज्ञेषु किं बहुना ?

———

वैज्ञानिक सृष्टि

विज्ञान ने यन्त्रों के द्वारा प्रायः प्रत्यक्ष और प्रासंगिक अनुमान प्रमाण से दृष्टिगोचर होने वाली सृष्टि के पृथक पृथक अंगों की जो शोध की है उसके वर्णन से ज्ञात हो जाता है कि यह जगत् ईश्वर कृत है या स्वयं बना है। यहां पाठकों के समक्ष गंगा विज्ञानाङ्क के कुछ उद्धरणों का गुजराती अनुवाद करके रखा जाता है जिससे पाठक स्वयं विचारणा करके सत्यासत्य का निर्णय करलें।

हिमालय की जन्म कथा

हिमालय पर्वत वस्तुतः अनेक समानान्तर पर्वत श्रेणियों का समूह है। वे श्रेणियां एक-एकके आगेपीछे लग रही हैं। पश्चिम से पूर्व की तरफ फैली हुई हैं...। इन श्रेणियों का ढुलाव दक्षिण अर्थात् गंगा और सिन्धु के मैदान की तरफ बहुत अधिक है उत्तर में तिब्बत की तरफ बहुत कम है। बंगाल और संयुक्त प्रान्त के मैदानों से कई पर्वतश्रेणियाँ बहुत ऊंची हो गई हैं.........पश्चिम में पंजाब की तरफ पहाड़ों की ऊंचाई क्रमशः बढ़ी हुई है। उस तरफ से हिमाच्छादित पर्वतश्रेणियाँ प्रायः १०० माईल दूर हैं और वहाँ से श्रेणियाँ दिखाई भी नही देतीं।

उक्त श्रेणियां तीन भाग में विभक्त हैं—

(१) "महान् हिमालय" अथवा केन्द्रस्थ पर्वत श्रेणियाँ जिनकी ऊंचाई बीस हजार फूट अथवा इससे भी कुछ अधिक

है। इन श्रेणियों में ही माउण्ट एवेरस्ट आदि उच्च शिखर भी हैं जिन में से मुख्य मुख्य नीचे लिखे अनुसार हैं—

माउण्ट (एवेरस्ट गौरीशंकर)	नेपाल में	२६००२	फीट
किञ्चन चंगा...	"	२८२५०	"
धवल गिरी	"	२६८००	"
नंगा पर्वत	काशमीर में	२६६००	"
गशेर ब्रुम	कराकोरम में	२६४७०	"
गोसाईं थान	कुमायु में	२६६५०	"
नन्दा देवी	"	२५६५०	"
राका पोशी	कैलास में	२५५५०	"

(२) "मध्यवर्ती हिमालय" इसकी ऊंचाई प्रायः बारह हज़ार फीट से पन्द्रह हज़ार फीट के बीच में है। इसकी पोलाई प्रायः ५० मील है।

(३) "बाह्य हिमालय" अथवा शिवालिक श्रेणियां, ये मैदान और मध्यवर्ती हिमालय की श्रेणियों के बीच में हैं। इसकी ऊंचाई करीब तीन हजार से सात हजार फीट के बीच में है। इसकी पोलाई पाँच से तीस मील तक है। मसूरी तथा नैनीताल इन श्रेणियों में ही है।

वैज्ञानिक अन्वेषण से मालूम हुआ है कि करीब साढ़े तीन करोड़ वर्ष पहले इस स्थान पर महासागर था। वैज्ञानिकों ने सिद्ध किया है कि हिमालय के प्रत्येक पत्थर और कन-कन में सामुद्रिक उत्पत्ति की छाप लगी हुई है। इसकी शिलाएँ अस्त-

व्यस्त नहीं हैं किन्तु स्तर पर स्तर रूप से जमी हुई शिलाएँ, पत्थर, बालुका, मिट्टी या चूने के पत्थर के कनों से बनी हुई हों ऐसा मालूम पड़ता है। इन शिलाओं का प्रस्तरित होना और छोटे-छोटे कणों से बनना सिद्ध करते हैं कि इनकी उत्पत्ति किसी जलाशय के पुट में हुई है।

हिमालय की उत्पत्ति कैसे हुई ?

यह साधारण अनुभव की बात है कि नदियाँ और नाले अपने प्रवाह के साथ मिट्टी, बालुका और कंकड़ बहा ले जाते हैं। मैदानों में बहती हुई नदी ज्यों-ज्यों समुद्र के पास पहुँचती है त्यों-त्यों उसका पानी गंदला होता जाता है। हरद्वार में गंगाजल जितना निर्मल है उतना काशी में नहीं है और काशी में जितना है उतना पटना में नहीं है। नाले और नदियां पृथ्वी को काट-काटकर अपना मार्ग बनाती जाती हैं। बड़ी-बड़ी नदियाँ तो कल-कल शब्द करती हुई जल के प्रबल वेग से बड़ी-बड़ी शिलाओं को भी काट डालती हैं। पहाड़ों से टूटे हुए पत्थर जल प्रवाह में रगड़ खाते-खाते गोलमोल होकर धीरे-धीरे छोटे-छोटे कंकड़ बन जाते हैं। पहाड़ से उतरते हुए वेग प्रबल होता है, मैदान में वेग कुछ कम होता है. तब कंकड़ आदि रुक जाते हैं किन्तु बालुका और मिट्टी तो ठेठ समुद्र तक पहुँचती हैं और समुद्र में मिट्टी और रेती के स्तर जमते जाते हैं और उनसे शिलाओं के स्तर जमने पर पहाड़ बनते जाते हैं, इस प्रकार पर्वतों की गुप्त रूप से सृष्टि होती है। पर्वत बनने में लाखों करोड़ों वर्ष व्यतीत होते हैं। करोड़ों वर्षों में जब भूकम्प आदि अनेक कारणों से समुद्र का पानी एक स्थान छोड़कर

अन्य स्थान पर जाता है तब पर्वत प्रकट होते हैं। इस प्रकार हिमालय की सृष्टि महासागर में हुई हो ऐसा विज्ञान मानता है। इसका दूसरा प्रत्यक्ष प्रमाण यह भी है कि इसकी चट्टानों में जलचर प्राणियों के अवशेष मिलते हैं। उक्त प्रमाणों से हिमालय की उत्पत्ति महासागर में हुई मानी जाती है। वैज्ञानिकों ने इसका नाम 'टेथिस' रक्खा है! हिमालय के पूर्व भारत का देशविभाग आजकल से विभिन्न था। उस वक्त भारत का दक्षिणी प्रायद्वीप पूर्व में आस्ट्रेलिया और पश्चिम में अफ्रिका के साथ लगा हुआ था। आजकल बंगाल की खाड़ी, अरेबियन सागर तथा हिंद महासागर जहाँ हैं वहाँ पहले महादेश था। इस प्राचीन महादेश को "गोंण्डवाना लैण्ड" कहते हैं। इस प्रकार टेथिस महासागर के उत्तर में "अंगारा लैण्ड" और उत्तर पश्चिम में 'आर्कटिक' महादेश था ऐसा कई प्रमाणों से माना जाता है।

हिमालय पर्वत की शिलाएँ तथा प्राणि-अवशेषों के अध्ययन से ज्ञात होता है कि ये सब श्रेणियाँ एक साथ उठकर इतनी ऊंची नहीं हुई हैं। यह उत्थान प्रायः तीन अवस्थाओं में हुआ है—

प्रथम उत्थान "मध्यईयोसीन[1]" काल विभाग में मध्यवर्ती हिमालय वाला भाग समुद्र से बाहर निकला और दस बारह फीट ऊंचा उठा। इस काल विभाग का समय अनुमान से साढ़े-तीन करोड़ सौ वर्ष पहले का माना जाता है।

१—भौतात्त्विक काल विभाग का नाम है।

द्वितीय उत्थान "मध्यमायोसीन" समय में आज से लगभग एक करोड़ वर्ष पहले हुआ। इसमें मरी कसोली की श्रेणियाँ उत्पन्न हुईं। इसकी ऊँचाई दस से बीस हजार फीट की है।

तीसरा उत्थान दूसरे उत्थान से लगभग चालीस हजार वर्षके बाद 'प्लायोसीन' काल विभाग में हुआ—इसमें शिवालीक श्रेणियों की उत्पत्ति हुई। यह उत्थान तीन हजार से सात हजार फीट का हुआ। ये उत्थान भूकम्प आदि से हुए मालूम पड़ते हैं। तीसरे उत्थान में फलतः शिवालिक श्रेणियों की ऊँचाई २५ से तीस हजार फीट की हुई।

हिमालय की नदियाँ

गंगा, सिन्धु, यमुना, ब्रह्मपुत्रा आदि नदियाँ हिमालय की सब से ऊंची श्रेणियों की परलीपार तिब्बतवाले प्रदेश से निकली हैं। ब्रह्मपुत्रा प्रायः एक हजार मील पश्चिम से पूर्व तरफ बहकर पीछी दक्षिण की तरफ मुड़कर चलती है, एक-एक कर के क्रमशः सब पर्वत श्रेणियों को काटकर मैदान में प्रवेश करती है।

इसी प्रकार सिन्धु नदी भी मानसरोवर झील से निकल कर पूर्व से पश्चिम की तरफ बहकर पश्चात् सब पर्वत श्रेणियों को काटकर मैदान में प्रवेश करती है।

गंगा और यमुना का उद्गम भी महान् हिमालय में है। ये भी क्रमशः समानान्तर सब पर्वत श्रेणियों को काटकर मैदान में उतरती हैं।

उत्थान की अपेक्षा नदियों की प्राचीनता

साधारण भौतिक नियम ऐसा है कि पहाड़ की नदियों का जल-मार्ग दो समानान्तर पर्वत श्रेणियों की बीच की घाटी में होना चाहिए जैसे कि सिन्धु और ब्रह्मपुत्रा के पूर्वार्द्ध का भाग। किन्तु गंगा वगैरह का प्रवाह एक-एक करके पर्वत श्रेणियों को काटता हुआ अपना मार्ग बनाता है, यह भौतिक नियम के विरुद्ध है। वैज्ञानिक कहते हैं कि नदियों का जल मार्ग हिमालय पर्वत की श्रेणियों का अपेक्षा अधिक पुराना है। जब हिमालय के स्थान पर टेथिस महासागर था तब दक्षिण महादेश का ढाल उत्तर की तरफ था उस समय नदी का प्रवाह उत्तर की तरफ बहता हुआ टेथिस महासागर में पड़ता था। इन नदियों के द्वारा जो रेत और मिट्टी पहुँची थी उसी से हिमालय की शिलाएँ बनीं और भूकम्प क धक्कों से जब वह उन्नत बना तब नदियों का प्रवाह दक्षिण से उत्तर की तरफ जाने के बदले उत्तर से दक्षिण की तरफ बहने लगा। नदियों के उद्गम स्थान बहुत ऊँचे होने से जल प्रवाह का वेग भी तेज हो गया और शिला काटने की शक्ति भी बढ़ गई। इसी बढ़ी हुई शक्ति से नदियाँ अपना मार्ग कायम करने में सफल हुईं। ज्यों-ज्यों हिमालय के शिखर ऊँचे होते गये त्यों त्यों नदियों की शक्ति बढ़ती गई। फल-स्वरूप अपनी घाटी को प्रति दिन ऊँडी बनाती गई। एक तरफ नये पर्वतों की सृष्टि होती गई और दूसरी तरफ घाटी ऊँडी होती गई। इसका परिणाम यह आया कि नदियों की घाटियां समानान्तर पर्वत श्रेणियों को काटती हुई दक्षिण की तरफ बहने लगीं।

सारांश

पहाड़, पृथ्वी का पर्याय है। पृथ्वी एक स्थान पर ऊँची होती है दूसरे स्थान पर गड्ढा होता है। जहाँ स्थल हो वहाँ जल फैल जाता है और जहाँ जल होता है वहाँ पहाड़ बन जाते हैं। यह पर्याय का स्वभाव है। द्रव्य ध्रुव-स्थिर रहता है किन्तु पर्याय का परिवर्तन क्षणे क्षणे होता रहता है। द्रव्य सत् है और सत् का लक्षणउत्पाद, व्यय, ध्रौव्य स्वरूप है। ईश्वर की शक्ति को बीच में डालने की कुछ भी आवश्यकता नहीं है। ईश्वरीय शक्ति कार्य करती होती तो सात मिनट में या सात सैकिंड में हिमालय बन जाता, करोड़ों वर्ष न लगते।

गंगा विज्ञानांक प्रवाह ४ तरंग १
लेखक—अनन्तगोपाल भिंगरन एस०एस०सी०

पृथिवी की उम्र

(पृथिवी की उम्र के विषय में भिन्न-भिन्न मान्यताएँ)

(१) Des Vignoles (डेस विग्नोलिस) .Chronology of the sacrad History नामक पुस्तक की भूमिका में लिखता है कि मेरी गिनती के अनुसार सृष्टि के आरंभ का समय दो प्रकार का है— ईसा से ३४८३ वर्ष पूर्व अथवा ६६८४ वर्ष पहले। सर्व मत भेदों को ध्यान में रखते हुए कहा जा सकता है कि सृष्टि ईसासे ४००४ वर्ष पहले बनी है। आर्च विषय उशर Rrchbishap ussher भी इसी प्रकार मानता है।

(२) भूगर्भ विद्या विशारद् प्रो० जैलि कहता हैं कि पृथिवी की मोटाई पर से ज्ञात होता है कि यह पृथिवी दस करोड़ वर्षों में बनी है।

(३) ईरानी पुराणों के अनुसार पृथिवी की उत्पत्ति आज से बारह हजार वर्ष पहले हुई थी।

मनुस्मृति और पुराणों के अनुसार

हिन्दू पुराणों कीमान्यतानुसार ब्रह्माके दिन की शुरूआत में सृष्टि उत्पन्न होती है और शाम को समाप्त होती है अर्थात् प्रलय होता है। रात में प्रलय और दिन में सृष्टि। ब्रह्मा के एक दिन में चौदह मन्वन्तर होते हैं। एक-एक मन्वन्तर में ७१ चतुर्युगी होती हैं। चार युग में सत्ययुग के १७२८०००, त्रेता के १२९६०००, द्वापर के ८६४००० और कलियुग के ४३२००० वर्ष होते हैं। चारों युगों के कुल ४३२०००० वर्ष हुए। चौदह मन्वन्तरों के चार अरब बत्तीस करोड़ वर्ष हुए। इतनी उम्र पृथिवी की बताई गई है। वर्तमान में सातवें मन्वन्तर की २७ चतुर्युगी व्यतीत हो चुकी हैं। अट्ठाईसवीं चालू है। उसके तीन युग पूरे हो चुके हैं, चौथे कलियुग के ५०४० वर्ष चालू साल में अर्थात् १९९६ के साल में पूरे हुए हैं। बाकी कलियुग के चार लाख ,छब्बीस हजार नौसौ साठ वर्ष और हैं। वर्तमान में पृथिवी की उम्र १९२९४९०४० वर्ष की है। मनुस्मृति प्रथमाध्याय के श्लोक ६८, ७३, ७९, ८० के अनुसार भी ऊपर मुजब वर्तमान आयु बताई गई है। सूर्य्य सिद्धान्त के अनुसार भी यही अंक हैं किन्तु आर्यभट की गणनाके अनुसार १९८६१२५०३१ वर्ष होते हैं।

रेडियम

'यह पृथिवी कितनी पुरानी है यह सिद्ध करनेवाले वैज्ञानिकों ने रेडियम नामक पदार्थ की खोज की है। रेडियम युरेनियम नामक पदार्थ से निकलता है अर्थात् युरेनियम रेडियम रूप से परिवर्तित होता है। एक चावल भर रेडिम तीस लाख चावल भर युरेनियम से प्राप्त होता है। युरेनियम के एक परमाणु को रेडियम रूप में परिणत होने में सात अरब पचास करोड़ वर्ष लगते हैं ऐसे वैज्ञानिकों का अनुमान है। इस रेडियम से नासूर आदि रोगों का नाश होता है। जो रोग विजिली से भी नष्ट नहीं होते वे रेडियम की शक्ति से नष्ट हो जाते हैं। यह रेडियम नामक धातु दुनिया में वहुत अल्प प्रमाण में प्राप्त हुई है। एक तोला भर रेडियमकी कीमत तेईस लाख रुपया है। जब कि रेडियम के एक परमाणु के वनने के लिए तीस लाख गुने युरेनियम की आवश्यकता होती है और उसे भी रेडियम रूप में परिणत होने के लिए सात अरव पचास करोड़ वर्ष चाहिए तब एक रत्ती भर या तोले भर रेडियम तय्यार होने में कितना युरेनियम चाहिए और उसे रेडियम रूप बनने में कितने वर्ष लगने चाहिए।

गंगा विज्ञान अंक प्रवाह ४ तरंग ?
लेखक—श्री अनन्त गोपाल भिगरन M. S, C.

आइन्स्टाइन का सापेक्षवाद

पृथिवी की प्राचीनता के विषय में सबके अधिक आश्चर्यजनक बात आइन्स्टाइन के सापेक्षवाद में मिलती है। आइन्स्टा-

इन के सिद्धान्त ने अर्थात् सापेक्षवाद ने वैज्ञानिक संसार में खलबली मचा दी है। ई० सन् १९१९ में प्रायः सभी समाचार पत्रों में सापेक्षवाद की प्रामाणिकता के लेख छपाये जा रहे थे। सापेक्षवाद कहता है कि 'पदार्थ और शक्ति वस्तुतः एक ही है। एक सेर गरमी की बात करना एक सेर लोहे की बात के बराबर है। एक सेर गरमी की शक्ति सवा अरब मन पत्थर को पिघलाने में समर्थ है।

कदाचित् सूर्य की गरमी इस सिद्धान्त के अनुसार पदार्थ का क्षय करने और उसके स्थान में शक्ति प्रकट करने में कम होती हो तो दस खर्व वर्षों में एक सेर पीछे केवल आधी रत्ती भले ही कम हुई हो। सेर में आधी रत्ती कुछ महत्व नहीं रखती अतः सिद्ध हुआ कि यह सूर्य हजारों अरब वर्षों से चमकता आ रहा है और हजारों शंख वर्ष पर्यन्त चमकता रहेगा।

(सौ० प० अ० ५ सारांश)

जैन दृष्टि से समन्वय

वैज्ञानिकों ने सूर्य और पृथिवी के अस्तित्व का जो अनुमान रेडियम तथा पदार्थ और उसकी शक्ति की एकता के आधार पर बाँधा है वह निश्चितरूप से नहीं है किन्तु अन्दाजा है। उसमें रेडियम की बनावट से आज तक का काल निश्चित है किन्तु आगे पीछे का काल अज्ञात है। आइन्स्टाइन का सापेक्षवाद तो जैनों के नयवाद या स्याद्वाद से बहुत मिलता

हुआ है। जैन द्रव्य और गुण तथा पर्याय को भिन्नाभिन्न मानते हैं। एक अपेक्षासे भिन्न है तो दूसरी अपेक्षासे अभिन्न है। आइन्स्टाइन का पदार्थ जैनों का द्रव्य है और शक्ति पर्याय है। आइन्स्टाइन के अन्दाज में अनिश्चित शर्त है कि यदि ऐसा हो तो ऐसा होगा किन्तु जैनों के सिद्धान्त में शर्त नहीं है। उसमें निश्चित बात है कि पर्यायों का चाहे कितना ही परिवर्तन हो किन्तु द्रव्य न तो परिवर्तित होता है और न घटताही है। द्रव्यांश ध्रुव-स्थिअर है। आइन्स्टाइन के कथनानुसार यदि हजारों अरब वर्षों में आधी रत्ती गर्मी नष्ट होती है तो हजारों नील वर्षों में गरमी खतम हो जायगी। पदार्थ और शक्ति को एकान्त अभिन्न मानने पर यह हिसाब लागू होता है किन्तु अनेकान्त-भेदाभेद पक्षमें लागू नहीं पड़ सकता। शक्ति चाहे कम ज्यादा होती हो किन्तु पदार्थ—द्रव्य का नाश तो अनन्त-काल में भी नहीं हो सकता। वस्तुतः गर्मी या शक्ति का जितने प्रमाणमें व्यय या नाश होगा उतनीही आमदनी भी हो जायगी। क्योंकि लोक में गर्मी शक्ति के द्रव्य अनन्तानन्त हैं। द्रव्य उत्पाद व्यय और ध्रौव्यस्वरूप है। एक तरफ व्यय तो दूसरी तरफ उत्पाद भी चालू है। इसलिए जर्मन विद्वान हेल्म होल्टस की जो 'शक्ति नई उत्पन्न नहीं होती है और पुरानी नष्ट नहीं होती है' मान्यता है वह ठीक है और वह जैनों को अक्षरशः लागू पड़ती है।

किं बहुना ?

शक्ति का खजाना सूर्य

ईश्वरवादी कहते हैं कि ईश्वर जगत् उत्पन्न करता है और जीवों का पालन करता है, संहार भी ईश्वर ही करता है अर्थात् ईश्वर सर्वशक्तिमान् है।

वैज्ञानिक कहते हैं कि इस पृथिवी के सब जीवों को जीवनी शक्ति देने वाला सूर्य ही है। यह बात निर्विवाद सिद्ध है कि सूर्य की रश्मियों से ही रासायनिक परिवर्तन होता है जिसके जरिये से छोटे-छोटे तृण से लेकर बड़े-बड़े वृक्ष पर्यन्त सब वनस्पति हरी भरी रहती है। हरिण शशक आदि पशुओं का जीवन भी इन्हीं उद्भिज्ज पदार्थों पर अवलम्बित है।

इसी सूर्य के प्रकाश से वाष्प बनता है और वर्षा होती है। वर्षा से कई उद्भिज्ज पदार्थों और चलते फिरते प्राणियों की उत्पत्ति होती है, यह बात किसी से छिपी नहीं है। दक्षिण ध्रुव और उत्तर ध्रुव की तरफ यात्रा करने वाले कहते हैं कि दोनों ध्रुवों पर प्राणी वनस्पति या वृक्ष का नामो निशान नहीं है, वह स्थान जीवन शून्य है। इसका कारण यह है कि वहाँ सूर्य का प्रकाश बहुत कम है। सूर्य की शक्ति के अभाव से वह प्रदेश प्राणी और वनस्पति से शून्य है। यहां ईश्वर वादियों से पूछना चाहिए कि ईश्वर तो सर्व व्यापक हैं—ध्रुव प्रदेश पर भी उसकी शक्ति रही हुई है वैसी अवस्था में वहां वृक्षादि की सृष्टि क्यों नहीं होती? इसका उत्तर उनके पास नहीं है, जब कि वैज्ञानिकों ने इसका खुलासा ऊपर कर दिया है।

सूर्यताप और विद्युत् धारा

अलग-अलग दो धातु के सलीये सूर्य के ताप में इस प्रकार रक्खे जायँ कि उनमें से एक जोड़ा गर्म हो और दूसरा ठण्डा रहे तो उस कक्षा में विद्युत् धारा होने लगती है। इस धातु के योग को 'ताप विद्युत युग्म' Tsermo-couple कहा जाता है।

एक विशेष प्रकार का कांच जिसे एकी करण ताल (Lens-condensing) कहते हैं उसे सूर्य की कक्षा में रखने से ताप इतना बढ़ सकता है कि उससे कागज कपड़ा आदि वस्तु जल सकती है। इसी सिद्धान्त के आधार पर इंजिन के बोयलर का पानी गर्म होकर बाष्प रूप बनता है।

अभी बर्लिन के वैज्ञानिक डाक्टर ब्रूनो लेंगे ने अपनी प्रयोग-शाला में एक ऐसे यंत्र की रचनाकी है कि जिससे सूर्यताप निरंतर विद्युत् शक्ति में परिणत होता रहता है। इस यन्त्र की अंगभूत प्लेट्स यदि हजारों की तादात में तय्यार कराकर उपयोग में लाई जायंगी तो उनसे मील आदि कारखानों का कार्य भी चलाया जा सकेगा। यद्यपि जल प्रपात से भी विद्युत् प्रवाह उत्पन्न होता है किंतु इसकी अपेक्षा सूर्य ताप से उत्पन्न होनेवाले विद्युत् प्रवाह की यह विशेषता है कि वह हर स्थानपर उत्पन्न हो सकता है। सूर्य प्रकाश हर स्थान पर मिल सकता है। विशेपकर के भूमध्य रेखा के पास उष्णकटिवन्धवाले देशों में विद्युत्शक्ति बहुत सस्ती पैदा की जा सकती है। यदि सूर्य से शक्ति ग्रहण करने का यह प्रयोग बहुतायत से किया गया तो कोयले तेल, लकड़ी आदि की आवश्यकता बहुत कम रह जायगी। डोक्टर लैंग की प्लेट का उपयोग अन्य भी कई प्रकारों से होता

है। जैसे जहाज़ या वायुयान में इस यन्त्र के द्वारा भय की सूचना प्राप्त की जा सकती है। फोटोग्राफ की प्लेट पर लाल-रंग की किरणें एकत्रित की जा सकती हैं।

गंगा विज्ञानाङ्क प्रवाह ४ तरंग १
लेखक—श्रीयुत् रामगोपाल सक्सेना
B. S. C.

सूर्य की गर्मी

सूर्य की गर्मी वृक्ष, पशु, पक्षी मनुष्य आदि सब को जीवन प्रदान करती है। सूर्य की गर्मी से ही जमीन में पत्थर के कोयले बनते हैं जिनसे एँजिन के जरिए मील आदि चलते हैं।

न्यूटन ने शोध की है कि सूर्य और पृथिवी में आकर्षण शक्ति है। सूर्य पृथिवी को अपनी ओर खींचता है और पृथिवी सूर्य को अपनी ओर। किन्तु सूर्य का वजन पृथिवी से तीन लाख तीस हजार गुना अधिक है, उसमें आकर्षण शक्ति अधिक है जिससे पृथिवी के द्वारा सूर्य न खिंच कर पृथिवी को अपनी तरफ खींचता है। पृथिवी में खुद में भी आकर्षण शक्ति है जिससे वह खींची जाती हुई भी सूर्य में नहीं जा मिलती किन्तु समान अन्तरे पर सूर्य के आसपास घूमती है। पृथिवी की आकर्षण शक्ति की अपेक्षा सूर्य की आकर्षण शक्ति अट्ठाईस गुनी अधिक है अर्थात् जिस वस्तु का वजन पृथिवी पर एक सेर है उसी वस्तु का वजन सूर्य पर करने पर अट्ठाईस सेर होगा। जिस मनुष्य का पृथिवी पर डेढ़ या दोमन वजन होगा सूर्य पर उसी का वजन ४२ मन या ५६ मन होगा। मनुष्य अपने वजन से ही दब कर चूरचूर हो जायगा।

वातावरण और शरदी गर्मी

सूर्य की गरमी सदा समान रहती है तो भी सीयाले में ठण्ड और उन्हाले में गर्मी, किसी देश में शरदी अधिक और किसी में गर्मी अधिक मालूम पड़ती है। इस का कारण वायु मण्डल है। पृथिवी के चारों ओर २०० मील तक वायु मण्डल-वातावरण है। इस में किसी समय पानी वाष्प-भाप अधिक होती है तो सूर्य की गर्मी पृथिवी पर कम आती है और किसी वक्त वाष्प वर्षा के रूप में नीचे गिरजाती है तब शुष्क वातावरण से गर्मी अधिक बढ़ती है। किसी वक्त वातावरण से वर्फ गिरता है तब शरदी अधिक हो जाती है।

उष्णकाल में किसी किसी देश में तापमान ११० से ११५ या १२० तक पहुँच जाता है तब बहुत से पशुपक्षी मर जाते हैं। यदि तापमान इससे भी अधिक बढ़जाय तो मनुष्य भी मर जाते हैं। शरदी में शिमला जैसे प्रदेशों में तापमान घटता घटता ४५—५० डिग्री तक रह जाता है तब बहुत शरदी बढ़ जाती है। यदि तापमान इससे भी नीचे जाय तो मनुष्य, पशु, पक्षी आदि मर जाते हैं। ठण्डे देश में जन्मे हुए मनुष्य अधिक गर्मी सहन न कर सकने से गर्म देश में नहीं रह सकते अथवा रहते हैं तो मर भी जाते हैं। इसी प्रकार गर्म देश में जन्मे हुए ठण्डे देश में अधिक शरदी सहन नहीं कर सकते, वीमार हो जाते और मर भी जाते हैं। यही बात पशु पक्षियों के लिए भी है। कहिये मनुष्य आदि प्राणियों को जीलाने या मारने की शक्ति ईश्वर में है या वातावरण और सूर्य में! ईश्वर शरीर रहित और वजन रहित होने से उसमें गर्मी भी

नहीं है और आकर्षण शक्ति भी नहीं है। यदि यह कहो कि सूर्य और वातावरण को ईश्वर ने ही बनाया है तो यह ठीक नहीं है क्योंकि जो शक्ति—गर्मी और आकर्षण स्वयं ईश्वर में नहीं है तो दूसरों को कैसे दे सकता है। यदि ईश्वर में भी गर्मी और आकर्षण माने जायं तो वह सर्व व्यापक होने से सर्वत्र गर्मी या शरदी समान रूप से होनी चाहिए। मगर ऐसा नहीं है। यन्त्रादि के द्वारा जो ताप क्रम का माप किया जाता है उसका अन्वय व्यतिरेक सूर्य के साथ तो प्रत्यक्ष है मगर ईश्वर के साथ तो अन्वय व्यतिरेक नहीं होता अतः ईश्वर में उसकी कारणता किसी प्रकार सिद्ध नहीं होती। कारणता की यथार्थ खोज कर के वैज्ञानिकों ने प्रत्यक्ष सिद्ध कर के दिखा दिया है। ईश्वर वादियों ने विचार शून्य कल्पना पर अन्ध श्रद्धा रख कर के वाद विवाद में निरर्थक समय व्यतीत किया है। अस्तु। 'गतं न शोचामि'।

(सौ० प० अ० ५ सारांश)

जल और वायु की शक्ति

वायु से कई स्थानों पर पवन चक्की चलती है। कूए का पानी ऊपर चढ़ाया जाता है। वाहन पर ध्वजा बांध कर हवा के जरिए इष्ट दिशा की तरफ समुद्र में जहाज चलाया जा सकता है। जल प्रपात से भी पवन चक्की चलती है। अमेरिका के सुप्रसिद्ध जल प्रपात से बिजली की बड़ी बड़ी मशीनें चलाई जाती हैं। नायगरा के जल प्रपात में अनुमानतः अस्सी लाख अश्वबल की शक्ती है। प्रति घण्टा बीस मील की चाल से चलने वाली सौ वर्ग फूट की हवा में ५६० अश्वबल की

शक्ति रही हुई है। पांच दस अश्ववल के तैल इञ्जिन खरीदने या चलाने में कितना खर्च होता है यह सब कोई जानते हैं। जब कि ऊपर बताई हुई ५६० अश्ववल वाली हवा मुफ्त में ही बहती रहती है। किन्तु यहां प्रश्न यह है कि हवा और पानी में शक्ति कहां से आती है? हवा कौन चलाता है? पानी को पहाड़ों पर कौन चढ़ाता है? उत्तर—सूर्य। सूर्य ही पृथिवी को गर्मी देता है। गर्म पृथिवी पर हवा गर्म होती है। गर्मी से हवा पतली होकर ऊपर चढ़ती है और ऊपर की नीचे आती है। इस प्रकार हलचल होने से हवा इधर उधर दौड़ती है और मुसाफिरी करती रहती है। सूर्य ही समुद्र के पानी को गर्म करके वाष्प रूप बनाता है। जब वाष्प, ऊपर वायुमण्डल में जाकर अमुक समय में बरसता है तब पहाड़ों पर पानी चढ़ता है और पहाड़ से उतर कर बड़े प्रपात में गिरता है और नदी नालों के रूप में बहता हुआ समुद्र में रेत, मिट्टी, कंकड, पत्थर लेजाकर उसमें पहाड़ों की रचना करता है। जहां ३० से ३५ इञ्च पानी पड़ता है वहां प्रति वर्ग मील पर पांच करोड़ मन से अधिक पानी सूर्य बरसाता है। जिस हवाके बिना प्राणी श्वासोच्छ्वास नहीं ले सकते और जिस जल का पान किये बिना कोई भी प्राणी जीवनधारण नहीं कर सकता उस हवा और पानी को उत्पन्न करने वाला सूर्य है। सूर्य ही में ये सब शक्तियां हैं न कि ईश्वर में।

(सौ० प० अ० ५ सारांश)

कोयलों में जलने की शक्ति

खान से पत्थर जैसे जो कोयले निकलते हैं दर असल वे पत्थर या मिट्टी नहीं हैं किन्तु लकड़े हैं। बहुत वर्ष पहले

वृक्ष या वनस्पति मिट्टी के नीचे दब कर बहुत काल के दबाव से पत्थर जैसे घनीभूत बन गये। वृक्षावस्था में जलने की शक्ति उनको सूर्य से प्राप्त हुई थी। सूर्य की रोशनी और गर्मी में वृक्ष कारबोन द्विओषिद से कारबोन हवा ग्रहण करते हैं। कारबोन द्विओषिद (Carbon dioxide.) और कारबोन को अलग करने में शक्ति की आवश्यकता है। वह शक्ति सूर्य के ताप से आती है। वैज्ञानिकों ने सिद्ध किया है कि वृक्ष सूर्य के ताप से जितनी शक्ति खींचते हैं उतनी ही शक्ति (न रत्ती कम न रत्ती अधिक) जलने में लगाते हैं—देते हैं। घासलेट तेल और पेट्रोल में भी यही नियम लागू पड़ता है। इस पर से ज्ञात हो जायगा कि कोयलों में जो शक्ति अभी हम देखते हैं वह शक्ति खान से निकलने के बाद प्राप्त नहीं हुई है किन्तु लाखों करोड़ों वर्ष पहले जब वे वृक्ष के रूप में थे तब से उन में संचित है। उन पर हजारों फीट मिट्टी के स्तर जम जाने पर और पत्थर रूप बन जाने पर भी सूर्य की रश्मियों से प्राप्त की हुई शक्ति ज्यों की त्यों कायम रख सके। और हजारों लाखों या करोड़ों वर्ष बाद उस शक्ति को दूसरे कोयले के अवतार में प्रकट कर सके।

(सौ० प० अ० ५ सारांश)

सूर्य से कितनी शक्ति आती है ?

गर्मी मापने के यन्त्र से ज्ञात हुआ है कि वायु मण्डल की ऊपरी सतह पर जब खड़ी सीधी रश्मि गिरती है तब प्रति वर्गगज पीछे डेढ़ अश्वबल के बराबर शक्ति आती है। परन्तु

वायुमण्डल के बीच में थोड़ी गर्मी रुक जाने के कारण उत्तर भारत वर्ष के ताप में करीब दो वर्गगज पर सामान्यतया एक अश्व बल की शक्ति आती है। इस हिसाब से सारी पृथ्वी पर लगभग २३०००००००००००० तेईस नील अश्वबल जितनी शक्ति उतरती है। यह तो अपनी पृथ्वी की बात हुई। सूर्य का ताप तो अपनी पृथ्वी के बहार भी चारों तरफ अन्य ग्रहों पर भी गिरता है। उन सब का हिसाब करें तो ज्ञात होगा कि सूर्य की सतह से प्रतिवर्ग इञ्च ५४ अश्वबल की शक्ति निकलती है। सूर्य के प्रत्येक वर्ग सेण्टीमीटर से लगभग ५०००० मोमबत्ती की रोशनी निकला करती है। इस हिसाब से एक वर्ष में सूर्य से इतनी गर्मी निकलती है कि जो इग्यारह अंक पर तेईस शून्य लगाने पर जो संख्या होती है उतने मन पत्थर के कोयले जला सकती है।

क्या सूर्य की गर्मी कम होती है ?

इस प्रकार सूर्य की गर्मी निकलती रही तो कालान्तर में अवश्य घट जायगी ? वैज्ञानिक कहते हैं कि नहीं घटेगी। एक सवा तीन हजार वर्ष पुराने वृक्ष के पीछे के भाग का फोटो लिया गया था उसकी छाल पर से वर्षों की गिनती की गई। एक वर्ष में एक छाल नई आती है वैसी छालें गिनने पर बत्तीस सौ वर्ष का उस वृक्ष का आयुष्य माना गया। वृक्ष की वृद्धि जितनी आजकल होती है उतनी ही वृद्धि सवा तीन हजार वर्ष पूर्व भी हुई मालूम पड़ी है। इस पर से निश्चय होता है कि सवा तीन हजार वर्षों में जब गरमी पड़ने में कुछ घटती नहीं हुई तो भविष्य में भी नहीं होगी। (सौ० प० अ० ५ सारांश)

वायु मंडल का प्रभाव

पहाड़ सूर्य की समीप में हैं और पृथ्वी उससे दूर है अतः पहाड़ों पर गर्मी अधिक गिरनी चाहिये और पृथ्वी पर कम पड़नी चाहिये। किन्तु होता है ठीक इसके विपरीत। पृथिवी पर गर्मी अधिक पड़ती है और पहाड़ों पर ठंडक रहती है। आबू और शिमला के पहाड़ों पर वैशाख मास में भी गर्मी न मालूम देकर शर्दी मालूम पड़ती है। इस का क्या कारण है? उत्तर—वायु मण्डल में हवा का हलन चलन। गर्म प्रदेश की हवा ठण्डी होती है और वहां से चलकर ठंडे प्रदेश में जाती है, वहां रुक जाती है। अर्थात् गर्म प्रदेश ठंडा हो जाता है और ठंडा प्रदेश गर्म हो जाता है। दूसरी बात यह है कि पृथ्वी दिन में गर्म होती जाती है और रात्रि में वह गर्मी वायु मण्डल में रही हुई वाष्प या बादल आदि से रुक जाती है अर्थात् आय बढ़ती और व्यय कम होता है। इस प्रकार गर्मी बढ़ते बढ़ते वर्षा होती है तब गर्मी के जाने का मार्ग खुला हो जाने से आय की अपेक्षा व्यय बढ़ जाता है और वातावरण में शैत्य फैल जाता है। पहाड़ों पर गर्मी अवश्य पड़ती है मगर व्यय का मार्ग खुला है, रुकावट इतनी नहीं होती अतः आयकी अपेक्षा व्यय बढ़-जाने से गर्मी कम पड़ती है और ठंडक अधिक रहती है। ऊपर की हवा स्वच्छ और हलकी विशेष है अतः गर्मी की आय की अपेक्षा व्यय बढ़ जाने से ठण्ड विशेष प्रमाण में रहती है।

(सौ० प० अ० ९ सारांश)

सूर्य में गर्मी कहाँ से आती है?

आधुनिक विज्ञान से सिद्ध हुआ है कि शक्ति नई उत्पन्न नहीं होती है और न विनष्ट होती है। जब घासलेट तेल के

इंजिन से शक्ति पैदा की जाती है तब वह शक्ति नई पैदा नहीं होती किन्तु जो शक्ति घासलेट तेल में जड़रूप से छिपी हुई थी वही इंजिन की गति के रूप में प्रकट हुई। जब इंजिन से कुछ काम नहीं लिया जाता तब वह शक्ति नष्ट नहीं होती, उस वक्त तैल भी खर्च नहीं होता। जितना तैल खर्च होता है उतने ही प्रमाण में कल पुर्जों की रगड़ और फटफट शब्द करने में शक्ति का व्यय होता है इतने पर भी रगड़ से शक्ति का नाश नहीं होता है किन्तु रगड़ से पुरजे में गर्मी उत्पन्न होती है। गर्मी शक्ति का ही एक रूप है। कितनी ही शक्ति हवा में भी चली जाती है।

यहां प्रश्न यह होता है कि सूर्य से प्रतिदिन इतनी सारी रोशनी-गर्मी या शक्ति बहार निकलती जाती है तो दो तीन हजार वर्षों में वह शक्ति सारी समाप्त हो जानी चाहिए और सूर्य की चमक घट जानी चाहिए किन्तु ऐसा नहीं होता है। सूर्य हजारों, लाखों, करोड़ों वर्ष पहले जैसा चमकता था वैसा आज भी चमकता है और पूर्व जितनी ही शक्ति का व्यय भी चालू है। तो उस शक्ति का पूरक कौन है? ईश्वर तो नहीं है? सूर्य की अपेक्षा कोई अधिक शक्तिशाली होना चाहिए जिसके जरिये सूर्य को शक्ति प्राप्त हो सके। ईश्वर के विना अन्य कौन हो सकता है? ई० सन् १८५४ में जर्मन वैज्ञानिक हेल्म होल्टस (Helm Holtry) ने बताया है कि सूर्य अपने आकर्षण से ही दब रहा है। दबाव से गर्मी उत्पन्न होती है। उदाहरण रूप से, जब साईकल में हवाभरी जाती है तब पम्प गर्म हो जाता है। गर्म होने का एक कारण रगड़ भी है। पम्प के अन्दर हवा को बारबार दबाने से भी गर्मी उत्पन्न होती है।

इसी प्रकार सूर्य में भी आकर्षण शक्ति का केन्द्र की तरफ दवाव है जिससे आकर्षण शक्ति गर्मी रूप से प्रकट होती जाती है और प्रकाश रोशनी या गर्मी रूप के ऊपर बताये प्रमाण से बाहर निकलती जाती है. लाखों, करोड़ों वर्ष व्यतीत होने पर भी कमी नहीं होती है और न भविष्य में होगी। क्योंकि जितना व्यय है उतनी ही आमदनी आकर्षण शक्तिके दबाव से चालू है।

(सौ० प० अ० ५ सारांश)

बोलो मीटर यन्त्र और तापक्रम

प्रकाश थोड़े परिमाण में होता है तो उसका रंग लाल होता है जैसे अग्निका। बिजली की बत्ती में ज्यों ज्यों प्रकाश का परिमाण बढ़ता जायगा त्यों त्यों रंग बदलता जायगा और गर्मी अधिक आती जायगी। प्रकाश में अधिक गर्मी आने पर श्वेत प्रकाश बन जाता है। लाल, नारंगी, पीत, हरित आदि अनेक रंगों के सम्मिश्रण से श्वेत रंग बनता है। प्रकाश में रंग के तारतम्य से प्रकाश का तापक्रम मापा जाता है। इस प्रकार मापने के यन्त्र का नाम बोलो मीटर रखा गया है। इसकी प्रथम शोध अमेरिका निवासी एस पी लेंग्ली ने की है। इस यंत्र से प्रकाश को गर्मी रूप में परिवर्तित किया जाता है। प्रकाश में कितने ही रंग हों किन्तु जब वे काली वस्तु पर फेंके जायं तो वह काली वस्तु प्रकाश के सर्व रंगों को खींच लेगी और उस में गर्मी पैदा हो जायगी अर्थात् प्रकाश गर्मी के रूप में बदल जाता है। बोलोमीटर यन्त्र में भी काली की हुई प्लैटिनम (Platinum) धातु का एक बहुत छोटा पतरा लगा

हुआ होता है उस पर प्रकाश गिरने से प्लेट गर्म हो जाती है उससे तापक्रम की डिग्री का पता लग जाता है। इस पृथ्वी पर अधिक से अधिक गर्मी बिजली में है। बिजली का तापक्रम तीन हजार डिग्री तक पहुँचा है। सूर्य की सतह के पास बोलोमीटर यन्त्र से जांच करने पर छः हजार डिग्री तापक्रम होता है। सूर्य के केन्द्र में तो इससे भी अधिक गर्मी होगी। उकलते हुए पानी में सौ डिग्री गर्मी होती है। एक हजार डिग्री गर्मी से सोना पिघलता है। तापक्रम के माप से वैज्ञानिकों ने यह भी हिसाब लगाया है कि सूर्य से कितनी गर्मी निकलती है। इस बोलोमीटर यन्त्र से किस देश में किस ऋतु में कितनी गर्मी या शरदी है इसका निश्चित परिमाण बताया जाता है।

ऐसे यन्त्रों की सहायता से ईश्वर वादियों की शाब्दिक कल्पना वैज्ञानिकों के प्रत्यक्षसिद्ध प्रमाणों के सामने जरा भी नहीं टिक सकती इस बात का पाठक स्वयं विचार करेंगे।

(सौ० प० अ० ५ सारांश)

बोलते चित्र और विद्युच्छक्ति

सीनेमों में जो चित्र थोड़े वर्ष पहले मूक दीखते थे आज वे बोलते दिखाई देते हैं। फोनोग्राफ में अमुक स्थान और अमुक काल में उच्चरित ध्वनि कालान्तर में हजारों कोशों पर उसी रूप में सुनाई देती है। रेडियो में विलायत में गाये हुए गायन बम्बई या कलकत्ता में यों के यों सुनाई देते हैं। लोउड स्पीकर में एक मनुष्य का धीमी आवाज से किया हुआ भाषण पांच पचीस हजार मनुष्य दूर बैठे-बैठे भी स्पष्टतया सुन सकते हैं। ब्रॉड-कास्ट में हिटलर या चेम्बरलेन का भाषण दुनिया के चारों

कोनों में एक ही समय सुनाई देता है। टेलीफोन में हजारों कोशों दूर से बोलने वाले के शब्द स्पष्टरूप से पास में बोलता हो वैसे ही सुनाई देते हैं। इतना ही नहीं किन्तु थोड़े समय पश्चात् बोलने वाले का फोटू (चित्र भी) देखा जा सकेगा। ये सब वर्तमान जमाने के आविष्कार एक ही विद्युत् शक्ति के परिणाम हैं जिनका सूर्य के ताप के साथ भी सम्बन्ध है।

मूकचित्रों से बोलते चित्र

सीनेमा में दृश्य रूप से कार्य करनेवाले मूकचित्रों की उम्र पूरे सौ वर्ष की नहीं हुई कि इतने में तो दर्शकों का मनोरंजन करने के लिए नाटकों से टक्कर लेनेवाले बोलते चित्रों का आविष्कार होगया। सामान्यतया फोनोग्राफ की रेकार्ड में और विशेषतः सिनेमा में इसकी प्रगति हुई है। ग्रामोफोन का आविष्कार एडिसन ने किया है। ग्रामोफोन में बोलनेवाले मनुष्यकी ध्वनि की रुकावट (Impedance) की जाती है। इस ग्रामोफोन के साथ छाया चित्रों या मूक चित्रों का जब एककालीनता का सम्बन्ध स्थापित किया जाता है तब मूक चित्र बोलने लगते हैं। इसके लिये मशीनों का उपयोग होने लगा किन्तु उनसे अधिक लाभ नहीं हुआ। क्योंकि एक रेकार्ड अधिक से अधिक छ सात मिनिट तक आवाज कर सकती है और एक फिल्म कमसे कम पन्द्रह मिनिट तक चलती है। इसका समीकरण करने के लिये फोनोग्राफ की दो रिकार्डें एक फिल्म के साथ जोड़ी जाने लगी अर्थात् एक रिकार्ड पूरी होती कि तुरंत ही दूसरी मशीन की दूसरी रिकार्ड जोड़ी जाती। दर्शकों को आन्तरे की खबर

न लगे इसका पूरा खयाल रखा जाता। इससे कई अंशों में समान कालीनता अवश्य आगई। इतना होते हुए भी वैज्ञानिकों को पूरा सन्तोष न हुआ। ध्वनिकी रुकावट और विद्युत् की रुकावट (Impedance) का एक नया आविष्कार हुआ। इस शोध की सहायता से ध्वनि को पुनः उत्पन्न करके उसे दर्शकों की बड़ी संख्या तक पहुँचाने के लिये रेडियो तथा लाऊड स्पीकर की सहायता ली गई। यहाँ संक्षेप में इतना कहना पर्याप्त होगा कि सर्व प्रथम मूलध्वनि को विद्युत् तरंगों में बदलकर उन तरंगों को प्रकाश के उतार-चढ़ाव में परिवर्तित किया जाता है। प्रकाश का उतार चढ़ाव उस दृश्य की मूक फिल्म के साथ-साथ अंकित होता है। सिनेमा हॉल में इससे विपरीत कार्यवाही की जाती है। लाउडस्पीकर में आवाज उत्पन्न करने के लिए प्रकाश के उतार-चढ़ाव को पुनः विद्युत् तरंगों में बदलना पड़ता है। ध्वनि को बिजली के तरंगों में बदलने का कार्य आज-कल साधारण हो गया है। टेलीफोन और ब्रॉडकास्टींग इसी सिद्धान्त पर कार्य करते हैं।

माईक्रोफोन ध्वनि को विद्युत तरंग के रूप में बदल देता है। इस में ध्वनि की तरंग एक प्रकार की झिल्ली-पतली पतरी (Diaphragm) पर आकर टकराती है। इससे पतरी में सह कम्पन (Sympathetic Vidrations) पैदा हो जाता है— झिल्ली गति करने लग जाती है। इस गति से माईक्रोफोन की सरकिट (Circit) में विद्युत्तरंग पैदा होती है। इस तरंग का आधार झिल्ली की गति पर निर्भर है। उसकी तेजी या सुस्ती के अनुसार तरंग शक्तिशाली या कमजोर बनती है। ध्वनिके स्वर में परिवर्त्तन होने के साथ-ही-साथ तरंग में परि-

वर्तन होता जाता है। परिवर्त्तनशील यह तरंग थोड़े अन्य उपकरणों से प्रकाश के उतार चढ़ाव में बदल जाती है। इसके लिए कई उपाय प्रचलित हैं। एक पद्धति में विद्युत् धारा मापक यन्त्र काम में लाया जाता है इसकी सुई से विद्युत् धारा के माप का पता लगता है, यह सुई धारा का माप बताने के लिये गति करती है। इस सुई के बजाय एक छोटा-सा कांच लगाया जाता है। वह कांच गति करता रहता है और इसकी सहायता से प्रकाश का किरण एक स्लिट [Slit] में हो कर जा सकता है। इन किरणों का परिमाण विद्युत् तरंगों की शक्ति पर आधार रखता है।

इस स्लिट के पीछे एक सीनेमा फिल्म खींचकर रखी जाती है, तब उस पर किरणों के प्रभाव से कहीं अँधेरा और कहीं उजाला होता रहता है, इस प्रकार फिल्म पर प्रकाश और अँधेरे के रूप में ध्वनि अंकित होती है। मूलध्वनि के स्वरों में ज्यों-ज्यों उतार चढ़ाव होता जाता है त्यों-त्यों की वह फिल्म पर अंकित होता है।

इस फिल्म की जाँच करने से ज्ञात होता है कि धीमी आवाज के लिए अस्पष्ट रेखाएँ अंकित होती हैं और तेज आवाज के लिये तेज-स्पष्ट रेखाएँ अंकित होती हैं। पॉजिटिव फिल्म में इससे उल्टा होता है अर्थात् तेज आवाज के लिये अस्पष्ट रेखाएँ और धीमी आवाज लिये तेज-स्पष्ट रेखाएँ अंकित होती हैं। इसे धारीदार फिल्म साउण्ड ट्रेक कहते हैं। इस फिल्म पर ध्वनि के साथ-साथ मूक चित्र भी अंकित होते जाते हैं। ध्वनि आलेखन और दृश्य आलेखन दोनों एक साथ

एक ही समय में होते जाते हैं। इसकी ध्वनि और दृश्य दोनों एक ही समय में प्रकट होते हैं। प्रेक्षकों को देखने और सुनने का लाभ एक ही समय में मिलता है अर्थात् देखने और-सुनने की क्रिया एक साथ ही शुरू होती है और साथ ही साथ पूर्ण होती है।

ध्वनि चित्र जब दर्शकों के समक्ष उपस्थित किए जाते हैं तब उनकी कार्यवाही उल्टी की जाती है। विक्षेपक Projecting मशीन के द्वारा एक प्रकाशावली फिल्म के ध्वनि मार्ग पर फैंकी जाती है। ध्वनि मार्ग ज्यों-ज्यों प्रकाश में होकर गुजरता है, त्यों-त्यों अपने पर प्रक्षिप्त स्थायी प्रकाश को रोकता है। इस प्रकार प्रकाश में पुनः वही कम्पन उत्पन्न होते हैं जिनके कि चित्र लिये गये थे। ये कम्पन उस समय विद्युत कक्षा में होकर गुजरते हैं और पुनः विद्युत् कम्पन में परिवर्तित होते हैं। ये विद्युत कम्पन फैलाये जाते हैं और विद्युत् तारों के द्वारा लाउडस्पीकर तक पहुँचाये जाते हैं, वहाँ से वे शब्द बनकर निकलते हैं।

ध्वनि मार्ग के ध्वनिचित्रों को विद्युत् तरंगों में बदलने के लिए तथा लाउडस्पीकर के संचालन के लिए एक विशेष प्रकार का यन्त्र काम में लाया जाता है इसे फोटो इलेक्ट्रिक शेल [Photo electric cell] कहा जाता है। वस्तुत फोटो इलेक्ट्रिक शेल विद्युत् धारा प्राप्त करने का एक साधन मात्र है। मान लीजिये कि एक शेल है उससे सम्बद्ध अभिवर्धक और लाउडस्पीकर हैं। शेल के सामने एक बड़ा गोलाकार प्लेट है

इसमें समानान्तर छोटे छोटे छेद—छिद्र किए हुए हैं। ये छिद्र प्रकाश के लिए वारी का कार्य करते हैं। इस प्लेट की पिछली तरफ़ एक विद्युत् लेम्प है। इस लेम्प को छिद्र तथा सेल के प्रवेश के ठीक समक्ष रखा जाता है। जब प्लेट के छिद्र, लेम्प तथा सेल के प्रवेश छिद्र, तीनों एक ही सीधी रेखा में आते हैं तब सेल की विद्युत् धारा में परिवर्त्तन हो जाता है और वह परिवर्त्तन लाउडस्पीकर के शब्दों द्वारा प्रकट होता है। परन्तु जब लेम्प और सेल के बीच में प्लेट का छिद्र रहित भाग आ-जाता है तब सेल की विद्युत धारा में कोई परिवर्त्तन नहीं होता है और उससे लाउडस्पीकर शान्त रहता है। अगर प्लेट को वेग से घुमाया जाय तो शब्द खूब जोर से सुनाई देता है और धीरे घुमाया जाय तो आवाज भी धीरे सुनाई देती है। अगर प्लेट और सेल के बीच कार्ड बोर्ड का एक टुकड़ा रख दिया जाय तो आवाज एक दम बन्द हो जाती है। सेल के अन्दर जाने वाली विद्युत् धारा को रोक देने से भी यही बात होती है। शेल के द्वारा शब्द उत्पन्न करने के लिए हाई वोल्टेज [High Voltage] की विद्युत् धारा और प्रकाश इन दोनों की आवश्यकता होती है।

गंगा विज्ञानांक प्रवाह ४ तरंग १
लेखक—श्यामनारायण कपूर B. Sc.

समालोचना

ऊपर की प्रक्रिया में प्रकाश की किरणों और विजली में कितनी शक्ति है और उससे क्या-क्या आश्चर्य पूर्ण कार्य होते हैं

यह हम देख चुके। जैन दृष्टि से ध्वनि शब्द है और शब्द पुद्गल-रूप है। प्रकाश की किरण भी पुद्गल रूप है। पूरण गलन स्वभाव यह पुद्गल का लक्षण है। ध्वनि का विद्युत् धारारूप में परिवर्तन होना और प्रकाश की किरण के साथ मिल कर मूक चित्र को सवाक् चित्र बनाना, प्रकाश की सहायता से धीमी आवाज को तेज बनाना या उसी आवाज को स्थूल रूप देना, ध्वनि और प्रकाश का गति में परिणत होना, और रेकार्ड या फिल्म पर रुकजाना-प्रतिष्टंभ होना, यह सब पुद्गल की लीला है, प्रकाश या बिजली की शक्ति का माहात्म्य है। इसमें ईश्वर का जरा भी हाथ नहीं है। ईश्वर का हाथ होता तो ईश्वर अपने भक्तों के हाथों से ही फोनोग्राफ, लाउडस्पीकर, टेलीफोन, ब्रॉडकास्ट, आदि नये-नये आविष्कार कराता। अथवा मनुष्यों की उत्पत्ति के साथ ही अपनी इस शक्ति का थोड़ा बहुत परिचय कराता। लाखों-करोड़ों वर्षों तक जनता को अज्ञान रखकर ईश्वर को न मानने-वाले अभक्तों के हाथों में इसका यश क्यों दिया गया? ईश्वर क्या यश दे? यह तो भौतिक शक्ति है। ईश्वर के पास तो आत्मिक शक्ति है। भौतिक शक्ति की अपेक्षा आत्मिक शक्ति कई गुनी अधिक है। इस शक्ति के प्रभाव से संसार या कर्म बंधन से आत्मा को मुक्त करना या परमानन्द पदवी प्राप्त करना रूप फल ईश्वर-भक्तों को मिल चुका है और मिलता रहेगा। भौतिक शक्ति का उपयोग भोग विलास या अन्यों का संहार करनेमें भी हो सकता है। वर्त्तमान युद्ध में वायुयान में बैठकर निरपराध प्राणियों पर बम फेंकना या जहरी गेस फैलाना या मनुष्यों का संहार करना, आदि उपयोग भौतिक शक्ति का हो रहा है। कुछ भी हो हमें तो

यहाँ यही समझना है कि प्रकाश, विजली वाष्प और शब्द ये सब जड़ होते हुए भी कितने शक्ति सम्पन्न हैं। ऐसी और इस से भी अधिक शक्ति जड़ भूत कर्म पुद्गलों में रही हुई है। ये पुद्गल ईश्वरीय प्रेरणा के विना भी स्वतः सिद्ध अनेक प्रकार की शक्तियाँ रखते हैं। ये कर्म पुद्गल जीवात्माओं के द्वारा गृहित होने के बाद जीवात्मा को अपनी विविध प्रकार की शक्ति बताते हैं, जैसे जीव को सुगति, दुर्गति में लेजाना, सुःखी या दुःखी बनाना, राजा से रंक और रंक से राजा बनाना, स्त्री से पुरुष और पुरुष से स्त्री बनाना, निर्धन को धनवान और धनवान को निर्धन बनाना। यह सब पुद्गल कर्म की लीला है। भौतिक शक्ति का परिणाम है। यह लीला आजकल की नहीं है किन्तु अनादि अनन्त काल से होती आरही है और होती रहेगी। सुज्ञेषु किं बहुना ?

दार्शनिक उत्तर पक्ष

ब्रह्मसृष्टि और मीमांसादर्शन

वैदिक सृष्टि का ब्रह्मसृष्टि सम्बन्धी उन्नीसवाँ प्रकार गत प्रकरण में बताया जा चुका है। यद्यपि ये उन्नीसों प्रकार ऋषियों के संशय से आक्रान्त हैं और नासदीय सूक्त की छठी और सातवीं ऋचा इनका खण्डन भी कर चुकी है तो भी व्यवस्थित विचार करने वाले दर्शनकारों ने सृष्टि के विषय में क्या क्या विचार किया है इसका किञ्चित् दिग्दर्शन कराते हैं। वेद के साथ सब से अधिक सम्बन्ध रखने वाला पूर्वमीमांसा दर्शन है। इसके संस्थापक जैमिनिऋषि हैं। इनका सृष्टि के विषय में क्या अभिप्राय है, इसका मीमांसा दर्शन की माननीय पुस्तकें-शास्त्रदीपिका और श्लोक वार्तिक आदि के आधार से निरीक्षण करते हैं—

जैमिनि सूत्र के प्रथमअध्याय के प्रथमपाद के पाँचवें अधिकरण की व्याख्या करते हुए शास्त्रदीपिकाकार श्रीमत्पार्थसारथि मिश्र, शब्द और अर्थ का सम्बन्ध कराने वाला कौन है इसका परामर्श करते-कहते हैं कि-"न च सर्गादिर्नामकश्चित्कालोऽस्ति, सर्वदा हीदृशमेव जगदिति दृष्टानुसारादवगन्तुमुचितम्। न तु स कालोऽभूत् यदा सर्वमिदं नासीदिति। प्रमाणाभावात्।" जब सृष्टि की आदि हुई हो वैसा कोई काल नहीं है। जगत् सदा इसी प्रकार का है। यह प्रत्यक्ष के अनुसार

जानना उचित है। भूतकाल में ऐसा कोई समय न था जिसमें कि यह जगत् कुछ भी नहीं था। ऐसा मानलेने में कोई भी प्रमाण नहीं है।

आगे बढ़ते हुए दीपिकाकार कहते हैं कि बिना प्रमाण के भी यदि यह मान लें कि कुछ भी नहीं था तो सृष्टि बन ही नहीं सकती। सृष्टि कार्यरूप उपादेय है। उपादान के बिना उपादेय नहीं बन सकता। मिट्टी हो तभी घट बन सकता है। मिट्टी के बिना घड़ा बनते हुए कभी नहीं देखा गया। यहाँ ब्रह्मवादी वेदान्ती पूर्व पक्षरूप में कहता है कि—

आत्मैवैको जगदादावासीत् स एव स्वेच्छया व्योमादि प्रपञ्चरूपेण परिणमति बीजमिव वृक्षरूपेण। चिदेकरसं ब्रह्म कथं जड़रूपेण परिणमतीति चेत्, न परमार्थतः परिणामं ब्रूमः किन्त्वपरिणतमेव परिणतवदेकमेव सदनेकधा मुखमिवादर्शादिष्वविद्यावशाद्विवर्त्तमानमात्मैवात्मानं चिद्रूपं जड़रूपमिवाद्वितीयं सद्वितीयमिवपश्यति। सेयमविद्योपादाना स्वप्नप्रपञ्चवन्महदादि प्रपञ्च सृष्टिः। (शा. दी. १।१।५—११०)

अर्थ—जगत् की आदि में-प्रलयकाल में एक आत्मा ही था। वह आत्मा ही अपनी इच्छा से आकाश आदि विस्तार रूप में परिणत होता है। जिस प्रकार कि बीज वृक्षरूप में विस्तृत हो जाता है। शंका-चैतन्य एक रसरूप ब्रह्म, जड़ रूप में कैसे परिणत हो सकता है? उत्तर—हम पारमार्थिक परिणाम नहीं मानते किन्तु अपरिणत होता हुआ परिणत के समान, जैसे कि एक सद् रूप होकर अनेक रुप, दर्पण में मुख दिखाई देता है, विवर्त्त प्राप्त करता है। अविद्या के कारण से आत्मा ही

चिद्रूप आत्मा को जड़रूप देखता है। अद्वितीय को सद्वितीय की तरह चिद्रूप को जड़रूप देखता है। अविद्या का उपादान करणावली स्वप्नप्रपञ्चवत् महदादि प्रपञ्चरूप यह सृष्टि है।

मीमांसकों का उत्तर पक्ष

किमिदानीमसन्नेवायं प्रपञ्चः ? ओमिति चेन्न । प्रत्यक्ष विरोधात् ।...... न चागमेन प्रत्यक्षबाधः संभवति । प्रत्यक्षस्य शीघ्रप्रवृत्तेन सर्वेभ्यो बलीयस्त्वात् ।......किञ्च प्रपञ्चाभावं प्रतिपदताऽवश्यमागमोपि प्रपञ्चान्तर्गतत्वादसद्रूपतया प्रत्येतव्यः। कथञ्चागमेनै-वागमस्याभावः प्रतीयेत ? असद्रूपतया हि प्रतियमानो न कस्यचिदप्यर्थस्य प्रमाणं स्यात्। प्रामाण्ये वा नासत्त्वम्।

(शा० दी० १। १। २ पृष्ठ ११०)

अर्थ—क्या वर्त्तमान में भी जगद् विस्तार असत् है ? जो जगत् प्रत्यक्ष से सद्रूप दिखाई देता है, उसका आगम से बाधित होना संभवित नहीं है। कारण यह है कि प्रत्यक्ष सब से बलवान है और आगम की अपेक्षा इसकी प्रवृत्ति सब से पहले होती है।

दूसरी बात यह है कि जगत् को असद्रूप मानने वाले पुरुष को जगत् के अन्दर रहे हुए आगम को भी असद् मानना पड़ेगा, वह भी प्रत्यक्ष प्रमाण से नहीं किन्तु आगम प्रमाण से। तो इस में विचारणीय यह बात है कि आगम स्वयं अपना अभाव किस तरह सिद्ध करेगा ? यदि आगम असद्रूप सिद्ध हो जायगा तो वह किसी भी अर्थ के लिए प्रमाण स्वरूप न

रह सकेगा। और अगर प्रमाणरूप रहेगा तो वह असद्रूप नहीं रह सकेगा। (असद्रूप और प्रामाण्य ये दोनों परस्पर विरोधी हैं अतः एक वस्तु में नहीं टिक सकते।

अनिर्वचनीयवाद

वेदान्तान्तर्गत अनिर्वचनीयवादी कहता है कि हम प्रपञ्च—जगत् को असत् नहीं कहते क्योंकि प्रत्यक्ष से विरोध है जो प्रत्यक्ष से सत् दिखाई देता है उसे असत् किस प्रकार कहा जाय ? किन्तु परमार्थ से सत् भी नहीं कह सकते क्योंकि आत्म ज्ञान से बाधा आती है। अतः जगत् सत् और असत् दोनों से वाच्य न होकर अनिर्वचनीय है।

मीमांसकों का उत्तरपक्ष

अनिर्वचनीयवादी का कथन ठीक नहीं है। सत् से भिन्न असत् है और असत् से भिन्न सत् है। यदि जगत् सत्रूप नहीं है तो असत होना चाहिए और यदि असत नहीं है तो सद्रूप होना चाहिए। एक का अभाव दूसरे की सत्ता स्थापित करता है। अर्थात् सत का अभाव असत की सत्ता और असत का अभाव सत की सत्ता स्थापित करता है। एक के अभाव से दोनों का अभाव हो जाय यह बात अशक्य है। अतः जगत् को या तो सत् कहो या असत् कहो। जगत् की अनिर्वचनीयता नही टिक सकती। वस्तुतः वही असत् है, जो कदापि प्रतीयमान न हो जैसे कि शशविषाण, आकाश कुसुम इत्यादि। और सत्

भी वही है कि जिसकी प्रतीति कदापि बाधित न हो जैसे आत्मतत्त्व। जगत् की प्रतीति शशविषाण की तरह सदा के लिए बाधित नहीं है, अतः उसे असत् या अनिर्वचनीय नहीं कह सकते। किन्तु आत्मतत्त्व की तरह जगत् को भी सत् कहना चाहिए। इसलिए जड़ और चेतन दोनों की सत्ता स्वीकार करनी ही पड़ेगी। और यदि इनकी सत्ता स्वीकार कर लोगे तो अद्वैतवाद के बजाय द्वैतवाद सिद्ध हो जायगा।

अविद्यावाद

वेदान्तान्तर्गत अविद्यावादी कहता है कि वास्तविक सत्ता तो ब्रह्म की या आत्मतत्त्व की ही है। जगत् की जो कादाचित्क प्रतीति होती है वह अविद्याकृत है।

मीमांसकों का परामर्श

मीमांसक अविद्यावादी को पूछता है कि वह अविद्या भ्रान्तिरूप है या भ्रान्तिज्ञान का कारण रूप पदार्थान्तर है? यदि कहो कि भ्रान्तिरूप है तो वह भ्रान्ति किस को होती है? ब्रह्म को भ्रान्ति नहीं हो सकती क्यों कि वह स्वच्छ विद्यारूप है। जहाँ स्वच्छ विद्या हो वहाँ भ्रान्ति का संभव ही नहीं हो सकता। क्या सूर्य में कभी अन्धकार का संभव हो सकता है? कदापि नहीं। यदि कहो कि जीवों को भ्रान्ति होती है तो यह भी ठीक नहीं है क्योंकि वेदान्त मत में ब्रह्म के सिवाय जीवों की पृथक् सत्ता ही नहीं है। यदि भ्रान्तिज्ञान का कारणरूप

पदार्थान्तर स्वीकार करते हो तो अद्वैत सिद्धान्त को हानि पहुँचेगी और द्वैतवाद की सिद्धि हो जायगी।

कदाचित् कारणान्तर न होने से ब्रह्म का स्वभावरूप अविद्या मानी जाय तो यह भी संभवित नहीं हैं। विद्यास्वभाव वाले ब्रह्म का अविद्यारूप स्वभाव हो ही नही सकता। विद्या और अविद्या परस्पर विरोधी हैं। दोनों विरोधी स्वभाव एक ब्रह्म में कैसे रह सकते हैं?

यदि अविद्या को वास्तविक मानोगे तो उसका विनाश। किस से होगा? आगमोक्त ध्यान, स्वरूपज्ञान वगैरह से अविद्या का नाश हो जायगा ऐसा कहते हो तो यह भी ठीक नहीं है क्योंकि नित्यज्ञानस्वरुप ब्रह्म से अतिरिक्त ध्यान, स्वरूपज्ञान वगैरह हैं ही कहाँ कि जो अविद्या का नाश करें? अतः इस मायावाद की अपेक्षा तो बौद्धों का महायानिकवाद ही ठीक है जिसमें कि नील पीत आदि के वैचित्र्य का कार्यकारणभाव दिखाया गया है।

अज्ञान वाद

वेदान्तान्तर्गत अज्ञानवादी कहता है कि यह प्रपञ्च अज्ञान से उत्पन्न होता है, और ज्ञान के द्वारा उसका विनाश होता है। मृगजल या प्रपञ्च के समान।

मीमांसकों का ऊहापोह

मीमांसक कहता है कि कुलालादि व्यापार स्थानीय अज्ञान, घटस्थानीय जगत और मूसलस्थानीय ज्ञान मानोगे तो भी जगत्

उत्पत्ति और विनाश के योग से अनित्य मात्र सिद्ध होगा किन्तु अत्यन्ताभाव रूप असत सिद्ध न होगा।

दूसरी बात ! ज्ञान से जगत्‌का नाश होता है तो वह ज्ञान कौन-सा है ? आत्म ज्ञान या निष्प्रपञ्च आत्मज्ञान ? केवल आत्मज्ञान तो विरोधी न होने से जगत् का विनाशक नहीं बन सकता। निष्प्रपञ्च आत्मज्ञान को कदाचित् नाशक माना जाय तो उसमें आत्मज्ञान अंश तो अविरोधी है। निष्प्रपञ्च याने प्रपञ्च का अभाव। जब तक प्रपञ्च विद्यमान है तब तक उस के अभाव का ज्ञान कैसे हो सकता है ? उस ज्ञान के उत्पन्न हुए बिना प्रपञ्च का नाश भी नहीं हो सकता। अतः अन्योन्याश्रयरूप दोष की आपत्ति प्राप्त होगी। इसलिए ज्ञान से भी जगत् की सत्ता का नाश नहीं हो सकता। जब कि जगत् आत्मज्ञान की तरह सत् सिद्ध हो जायगा तो अद्वैतवाद सिद्ध न होकर द्वैतवाद की सिद्धि हो जायगी। मृगजल तो पहले से ही असत् है, अतः उसके नाशका तो प्रश्न ही नहीं ठहरता है। इसलिए यह दृष्टांत यहाँ लागू नहीं पड़ता है। इत्य द्वैतमतनिरासः।

(शा. दी. १।१।२ पृ. १११)

अर्द्ध जरतीय अद्वैतवादी का पूर्व पक्ष

उपनिषद् को माननेवाला वेदान्ती अर्द्ध जरतीय अद्वैतवादी कहा जाता है। वह कहता है कि ब्रह्म या आत्मा स्वयं ही अपनी

इच्छा से जगत् रूप में परिणत हो जाते हैं। जिस प्रकार बीज वृक्षरूप सच्चे परिणाम को प्राप्त करता है, उसी प्रकार आत्मा भी आकाशादि भिन्न-भिन्न जगद् रूप में परिणत हो जाता है। नाम रूप भिन्न भिन्न होते हुए भी मूल कारण रूप एक आत्मा का ही यह सब विस्तार है।

जगत् के असत्यवाद, अविद्यावाद, भ्रान्तिवाद, मायावाद, ये सब वाद अनित्य जगत् के औपचारिक हैं। जिस तरह मृग-तृष्णा, रज्जुसर्प और स्वप्न प्रपञ्च थोड़े समय तक आविर्भूत होकर पीछे विलीन हो जाते हैं उसी तरह जगद्विस्तार भी अमुक समय तक आविर्भाव प्राप्त करके पीछा लय को प्राप्त हो जाता है। अनित्य जगत् औपचारिक असत् है। आत्मा नित्य होने से पारमार्थिक सत्य है। जगत् का असत्यत्त्व वैराग्य पैदा करने के लिए है। आत्मा का परमार्थपन मुमुक्षुओं के उत्साह की वृद्धि करने के लिए है। मृत्पिण्ड के विकार का दृष्टान्त यहाँ ठीक घटित होता है। मिट्टी के बर्तन—घड़ा, शराव इत्यादि अनेक नाम वाले होते हुए भी एक मिट्टी के विकार हैं। मिट्टी सत्य है। घड़ा शराव आदि वाचारंभमात्र हैं। नाम रूप भिन्न—भिन्न हैं वस्तु भिन्न नहीं है किन्तु एक ही मिट्टी है। आत्मा और जगत् के विषय में भी ऐसे ही समझ लेना चाहिए। जगत् नानारूप दिखाई देता है सो एक आत्मा का विकार-परिणाम रूप है। आत्मा एक है किन्तु अन्तःकरण की उपाधी के भेद से भिन्न भिन्न जीव बनते हैं। जीव के भेद से बन्धमोक्ष की व्यवस्था हो सकती है।

मीमांसकों का उत्तरपक्ष

आत्मा चैतन्य रूप होने से उसका जड़रूप परिणाम नहीं बन सकता। दूसरी बात, एक ही आत्मा मानने से सब शरीरों में एक ही आत्मा का प्रतिसंधान होगा। यज्ञदत्त और देवदत्त दोनों अलग अलग प्रतीत न होंगे। देवदत्त के शरीर में सुख को और यज्ञदत्त के शरीर में दुख की प्रतीति एक ही समय में एक ही आत्मा को होगी।

अन्तःकरण के भेद से दोनों के सुख दुख की भिन्न भिन्न प्रतीति हो जायगी ऐसा कहते हो तो यह भी ठीक नहीं है। अन्तःकरण अचेतन है अतः उसे सुख दुख की प्रतीति होने का संभव ही नहीं हो सकता है। अनुभव करनेवाला आत्मा एक होने से सब के सुख दुख के अनुसन्धान को कौन रोक सकता है ? कोई नहीं। अतः अर्द्धजरतीय परिणामवाद भी ठीक नहीं है। इत्यात्मपरिणामवाद निरासः।

(शा० दी० १। १। ५। पृष्ठ ११२)

अद्वैतवाद के विषय में श्लोक वीर्त्तिककार कुमारिल भट्ट का उत्तरपक्ष

पुरुषस्य च शुद्धस्य, नाशुद्धा विकृतिर्भवेत् ।। ५-८२
स्वाधीनत्वाच्च धर्मादि-स्तेन क्लेशो न युज्यते।
तद्वशेन प्रवृत्तौवा, व्यतिरेकः प्रसज्यते ।। ५-८३

अर्थ—एक ही आत्मा अपनी इच्छा से अनेक रूप में परिणत होकर जगत्-प्रपञ्च को विस्तृत करती है, वेदान्तियों के इस कथन का कुमरिलभट्टजी उत्तर देते हैं कि पुरुष शुद्ध और ज्ञानानन्द स्वभाव वाला है, वह अशुद्ध और विकारी कैसे बन सकता है? पुरुष का जगत् रूप में परिणत होना विकार है। अविकारी को विकारी कहना घटित नहीं होता है। जगत् जड़ और दुःख रूप है। चेतन पुरुष में जड़ जगत् को उत्पत्ति मानना अशक्य बात है। धर्म अधर्म रूप अदृष्ट के योग से पुरुष में सुख दुःख, क्लेशरूप विकार उत्पन्न हो जायंगे ऐसा कहना भी उचित नहीं है। पुरुष स्वतन्त्र है, वह धर्म अधर्म के वश नहीं होसकता है। धर्म अधर्म, पुरुष के वश हों यह उचित हो सकता है। सृष्टि को आदि में यदि एक ही ब्रह्म है तो धर्माधर्म की सत्ता ही कहाँ रही? यदि धर्माधर्म की सत्ता स्वीकार कर लोगे तो द्वैतता की आपत्ति आयगी।

स्वयं च शुद्धरूपत्वादसत्त्वाच्चान्यवस्तुनः।
स्वप्नादिवदविद्यायाः, प्रवृत्तिस्तस्य किं कृता ॥५८४॥

अर्थ—जो ऐसा कहते हैं कि हम पुरुष का वास्तविक परिणाम होना नहीं कहते किन्तु अपरिणत होता हुआ भी अविद्या के वश परिणत के समान दिखाई देता है—हाथी, घोड़े न होते हुए भी स्वप्न में जैसे हाथी घोड़े सामने खड़े हों वैसे दिखाई देते हैं वैसे ही अविद्या के वश से पुरुष जगत्-प्रपञ्चरूप प्रतीत होता है। वस्तुतः पुरुष जगत् रूप में परिणत नहीं होता है, उन अविद्यावादी वेदान्तियों के प्रति भट्ट जी कहते हैं कि पुरुष स्वयं शुद्ध रूप है, अन्य कोई वस्तु उसके पास नहीं है

वैसी हालत में स्वप्न की तरह अविद्या की प्रवृत्ति कहाँ से हो गई? अविद्या भ्रान्ति है। भ्रान्ति किसी न किसी कारण से होती है। पुरुष विशुद्ध स्वभाव वाला है। उस के पास भ्रान्ति का कोई कारण नहीं है। विना कारण के अविद्या की उत्पत्ति से हो गई? कै अविद्या सिद्ध न हो तो उसके योग से पुरुष की जगत्‌रूप में परिणति या प्रतीति भी कैसे हो सकती है?

अन्येनोपप्लवेऽभीष्टे, द्वैतवादः प्रसज्यते।
स्वाभाविकीमविद्यां तु, नोच्छेत्तुं कश्चिदर्हति ॥ ५-८५।
विलक्षणोपपाते हि, नश्येत् स्वाभाविकी क्वचित्।
नत्वेकात्माभ्युपायानां, हेतुरस्ति विलक्षणः ॥ ५-८६ ॥

अर्थ—अविद्या को उत्पन्न करनेवाला पुरुष के सिवाय अन्य कारण मानने पर द्वैतवाद का प्रसंग आयगा। अगर कारण न होने से पुरुष की तरह अविद्या को भी स्वाभाविक मानलोगे तो वह अनादि सिद्ध. होगी। अनादि अविद्या का कभी भी उच्छेद नहीं हो सकता। इसलिए किसी भी पुरुषका मोक्ष भी नहीं हो सकता। कदाचित पार्थिव परमाणु की श्यामता जिस प्रकार अग्नि संयोग से नष्ट हो जाती है उसी प्रकार अविद्या भी-स्वाभाविक अविद्या भी ध्यानादि विलक्षण कारण के योग से नष्ट हो जायगी ऐसा कहोगे तो मोक्षोच्छेद की आपत्ति तो दूर हो जायगी मगर एक ही आत्मा मानने वाले अद्वैतवादी के मत में आत्मा के सिवाय ध्यानादि कोई विलक्षण कारण ही नहीं है तो अविद्या का उच्छेद कैसे

होगा ? इस आपत्ति से अद्वैतवाद नहीं टिक सकता इसलिए द्वैतवाद स्वीकार करना युक्ति संगत है ।

अद्वैतवाद के विषय में बौद्धों का उत्तर पक्ष

तेषामल्पापराधं तु, दर्शनं नित्यतोक्तितः ।
रूपशब्दादि विज्ञाने, व्यक्तं भेदोपलक्षणात् ॥

(त. सं. ३२९)

एकज्ञानात्मकत्वे तु, रूपशब्दरसादयः ।
सकृद्वेद्याः प्रसज्यन्ते, नित्येऽवस्थान्तरं न च ॥

(त० सं० ३३०)

अर्थ—पृथिवी जलादिक अखिल जगत् नित्य ज्ञान के विवर्त्तरूप हैं। और आत्मा नित्य विज्ञान रूप है। अतः नित्य विज्ञान के सिवाय दूसरी कोई वस्तु नहीं है। इस प्रकार कहने वाले वेदान्तियों का जो कुछ अपराध है उसको शान्तिरक्षित जी इस प्रकार दिखाते हैं—अहो अद्वैतवादियो ! विज्ञान एक और नित्य है। रूप, रस, शब्द आदि का जो पृथक-पृथक ज्ञान होता है वह तुम्हारे मत से न होना चाहिए किन्तु एक ज्ञान से एक ही साथ रूप रसादि सर्व पदार्थों का एक रूप से ज्ञान होना चाहिये। अगर तुम यों कहोगे कि जिस प्रकार एक ही पुरुष में बाल्यावस्था, तरुणअवस्था, वृद्धावस्था भिन्न-भिन्न होती हैं उसी प्रकार ज्ञान की भी भिन्न-भिन्न अवस्थाएँ होंगी जिससे रूपविज्ञान, रसविज्ञान इत्यादि की उपपत्ति हो जायगी तो यह कथन भी ठीक नहीं है। विज्ञान की अवस्थाएँ बदल जाने पर विज्ञान नित्य नहीं रह सकता क्योंकि अवस्था

और अवस्थावान् का अभेद होने से अवस्था के अनित्य होने पर अवस्थावान् भी अनित्य सिद्ध होगा ।

रूपादिवित्तितो भिन्नं, न ज्ञानमुपलभ्यते ।
तस्याः प्रतिक्षणं भेदे, किमभिन्नं व्यवस्थितम् ॥
(त० सं० ३३२)

अर्थ—रूप रसादि ज्ञान से पृथक् कोई नित्य विज्ञान उपलब्ध नहीं होता है। जो उपलब्ध होता है वह प्रतिक्षण बदलता रहता है। चिरकाल तक रहनेवाला कोई अभिन्नज्ञान नित्यविज्ञान न तो प्रत्यक्ष से उपलब्ध होता है और न अनुमान से। इन दोनों प्रमाणों से जो वस्तु सिद्ध नहीं है उसका स्वीकार करना ही व्यर्थ है।

नित्यविज्ञान पक्ष में बन्ध-मोक्ष की व्यवस्था नहीं होती

विपर्यस्ताविपर्यस्त—ज्ञानभेदो न विद्यते ।
एकज्ञानात्मके पुंसि, बन्धमोक्षौ ततः कथम् ॥
(त० सं० ३३३)

अर्थ—नित्य एक विज्ञान पक्ष में विपरीत ज्ञान और अविपरीत ज्ञान, यथार्थ ज्ञान और अयथार्थ ज्ञान, सम्यग्ज्ञान और मिथ्याज्ञान इस प्रकार का भेद नहीं रह सकता तो एक ज्ञान स्वरूप आत्मा में बन्ध मोक्ष व्यवस्था कैसे हो सकती है? हमारे मत में मिथ्याज्ञान का योग होने पर बंध और मिथ्या ज्ञान की निवृत्ति होने पर सम्यग्ज्ञान के योग से मोक्ष की व्यवस्था अच्छी तरह हो सकती है।

नित्य एक विज्ञान पक्ष में योगाभ्यास की निष्फलता

किं वा निवर्त्तयेद्योगी, योगाभ्यासेन साधयेत् ।
किं वा न हातुं शक्यो हि, विपर्यासस्तदात्मकः ॥
तत्त्वाज्ञानं नचोत्पाद्यं, तादात्म्यात् सर्वदा स्थितेः ।
योगाभ्यासोपितेनाय- मफलः सर्व एव च ॥
(त० सं० ३३४-३३५)

अर्थ—नित्य विज्ञान पक्ष में यदि मिथ्याज्ञान ही नहीं है तो योगी योगाभ्यास के द्वारा किसकी निवृत्ति करेगा और किसकी साधना करेगा ? यदि नित्य विज्ञान को विपर्यासरूप अर्थात मिथ्याज्ञानरूप कहोगे तो उसका त्याग नहीं हो सकता क्योंकि वह नित्य है । नित्य की निवृत्ति अशक्य है । नित्य-विज्ञान आत्मरूप होने से सदा विद्यमान रहेगा । विद्यमान तत्त्वज्ञान की उत्पत्ति अशक्य है अतः तत्त्वज्ञान के लिए योगाभ्यास की आवश्यकता नहीं रहती । इसलिए तुम्हारे मतसे योगाभ्यास आदि सर्व प्रक्रिया निष्फल हो जाती है ।

अद्वैतवाद के विषय में सांख्यों का उत्तर पक्ष

नाविद्यातोप्यवस्तुना बन्धायोगात्
(सां० द० १।२०)

भावार्थ—क्षणिक विज्ञानवादी योगाचार बौद्ध और नित्य विज्ञानवादी वेदान्ती ये दोनों अद्वैतवादी हैं क्योंकि विज्ञान के सिवाय अन्य पदार्थ नहीं मानते हैं । वेदान्ती एक ही नित्य विज्ञानमय ब्रह्म मानते हैं और योगाचार बौद्ध अनन्त क्षणिक विज्ञान व्यक्तियों का एक सन्तान मानते हैं । ये दोनों अविद्या को

बन्ध का हेतु मानते हैं। अर्थात् अविद्या से पुरुष को संसार का बन्धन होता है। सांख्य उत्तरपक्षीरूप से उसको पूछता है कि अविद्या वस्तु-सत् है या असत है। वह कहता है अवस्तु असत् है। तब सांख्यदर्शनकार कहता है कि यदि अविद्या असत् है तो उससे पुरुष को बन्ध नहीं हो सकता। स्वप्न में देखी हुई रज्जु से-असत् रज्जु से क्या कोई किसी वस्तु को बांध सकेगा? कदापि नहीं। यदि कहो कि असत् अविद्या से बन्ध भी असत्- अवास्तविक होगा तो यह भी ठीक नहीं है। बंध यदि असत् हो तो उसकी निवृत्ति के लिये योगाभ्यास आदि साधनों की आवश्यकता नहीं हो सकती। शास्त्रकारों ने जिन योगाभ्यास आदि साधनों का बन्ध की निवृत्ति के लिए उपदेश किया है वे सब निष्फल हो जायंगे। इसलिए बन्ध असत् नहीं माना जा सकता।

वस्तुत्वे सिद्धान्तहानिः

(सां० द० १।२१)

भावार्थ—सांख्य कहते हैं कि यदि अविद्या को वस्तुरूप अर्थात् सद्रूप मानोगे तो तुम्हारे सिद्धान्त को हानि पहुँचेगी। तुम अविद्या को मिथ्या मानते हो तो यह सिद्धान्त बदल जायगा।

विजातीयद्वैतापत्तिश्च ॥ (सां० ज० १।२२)

भावार्थ—योगाचार बौद्ध सजातीय क्षणिक विज्ञान की अनेक व्यक्तियां तो मानते ही हैं इस लिए सजातीयद्वैत उनके लिए आपत्तिरूप नहीं हो सकता किन्तु विजातीय द्वैत तो उनके लिए आपत्ति रूप होगा। अविद्या ज्ञानरूप नहीं है किन्तु वासना रूप है और वासना विज्ञान से विजातीय है। अविद्या

को सत् मानने पर विज्ञान और अविद्या ये दो पदार्थ सिद्ध होने पर विजातीय द्वैतता प्राप्त होगी। वेदान्तियों के लिए द्वैतता मात्र दोषापत्ति रूप है।

विरुद्धोभयरूपा चेत॥ (सां० द० १।२३)

भावार्थ—सांख्य कहते हैं कि अविद्या को सत् या असत् मानने में दोषापत्ति प्राप्त होनेसे विरुद्ध उभयरूप मान लो, अर्थात् सत्, असत्, सदसत् और सदसत्से विलक्षण ये चार कोटियाँ हैं। इनमें से पहिली दो सत् और असत् का तो निषेध हो चुका। तीसरी सत्-असत् रूप कोटि परस्पर विरोधी है। सत् से विरुद्ध असत् और असत् से विरुद्ध सत् यह तीसरी कोटि तो परस्पर विरुद्ध होने से नहीं मानी जा सकती। तब विलक्षण सदसद्रूप चौथी कोटि मानोगे तो उसका जबाव नीचे दिया जाता है।

न तादृकपदार्थाप्रतीतेः॥ (सां० द० १।२४)

भावार्थ—जगत् में ऐसा कोई पदार्थ ही प्रतीत नहीं होता है। सापेक्ष सत् असत् तो मिल सकता है मगर चौथी कोटि वाली निरपेक्ष सत् असत् वस्तु परस्पर विरुद्ध होने से कहीं भी प्रतीत नहीं होती। अन्य यह भी दोष है कि यदि अविद्या को साक्षात् बन्ध का हेतु मानोगे तो ज्ञान से अविद्या का नाश होने पर प्रारब्ध भोग की अनुपपत्ति होगी। क्योंकि दुःख भोगरूप बंध के कारण का नाश होने पर कार्य की निवृत्ति हो जायगी। हमारे मत से तो अविद्या जन्मादि संयोगद्वारा बन्ध का हेतु होगी। जन्मादि संयोग प्रारब्ध की समाप्ति के बिना नष्ट नहीं होते। इत्यलंविस्तरेण।

ब्रह्मवाद के विषय में नैयायिकों का उत्तर पक्ष

बुद्ध्यादिभिश्चात्मलिङ्गैर्निरूपाख्यमीश्वरं प्रत्यक्षानुमानाग-
मविषयातीतं कः शक्त उपपादयितुम् ॥

(न्या० वा० भा० ४।१।२१)

अर्थ—ब्रह्मवादी ब्रह्म को जगत् का उपादान कारण मानते हैं। 'ईश्वरः कारणं पुरुषकर्माफल्यदर्शनात्' । ४ । १ । १६ । इस सूत्र में आए हुए ईश्वर शब्द का अर्थ वे ब्रह्म करते हैं। ईश्वरो ब्रह्म । ईशनायोगात् । ईशना च चेतना शक्तिः क्रियाशक्तिश्च । सा चात्मनि ब्रह्मणीति। ब्रह्म ईश्वरः स एव कारणं जगतः। न चाभावो वा प्रधानं वा परमाणवो वा चेतयंते ॥ अर्थ—ईशनायोग से ईश्वर शब्द निष्पन्न होता है। ईशना चेतना शक्ति और क्रिया शक्ति दो प्रकार की है। वह आत्मा और ब्रह्म में है। ब्रह्म ही ईश्वर है, वही जगत् का कारण है। अभाव, प्रकृति या परमाणु जगत् के कारण नहीं हैं। ब्रह्मवादियों का यह पूर्व पक्ष है। नैयायिक इसका उत्तर देते हैं कि आत्मा को जानने के लिए आत्मा के लिङ्ग रूप बुद्धि इच्छा आदि विशेष गुण माने जाते हैं। ब्रह्म तो निरुपाधिक है। उसको जाननेके लिए कोई लिङ्ग या निशानी नहीं है। मुख्य बात तो यह है कि प्रमाण के बिना प्रमेय की सिद्धि नहीं हो सकती। ब्रह्म की सिद्धि तुम किस प्रमाण से करोगे ? प्रत्यक्ष तो ब्रह्म का नहीं हो सकता क्योंकि वह किसी भी इन्द्रिय के द्वारा ग्राह्य नहीं है। ब्रह्म को बताने वाला कोई खास हेतु नहीं है अतः अनुमान से भी ग्राह्य नहीं हो सकता। सर्वसम्मत आगम प्रमाण भी नहीं है। इसलिए भाष्यकार कहते हैं कि "प्रत्यक्षानुमानागमविषयातीतं कः शक्त उपपादयितुम्" प्रमाण के विषय से अतीत ब्रह्म

का उपपादन करने के लिए कौन समर्थ हो सकता है? कोई नहीं। जब ब्रह्म की ही उपपत्ति नहीं हो सकती तो उसको उपादान कारण मानने की बात मूल से ही उड़ जाती है। 'मूलं नास्ति कुतः शाखा' अर्थात् जहाँ मूल ही नहीं है वहाँ शाखा की क्या बात की जाय? नैयायिक कहता है कि इसलिए आत्म विशेष रूप ईश्वर को जगत् का उपादान कारण नहीं किन्तु निमित्त कारण मान लो। प्राणियों के कर्मों के अनुसार वह जगत् बनाता है। वस्तुतः ईश्वरवादियों का यही सिद्धान्त है। प्राचीनतमनैयायिक आचार्य तो ईश्वर को नियन्तामात्र ही मानते हैं कर्त्तारूप से नहीं। इत्यलंविस्तरेण।

अद्वैतवाद के विषय में जैनियों का उत्तर पक्ष

अत्राप्यन्ये वदन्त्येव, मविद्या न सतः पृथक्।
तच्च तन्मात्रमेवेति, भेदाभासोऽनिबन्धनः॥
(शा० वा० स० स्तवक ८। ४)

अर्थ—अद्वैतपक्ष के विषय में वेदान्ती ऐसा कहते हैं कि अविद्या ब्रह्म से अलग नहीं है। ब्रह्म से अविद्या अलग मानने पर अद्वैतसिद्धान्त नहीं टिक सकता। सत् यह ब्रह्ममात्र है अर्थात् ब्रह्मकी ही सत्ता है। अविद्या की पृथक् सत्ता नहीं है। यदि ऐसी बात है तो घट, पट, स्त्री, पुरुष, पिता, पुत्र, सेठ, नौकर, पति, पत्नी इत्यादि जो भेद का आभास होता है उसका क्या कारण है? कारण के बिना कार्य नहीं बन सकता।

सैवाथाऽभेदरूपापि, भेदाभासनिबन्धनम्।
प्रमाणमन्तरेणैत—द्वगन्तुं न शक्यते॥
(शा० वा० स० ८। ५)

अर्थ—पूर्वपक्षी कहता है कि ब्रह्म के साथ अभेद भाव को प्राप्त हुई वही अविद्या भेदाभास का कारण बनेगी। उत्तरपक्षी कहता है कि अविद्या तभी कारण बन सकती है जब वह स्वयं प्रमाण से सिद्ध हो जाय। अविद्या प्रमेय है और प्रमेय प्रमाण के बिना नहीं जाना जा सकता।

भावेऽपि च प्रमाणस्य, प्रमेयव्यतिरेकतः।
ननु नाद्वैतमेवेति, तदभावेऽप्रमाणकम्॥
(शा० वा० स० ८। ६)

अर्थ—अविद्या का निश्चय करने वाला प्रमाण कदा चत् स्वीकार कर लिया जाय किन्तु जब तक प्रमाण से प्रमेय की सत्ता का स्वीकार न किया जाय तब तक कार्य कारण भाव का निर्वाह नहीं हो सकता। वेदान्ती कहते हैं कि हम ऐसा नहीं कहते कि केवल अद्वैत ही है। यों तो प्रमाण और प्रमेय दोनों की व्यवस्था की हुई है। यदि प्रमाण को भी स्वीकार न करें तो अद्वैततत्त्व भी अप्रमाण हो जायगा। उत्तरपक्षी कहता है कि एक ओर द्वैत और दूसरी ओर अद्वैत इस प्रकार का परस्पर विरोधी कथन उन्मत्त के बिनाअन्य कौन स्वीकार कर सकता है?

विद्याविद्यादिभेदाच्च, स्वतन्त्रेणैव बाध्यते।
तत्संशयादियोगाच्च, प्रतीत्या च विचिन्त्यताम्॥
(शा० वा० स० ८। ७)

अर्थ—"विद्यां चाविद्यां च, यस्तद्वेदोभयं सहा-विद्यया मृत्युं तीर्त्वा, विद्ययाऽमृतमश्नुते", यह एक श्रुति है। इसमें विद्या और अविद्या का भेद स्पष्ट बताया हुआ है। विद्या का फल

अमृत प्राप्ति और अविद्या का फल मृत्युतरण है। कार्यभेद से कारण में भी भेद होता है। इसलिए उक्त श्रुति से स्वतन्त्ररूप से अद्वैततत्त्व का निरास हो जाता है। दूसरी बात यह है कि "तत्त्वमसि" इत्यादिश्रुति अद्वैत-बोधक है, "द्वे ब्रह्मणी वेदितव्ये परं चापरं च" "परं चापरं च ब्रह्म यदोङ्कारः" इत्यादि श्रुति द्वैतबोधक है। इस पर संशय होना स्वाभाविक है कि प्रथमश्रुति सच्ची है या दूसरी? इस प्रकार आगमप्रमाण से बाधा और संशय उत्पन्न होने का संभव होने से अद्वैतवाददूषित ठहरता है। तीसरी बात है प्रत्यक्ष प्रतीति की। घट, पट आदि भिन्न-भिन्न वस्तुएं प्रत्यक्ष से दिखाई देती हैं। घटपटादि भेद की जो प्रत्यक्ष प्रतीति होती है वह भी अद्वैततत्त्व का खण्डन करती है। वेदान्तियों का दृष्टि सृष्टिवाद भी बौद्धों के शून्यवाद के बराबर है। कहा भी है कि—

> प्रत्यक्षादि प्रसिद्धार्थ विरुद्धार्थाभिधायिनः
> वेदान्ता यदि शास्त्राणि, बौद्धैः किमपराध्यते ॥१॥
> अन्ये व्याख्यानयन्त्येवं, समभाव प्रसिद्धये।
> अद्वैतदेशनाशास्त्रे निर्दिष्टा न तु तत्वतः ॥

(शा० वा० स० ८।८)

अर्थ—जैन वेदान्तियों को कहते हैं कि शास्त्र में जो अद्वैततत्त्व का उपदेश दिया गया है वह अद्वैततत्त्व की वास्तविकता बताने के लिये नहीं किन्तु जगत में मोह प्राप्त कर के जीव राग द्वेष को प्राप्त करते हैं उनको रोकने के लिए और समभाव की प्रतीति कराने के लिए तथा शत्रु मित्र को एक दृष्टि से देखने के लिए

है वह उपदेश "आत्मैवेदं सर्वं" "ब्रह्मैवेदंसर्वं" इत्यादि रूप है। जगत् को असार-तुच्छ मानकर सर्व को आत्मसमदृष्टि से देखने का उपदेश देना ही शास्त्रकार का आशय है। इसमें तुम्हारी और हमारी एक वाक्यता है। इत्यलम्।

सृष्टि के विषय में मीमांसा श्लोकवार्तिककार कुमारिल भट्ट का अभिप्राय

यदा सर्वमिदं नासीत्, क्वावस्था तत्र गम्यताम्।
प्रजापतेः क्व वा स्थानं, किं रूपं च प्रतीयताम्॥
(श्लो० वा० अधि० ५।४५)

अर्थ—ब्रह्मवादिओं के कथनानुसार सृष्टि की आदि में यदि ब्रह्म के सिवाय अन्य कुछ भी नहीं था तो जगत् की अवस्था किसी भी प्रकार बुद्धि में नहीं उतर सकती। और फिर प्रजापति को सृष्टा माना जाता है सो उस प्रजापति का स्थान क्या होगा? पृथिवी आदि न होने से उसका कुछ भी आधार नहीं है। जो प्रजापति माना जाता है वह शरीर सहित है या शरीर रहित है? यदि शरीर रहित माना जाय तो सृष्टि रचना की इच्छा और प्रयत्न चेष्टा नहीं घटित हो सकते। शरीर सहित मानने पर भूतों की उत्पत्ति के बिना भौतिक शरीर संभव नहीं हो सकता।

ज्ञाता च कस्तदा तस्य, यो जनान् बोधयिष्यति।
उपलब्धेर्विना चैतत्, कथमध्यवसीयताम्॥
(श्लो० वा० ५।४६)

अर्थ—प्रजापति ने जब सृष्टि बनाई उस वक्त उसका जानने वाला कौन था जो लोगों को सृष्टि के होने की बात

बता सकता। जिस वस्तु की उपलब्धि-साक्षात्कार नहीं है उसका निश्चय भी कैसे हो सकता है।

प्रवृत्ति कथमाद्या च, जगतः संप्रतीयते।
शरीरादेर्विना चास्य, कथमिच्छापि सर्जने॥
(श्लो० वा० ५।४७)

अर्थ—सृष्टि के आरम्भ के पहले जब कुछ भी साधन विद्यमान न था जगत् रचना की आद्य प्रवृत्ति कैसे हो सकती है! दूसरी बात शरीर के अभाव में सर्जन करने की इच्छा भी किस प्रकार हो सकती है?

शरीराद्यथ तस्य स्यात्तस्योत्पत्तिर्न तत्कृता।
तद्वदन्य प्रसङ्गोपि, नित्यं यदि तदिष्यते॥
(श्लो० वा० ५,४८)

पृथिव्यादावनुत्पन्ने किम्मयं तत्पुनर्भवेत्।

अर्थ—यदि उसके शरीरादि माने जायं तो उनकी उत्पत्ति उस शरीर से तो नहीं हो सकती उनकी उत्पत्ति के लिए अन्य शरीर की आवश्यकता होगी। उस अन्य शरीर के लिए तीसरे शरीर की अवश्यकता होगी, इस तरह अनवस्था दोष प्राप्त होगा। कदाचित् उस शरीर को नित्य माना जाय तो वह पृथिवी आदि के बिना कैसे रह सकेगा? क्यों कि प्रलय में पृथिवी आदि का नाश माना गया है।

प्राणिनां प्रायदुःखा च, सिसृक्षाऽस्य न युज्यते।
(श्लो० वा० ५।४९)

साधनं चास्यधर्मादि, *तदा किञ्चिन्न विद्यते ।
न च निस्साधनःकर्त्ता, कश्चित्सृजति किञ्चन ॥
(श्लो॰ वा॰ ४।५॰)

अर्थ—यह जगत् दुःख प्राय है। इसलिए हितेच्छु पुरुष को प्राणियों को दुःख देनेवाली सृष्टी बनाने की इच्छा करना ही उचित नहीं है। यदि इच्छा हो गई तो भी विना साधन के केवल इच्छा से कार्य नहीं हो सकता। यदि प्राणियों के धर्माधर्मादि को साधन माना जाय तो वह भी नष्ट हो जाने से प्रलय काल में नहीं रह सकता। कर्त्ता कितना ही समर्थ क्यों न हो मगर साधन के विना इच्छामात्र से कार्य नहीं कर सकता।

नाधारेण विना सृष्टि-रूर्णनाभेरपीष्यते ।
प्राणिनां भक्षणाच्चापि, तस्य लाला प्रवर्तते ॥
(श्लो॰ वा॰ ४।४१)

अर्थ—अदृष्ट धर्माधर्म भी रह सकता है किन्तु दृष्टसाधन के विना केवल धर्माधर्म मात्र से कार्य नहीं बन सकता। कुम्भकार भी दृष्टसाधन मृत्तिका आदि तय्यार हो तभी घट वगैरह बनाने के लिए प्रवृत्ति करता है। मिट्टी के विना केवल अदृष्ट पर आधार रखकर प्रवृत्त नहीं होता। मकड़ी का दृष्टान्त देकर यदि यों कहो कि वह दृष्ट साधन के विना ही मुख में से लार निकाल कर लम्बी-लम्बी जाल बना लेती है उसी प्रकार प्रजापति भी दृष्ट साधन के विना ही केवल अदृष्ट से सृष्टि बना सकता है तो यह कथन भी ठीक नहीं है। क्योंकि मकड़ी मक्खी आदि का भक्षण करती है और उसीसे लार

उत्पन्न होती है जिससे वह जाल बनाती है। यह भी दृष्ट साध न से लार बनाती है। अतः इस दृष्टान्त में साम्य नहीं है।

अभावाच्चानुकम्प्यानां, नानुकम्पाऽस्य जायते।
सृजेच्च शुभमेवेक—मनुकम्पा प्रयोजितः॥
(श्लो० वा० ५। ५२)

अर्थ—यदि ऐसा कहो कि प्राणियों की अनुकम्पा से प्रजापति को सृष्टि उत्पन्न करने की इच्छा उत्पन्न हुई है तो यह भी ठीक नहीं है। अनुकम्पा दुःखनिमित्तक होती है। अशरीरी आत्मा को मुक्तात्मा के समान दुःख ही नहीं है तो अनुकम्पा किस पर होगी? दुःखी के दुःख को देखकर के ही अनुकम्पा होती है। जहाँ दुःखी ही नहीं है अर्थात् अनुकम्पा करने लायक कोई जीव ही नहीं है वहाँ प्रजापति की अनुकम्पा घटित नहीं हो सकती। यदि भविष्य के दुःख के लिए अनुकम्पा स्वीकार करो तो उस अनुकम्पा से सृष्टि सुखमय ही बनाना चाहिए था। किन्तु ऐसा नहीं है। प्रथम ही कहा है कि यह सृष्टि 'प्रायदुःखा' दुःखमय है। इसलिए अनुकम्पा भी सृष्टि का कारण नहीं है।

अथाशुभाद्विना सृष्टिः, स्थितिर्वा नोपपद्यते।
आत्माधीनाभ्युपाये हि, भवेत्किंनाम दुष्करम्॥
तथाचापेक्षमाणस्य, स्वातन्त्र्यं प्रतिहन्यते।
जगच्चासृजतस्तस्य, किं नामेष्टं न सिद्ध्यति॥
(श्लो० वा० ५। ५३। ५४)

अर्थ—यदि ऐसा कहो कि दुःख के बिना सुख की सृष्टि या स्थिति घटित नहीं होती है तो यह भी ठीक नहीं। जिसके सभी उपाय आत्माधीन हैं उसके लिए दुष्कर कार्य क्या हो सकता है? यदि प्रजापति को दूसरे की अपेक्षा रखनी पड़ती है तो

उसका स्वतंत्रपना नहीं टिक सकता । प्रजापति यदि जगत् को न बनाये तो क्या उसकी इष्ट सिद्धि रुक जायगी ?

प्रयोजनमनुद्दिश्य, न मन्दोपि प्रवर्तते ।
एवमेव प्रवृत्तिश्चे चैतन्येनास्य किं भवेत् (२ । ५ वे २)

क्रीडार्थायां प्रवृत्तौच, विहन्येत कृतार्थता ।
बहुव्यापारतायां च, क्लेशो बहुतरो भवेत् (२ । ५६)

अर्थ—मन्द बुद्धि वाला भी प्रयोजन के बिना कुछ प्रवृत्ति नहीं करता। प्रजापति यदि प्रयोजन के विना यों ही प्रवृत्ति करता है तो उसके चैतन्य का क्या फल होगा ? क्रीडा या लीला के लिए यदि प्रजापति की सृष्टि-प्रवृत्ति मानोगे तो उसकी कृतार्थता नष्ट हो जायगी। और क्रीडा भी कैसी ? जगत्-अनन्त-ब्रह्माण्ड की रचना करने में इतना अधिक व्यापार करना पड़ता है कि आराम के वजाय क्लेश ही अधिक होना संभवित है।

संहारेच्छापि नैतस्य, भवेदप्रत्ययात्पुनः ।
न च कैश्चिदसौ ज्ञातुं, कदाचिदपि शक्यते ॥
(श्लो० वा० ५।५७)

अर्थ—सिसृक्षा-सर्जन करने की इच्छा-की तरह संहारेच्छा का भी कोई प्रयोजन नहीं दिखाई देता। प्राणियों की अनुकम्पा तो संहारेच्छा का प्रयोजन नहीं बन सकती। अनुकम्पा का फल रक्षण करना तो संभवित हो सकता है मगर संहार करना कभी भी सम्भव नहीं हो सकता। सिसृक्षा और संहारेच्छा परस्पर विरुद्ध हैं; इसलिए उनका अनुकम्पा रूप एक ही प्रयोजन संभवित नहीं हो सकता। प्रजापति का संहार

करने का कोई प्रयोजन किसी के भी ध्यान में नहीं आता है। अतः सृष्टि के समान प्रलय भी नहीं हो सकता। सृष्टि के पूर्व और संहार के पश्चात् कोई भी प्राणी नहीं रह सकता तो प्रजापति का सिसृक्षा और संहारेच्छा का प्रयोजन किसके ज्ञान का विषय होगा? निष्प्रयोजन अज्ञात वस्तु की कल्पना करना किस काम की?

न च तद्वचनेनैषां, प्रतिपत्तिः सुनिश्चिता।
असृष्ट्वापि ह्यसौब्रूया-दात्मैश्वर्यं प्रकाशनात्॥
(५।६०)

अर्थ—यदि ऐसा कहो कि अन्य कोई उपस्थित न था, किन्तु स्वयं प्रजापति तो विद्यमान था उसके कथनपर से प्रयोजन कार्य कारण भाव वगैरह का निर्णय हो जायगा। यह भी ठीक नहीं है। प्रजापति का वचन यथार्थ ही है, इसकी क्या प्रमाणता? अपना महात्म्य प्रदर्शित करने के लिए सृष्टि बनाये बिना ही मैंने सृष्टि बनाई है और इस कारण से बनाई है, ऐसा वह असत्य भाषण कर सकता है।

सृष्टि बोधक वेद भी प्रमाण नहीं है यह बताया जाता है

एवंवेदोपि तत्पूर्वं, स्तत्सद्भावादि बोधते।
साशङ्को न प्रमाण्यं स्या,न्नित्यस्य व्यापृतिः कुतः॥
(५-६१)

अर्थ—इस प्रकार यदि वेद भी प्रजापति-ब्रह्मा का कहा हुआ हो और उसी का सद्भाव भी बताता होतो वह पूर्वोक्त आशंका युक्त होने से प्रमाणरूप नहीं हो सकता। अर्थात्

प्रजापति ने अपना महात्म्य बताने के लिए वैसे वाक्य या प्रकरण की योजना की हो तो किसे खबर? सृष्टि बोधक प्रजापति के वचनों पर जिस प्रकार विश्वास नहीं होता, वैसे ही उसके वेद वाक्य पर भी विश्वास नहीं हो सकता। यदि वेद को प्रजापतिकृत नहीं किन्तु नित्य मानोगे तो आकाशादि की तरह नित्य वस्तु में व्यापार का संभव नहीं हो सकता। शब्दात्मक वेद की नवीन अर्थ के साथ सम्बन्ध योजना करना ही उसका व्यापार है। ऐसा व्यापार नित्य वेद में सम्भवित नहीं हो सकता।

व्यापार नहीं हो सकता तो क्या हो सकता है?
यह बताया जाता है—

यदि प्रागप्यसौतस्मा दर्थादासीन्न तेन सः।
सम्बद्ध इति तस्यान्य-स्तदर्थो ऽन्यप्ररोचना ॥ (५-६२)

अर्थः—सृष्टि या प्रजापति के पूर्व भी यदि वेद विद्यमान थे अर्थात् वेद अनादि नित्य हैं, तो उन वेदों का अपने में कहे हुए पदार्थ के साथ सम्बन्ध था या नहीं? यदि था तो वह पदार्थ भी होना चाहिए। पदार्थ के बिना सम्बन्ध कैसे हो सकता है! पदार्थ था तो वह भी वेद की तरह अनादि नित्य सिद्ध हो गया। सिद्ध की क्या सृष्टि! सिद्ध पदार्थ को बनाने से सिद्ध साधन दोष प्राप्त होगा। यदि कहो कि सम्बन्ध नहीं था तो नित्य वेद के साथ नवीन पदार्थ का नया सम्बन्ध होना अशक्य है, क्योंकि नित्य पदार्थ में व्यापार नहीं है। इसलिए "स प्रजापशूनजसृत" इत्यादि श्रुतियों का यथाश्रुत अर्थ न करके स्तुतिरूप अन्य अर्थ करना पड़ेगा। अर्थात् इन वाक्यो

का अर्थ प्रजापति ने सृष्टि बनाई ऐसा यथाश्रुत नहीं, किन्तु प्रजापति की स्तुति रूप अर्थवाद है ऐसा समझना चाहिए।

सृष्टि का खण्डन करके प्रलय का खंडन किया जाता है—

प्रलयेपि प्रमाणं नः, सर्वोच्छेदात्मके न हि।
न च प्रयोजनं तेन, स्यात्प्रजापतिकर्मणा ॥ (५-६८)

अर्थ—समग्र वस्तु के उच्छेदरूप प्रलय के सद्भाव में भी कोई प्रमाण नहीं दिखाई देता है। सृष्टि बनाने में जैसे प्रजापति का कोई प्रयोजन न था, वैसे ही संहार करने में भी उसका कोई प्रयोजन नहीं दिखाई देता जिससे कि प्रजापति को संहार कार्य करना पड़े। बिना प्रयोजन के प्रेक्षावान् पुरुषों की प्रवृत्ति नहीं होती है।

न च कर्मवतां युक्ता, स्थितिस्तद्भोगवर्जिता।
कर्मान्तरनिरुद्धं हि, फलं न स्यात् क्रियान्तरात् ॥ (५-६६)

अर्थ—कर्मयुक्त जीवों का कर्म फल भोगे बिना यों का यों पड़े रहना कतई घटित नहीं होता है। जिस जिस कर्म का जब जब परिपाक होगा तब-तब उसका फल अवश्य ही भोगना पड़ेगा। उस फल को कौन रोक सकता है! ईश्वरकी संहारेच्छा उसको रोकदेगी यह कथन भी ठीक नहीं है। किसी की क्रिया किसी के कर्मफल को रोके यह सम्भवित नहीं है।

सर्वेषां तु फलापेतं, न स्थानमुपपद्यते।
न चाप्यनुपभोगोऽसौ, कस्यचित्कर्मणः फलम् ॥ (५।७०)

अर्थ—इस जगत् में ऐसा कोई स्थान नहीं है कि जहाँ सर्व प्राणियों का कर्म फलशून्य हो जाय। किसी भी प्राणी का ऐसा कोई कर्म नहीं है कि जिस के फल स्वरूप सर्वजीवों के भोग्य कर्म का भोग एक दम रुक जाय।

अशेषकर्म नाशे वा, पुनः सृष्टिर्न युज्यते।
कर्मणां वाऽप्यभिव्यक्तौ, किंनिमित्तं तदा भवेत्॥ (५–७१)

अर्थ—प्रलयवादी शायद यों कहें कि प्रलय में जैसे सब वस्तुओं का नाश हो जाता हैं वैसे ही जीवों के शुभाशुभ कर्मों का भी नाश हो जाता है, इसलिए फलोपभोग की चिन्ता कहाँ रही? यह कथन भी उपयुक्त नहीं है। यदि कर्मों का नाश हो जाता है तो प्रलय के पश्चात् दूसरी सृष्टि नहीं बन सकती। एक प्रलय सदा के लिए प्रलय ही बना रहेगा। यदि ऐसा कहो कि कर्मों का नाश नहीं किंतु तिरोभाव हो जायगा। प्रलयकाल पूर्ण हो जाने पर पुनः आविर्भाव हो जायगा और दूसरी सृष्टि उत्पन्न हो जायगी। तो यह कथन भी योग्य नहीं है। कारण के बिना कार्य का संभव नहीं होता है। यह तो बताओ कि तिरोभूत कर्मों का आविर्भाव किस निमित्त से होगा?

ईश्वरेच्छा यदीष्येत, सैव स्याल्लोककारणम्।
ईश्वरेच्छावशित्वे हि, निष्फला कर्मकल्पना॥ (५-७२)

अर्थ—कर्म के आविर्भाव में ईश्वर की इच्छा को ही कारण बताओगे तो ईश्वर की इच्छा से ही जगत् उत्पन्न हो जायगा। ईश्वर की इच्छा से ही यदि सब कार्य बन जाते हों तो बीच में

कर्म के आविर्भाव की कल्पना करना निरर्थक है। यदि वादी इस कथन में इष्टापत्ति करले तो उसे रोकते हैं—

न चानिमित्तयायुक्त-मुत्पत्तुं हीश्वरेच्छया।
यद्वा तस्यानिमित्तं य त्तद्भूतानां भविष्यति ॥ (४-७३)

अर्थ—असली बात तो यह है कि स्वयं ईश्वर को इच्छा भी विना निमित्त के उत्पन्न नहीं हो सकती। ईश्वरेच्छा को नित्य नहीं मान सकते। नित्य मान लेने से हमेशा सृष्टि हुआ करेगी। कादाचित्क-अनित्य मानने पर उसकी उत्पत्ति का कोई निमित्त मानना ही पड़ेगा। जो निमित्त माना जाय उसी से कर्मों का आविर्भाव क्यों न माना जाय? बीच में अन्तर्गडुक समान ईश्वरेच्छा को निमित्त मानने का क्या प्रयोजन है?

नैयायिकों का पूर्वपक्ष

सन्निवेशविशिष्टाना-मुत्पत्तिं गों गृहादिवत्।
साधयेच्चेतनाधिष्ठां, देहानां तस्य चोत्तरम् ॥ (४-७४)

अर्थ—आकृतिवाले पदार्थों की उत्पत्ति किसी चेतन अधिष्ठाता के विना नहीं हो सकती—जैसे मकान-घर वगैरह ईंट, चूना, लकड़ी, लोहा, पत्थर आदि के विद्यमान रहते हुए भी किसी कुशल कारीगर के विना नहीं बन सकते, वैसे ही शरीर भी सावयव होने से किसी कुशल कारीगर की कारीगरी के विना नहीं बन सकता। इससे यह अनुमान बनता है कि शरीर पहाड़, पर्वत, नदी वगैरह सावयव पदार्थों का उत्पन्न करने-

वाला कोई महान् व्यक्ति होना चाहिए। वही व्यक्ति ईश्वर है कि जिसके अधिष्ठातृत्त्व के नीचे सम्पूर्ण जगत् बनता है और उसका व्यवहार चलता है।

मीमांसकों का उत्तर

कस्यचिद्धेतुमात्रत्वं, यद्यधिष्ठातृतेष्यते।
कर्मभिः सर्वजीवानां, तत्सिद्धेः सिद्धसाधनम्॥ (५-७५)

अर्थ—हे नैयायिको! अधिष्ठातृत्व का अर्थ यदि साध्य-साधक हेतु मात्र करोगे तो सर्वजीवों के कर्म से उन उन शरीरादि की उपपत्ति हो जायगी। कर्म से सिद्ध-बने हुए को ईश्वरेछा से सिद्ध करना चाहते हो इसलिए सिद्ध साधन नामक दोष का यहाँ प्रसङ्ग आयगा।

इच्छा पूर्वकपक्षेऽपि, तत्पूर्वत्वेन कर्मणाम्।
इच्छानन्तरसिद्धिस्तु, दृष्टान्तेपि न विद्यते॥ (५-७६)

अर्थ—नैयायिक ईश्वर की इच्छापूर्वक हरएक कार्य होता है ऐसा मानता है। किन्तु वह भी इच्छा के बाद में कर्म को तो कारण मानता ही है। इच्छामात्र से तो कार्य नहीं बन जाता। उसने जो मकान का दृष्टान्त दिया है वह भी कारीगर की इच्छामात्र से तय्यार नहीं हो जाता-कारीगर, मजदूर आदि के प्रयत्न-चेष्टा-कर्म से तय्यार होता है। तुम्हारा साध्य दृष्टांत में भी नहीं रहता है इसलिए यह अनुमान क्या सिद्ध करेगा? अतः हे नैयायिको! कर्म को ही जगत् का कारण मानो जिससे सब कार्य सिद्ध हो जाते हैं। कर्मद्वारा सिद्ध हुए को ईश्वरेच्छा

द्वारा सिद्ध करके सिद्धसाधन दोष प्राप्त करने में क्या लाभ है ?

नैयायिकों के अनुमान में दूसरा दोष दिखाया जाता है—

अनेकान्तश्च हेतुस्ते, तच्छरीरादिना भवेत् ।
उत्पत्तिमान् न तद्देहो, देहत्वादस्मदादिवत् ॥ (९·७७)

अर्थ—नैयायिकों से पूछना चाहिए कि जिस ईश्वर को तुम कर्त्तारूप से स्वीकार करते हो वह शरीर सहित है या शरीर रहित है ? शरीर सहित है तो शरीर आकृति और अवयव से युक्त होने से उसका बनाने वाला कोई कुशल कारीगर—चेतनान्तर-होना चाहिए। अन्य चेतनान्तर है नहीं; इसलिए साध्य बिना हेतु रह जाने से हेतु अनेकान्त-व्यभिचारी हुआ और इसलिए अनुमान भी दूषित हो गया। यदि इस प्रकार कहो कि ईश्वर का शरीर उत्पत्ति वाला नहीं है किन्तु नित्य है तो यह बात भी उचित नहीं है। आकृतिवाला सावयव शरीर हम लोगों के शरीर के समान उत्पत्ति वाला ही हो सकता है नित्य नहीं हो सकता क्योंकि देहत्व दोनों में एक समान है।

अथ तस्याप्यधिष्ठानं, तेनैवेत्यविपक्षता ।
अशरीरो ह्यधिष्ठाता, नात्मा मुक्तात्मवद्भवेत् ॥ (९·७८)

अर्थ—ईश्वर के शरीर का अधिष्ठान ईश्वर ही है। अर्थात् यदि ईश्वर को ही ईश्वर के शरीर का अधिष्ठाता मानोगे तो वह शरीर चेतनाधिष्ठित हो जाने से साध्याभाववत्ता रूप विपक्षता न

रही और इसलिए अनेकान्त दोष का परिहार हो जायगा। यह बात सत्य है किन्तु उस शरीर के बनने के पूर्व ईश्वर अशरीरी रहेगा और अशरीरी होने से मुक्तात्माओं के समान अधिष्ठाता नहीं बन सकता। इसलिए विपक्षता तो खड़ी ही है।

> कुम्भकाराद्यधिष्ठानं, घटादौ यदि चेष्यते।
>
> नेश्वराधिष्ठितत्वंस्या-दस्तिचेत् साध्यहीनता॥ (९-७९)

अर्थ—नैयायिक को पूछिये कि घट आदि कार्य कुम्भकाराधिष्ठित है या ईश्वराधिष्ठित है? यदि कुम्भकाराधिष्ठित मानो तो ईश्वराधिष्ठितत्व उसमें नहीं रह सकता। कुम्भकार की अपेक्षा से ही चेतनाधिष्ठितत्व रूप साध्यसिद्ध हो जाता है तो फिर ईश्वराधिष्ठितत्व मानने पर सिद्ध साधन दोष होगा। इसी प्रकार घटादि की तरह देहादिक में भी ईश्वराधिष्ठितत्व सिद्ध नहीं हो सकता।

> यथा सिद्धे च दृष्टान्ते, भवेद्धेतो विरुद्धता।
>
> अनीश्वर विनाश्यादि-कर्तृमत्त्वं प्रसज्यते॥ (९-८०)

अर्थ—घटादिक जिस प्रकार अल्पज्ञ, अनीश्वर और विनाशी कुम्भकारादिक से उत्पन्न होते हैं उसी प्रकार देहादिक भी अल्पज्ञ, अनीश्वर और विनाशी प्राणी से उत्पन्न हो जायंगे। घटादिक दृष्टान्त वाले अनुमान में, ईश्वराधिष्ठितत्व रूप साध्य के अभाव का साधक हेतु होने से विरुद्धहेत्वाभास नामक

दोष प्राप्त होता है और इसलिए अनुमान दूषित होजाता है। अतः जगत् ईश्वर कर्तृक सिद्ध नहीं होता है। यदि घट के ईश्वर और कुम्भकार दोनों को कर्त्ता मानोगे तो देहादिक के भी अनेक कर्त्ता सिद्ध होंगे। एक ही ईश्वर कर्त्ता है यह सिद्ध न होगा।

कुलालवच्च नैतस्य, व्यापारो यदि कल्पते।
अचेतनः कथं भाव-स्तदिच्छामनुरुध्यते ॥ (५-८१)
तस्मान्न परमाण्वादेरारंभः स्यात्तदिच्छया।

अर्थ—यदि ईश्वर को अशरीरी मानोगे और कुम्भकारादिक की तरह व्यापारप्रयत्न न मानोगे तो भी अचेतन परमाणु आदि ईश्वर की इच्छा का किस प्रकार अनुसरण करेंगे। ईश्वर में प्रयत्न नहीं है और अचेतन परमाणु आदि में ज्ञान नहीं है। ईश्वर की इच्छा से परमाणु आदि की प्रवृत्ति संभवित नहीं हो सकती; अतः जगत् को अनादि मानलो, यह नैयायिकों के प्रति कुमारिलभट्ट का उत्तर है।

सृष्टि और ईश्वर के सम्बन्ध में सांख्यसूत्र का अभिप्राय

सांख्यसूत्रकार कपिल मुनि ईश्वर में प्रत्यक्षप्रमाणरूप लक्षण की अव्याप्ति की शंका करते हुए कहते हैं कि—

ईश्वरासिद्धेः ॥ (सां० द० १। ९२)

अर्थ—ईश्वर के अस्तित्व में कोई प्रमाण नहीं है। अर्थात् ईश्वर ही किसी प्रमाण से सिद्ध नहीं होता है तो अव्याप्ति की शंका ही कहाँ रही? नैयायिक कहते हैं कि "क्षित्यादि सकर्तृकं कार्यत्वात्" पृथिवी आदि का कोई कर्त्ता होना चाहिये क्योंकि

वह कार्य रूप है घटादिवत्। यह अनुमान प्रमाण ईश्वर की सिद्धि करता है। इसलिए हे सांख्यो! तुम जो ईश्वर की असिद्धि कहते हो वह ठीक नहीं है। इसके उत्तर में सांख्य कहते हैं कि अहो नैयायिको! तुम जिस ईश्वर को कर्त्तारूप से स्वीकार करते हो वह शरीर युक्त है या शरीर रहित है? यदि शरीर सहित मानोगे तो सामान्यजीव के समान सर्वज्ञ न होने से जगत् का कर्त्ता नहीं बन सकता। और यदि अशरीरी मानोगे तो मुक्तात्मा के समान अकर्त्ता होने से जगत् कर्त्तृत्व की उपपत्ति नहीं हो सकती। स्वयं सूत्रकार ही ईश्वर की असिद्धि के लिए युक्त्यन्तर बताते हैं—

मुक्तबद्धयोरन्यतराभावान्न तत्सिद्धिः॥

(सां० द० १।९३)

अर्थ—जगत् में पुरुष-आत्मा दो प्रकार की हैं बद्ध और मुक्त। तुम्हारा माना हुआ ईश्वर मुक्त में गिना जाय या बद्ध में? यदि मुक्त में गिनोगे तो मुक्त में ज्ञान, चिकीर्षा और प्रयत्न का अभाव होने से कर्त्तृत्व सिद्ध नहीं हो सकता और यदि बद्ध में गिनोगे तो धर्म अधर्म का योग होने से ईश्वरपन नहीं रह सकता।

सृष्टिवाद और योग दर्शन

पतञ्जलि ऋषिके योगदर्शन में यद्यपि ईश्वर स्वीकार किया हुआ है पर वह सृष्टिकर्त्तारूपसे नहीं किन्तु आत्म शुद्धि के साधन रूप से स्वीकार किया हुआ है। देखिये—

क्लेशकर्मविपाकाशयैरपरामृष्टः पुरुषविशेष ईश्वरः ।

(यो० सू० १।२४)

अर्थ—क्लेश, कर्म, विपाक और आशय से जिसका परा-मर्श-स्पर्श नहीं हो सकता ऐसा पुरुषविशेष ईश्वर है।

तत्र निरतिशयं सर्वज्ञत्वबीजम् ।

(यो० सू० १।२५)

अर्थ—उसमें निरतिशय-सर्वोत्कृष्ट ज्ञान होने से वह सर्वज्ञ है।

स पूर्वेषामपि गुरुः कालेनानवच्छेदात् ।

(यो० सू० १।२६)

अर्थ—अवतार रूपसे माने हुए अन्य राम कृष्णादि से वह ईश्वर गुरु-महान है क्यों कि वह कालसे अवच्छिन्न नहीं है अर्थात् अनादि है।

तस्य वाचकः प्रणवः ।

(यो० सू० १।२७)

अर्थ—उस ईश्वर का वाचक प्रणव-ओंकार शब्द है।

तज्जपस्तदर्थभावनम् ।

(यो० सू० १।२८)

अर्थ—प्रणव का जप करना चाहिए और उसके अर्थ की भावना करनी चाहिए।

ततः प्रत्यक् चेतनाधिगमोऽप्यन्तरायाभावश्च ।

(यो० सू० १।२९)

अर्थ—जप और भावना से शरीरस्थ आत्मा का भान होता है और साथ ही अन्तराय दूर हो जाते हैं। इससे मन निर्विघ्नतया समाधि में लग जाता है।

वैशेषिक दर्शनकार कणाद ने न तो ईश्वर को स्वीकार ही किया है और न निषेध ही। चुपकी साधी है। कणाद परमाणुवादी है। परमाणुओं के संघात से जगत् का चय अपचय होता रहता है। बीच में जगत् कर्त्तारूप ईश्वर की आवश्यकता उसने स्वीकार नहीं की है।

यह बात पहले कही जा चुकी है कि न्यायदर्शनकार गौतम ऋषिने स्वयं सृष्टिकर्त्ता रूप से ईश्वर का समर्थन नहीं किया है किन्तु भाष्यकार वात्सायन ने ईश्वरवाद को अपनालिया है। पीछे के ग्रन्थकारों ने अपने अपने ग्रन्थों में ईश्वरवादका विस्तार किया है और इसीलिए नैयायिकों को ईश्वरवाद के पूर्वपक्षी रूप से उल्लेख करते आये हैं। अस्तु; बौद्धदर्शन और जैन दर्शन ने सृष्टिवाद का जोर-शोर से प्रतिवाद किया है। इन में पहले बौद्ध दर्शन का निरीक्षण करते हैं—

सृष्टिवाद और बौद्ध दर्शन

तत्त्वसंग्रहकार 'शान्ति रक्षित ने नैयायिकों का पूर्व पक्ष इस प्रकार उपन्यस्त किया है—

सर्वोत्पत्तिमतामीशमन्ये हेतुं प्रचक्षते ।
नाचेतनं स्वकार्याणि, किल प्रारभते स्वयं ॥

(त० सं० ४६)

अर्थ—नैयायिक ईश्वर को उत्पत्तिवाले सर्व पदार्थों का कारण मानता है और इसके समर्थन में कहता है कि अचेतन धर्माधर्मादिक अपनी इच्छा से स्वयं अपना-अपना कार्य नहीं कर सकते, उनको प्रेरणा करने वाला दूसरा कोई होना चाहिये जो प्रेरणा करने वाला है वही ईश्वर है। ईश्वर की सिद्धि के लिए नैयायिक जो अनुमान प्रमाण देते हैं वह यह है—

यत्स्वारम्भकावयव-सन्निवेशविशेषवत् ।
बुद्धिमद्धेतुगम्यंत-त्तद्यथाकलशादिकम् ॥
द्वीन्द्रियग्राह्यमग्राह्यं, विवादपदमीदृशम् ।
बुद्धिमत्पूर्वकं तेन, वैधर्म्येणाणवो मता: ॥

(त० सं० ४७।४८)

भावार्थ—चक्षु और स्पर्श इन दो इन्द्रियों से ग्राह्य-पृथिवी, जल और तेज ये तीनों, तथा इनसे अग्राह्य वायु, इन चारों पदार्थों में जो विवादास्पद हों अर्थात् कर्तृत्व विषयक जिनमें मतभेद हों, उन को यहाँ पक्षरूप से रक्खा है-माना है। घटपट आदिको पक्ष कोटि में गिनें तो सिद्ध साधन दोष प्राप्त होता है, क्योंकि उनमें बुद्धिमत् पूर्वकत्व वादी प्रतिवादी दोनों के मत से सिद्ध है। उसको पुनः सिद्ध करने की क्या आवश्यकता है ?

इसलिए पक्ष को "विवादास्पद" यह विशेषण लगाया गया है। 'बुद्धिमत्पूर्वकम्' यह साध्य है। 'स्वारम्भावयवसन्निवेशविशिष्टत्वात्' यह हेतु है। 'यथाकलशादिकम्' यह दृष्टान्त है। 'अणवः' यह वैधर्म्य दृष्टान्त है यानी व्यतिरेकी दृष्टान्त है। अर्थात् पृथिवी आदि सावयव पदार्थ बुद्धिमान् कर्त्ता द्वारा बने हैं क्योंकि आकृति विशिष्ट हैं। जैसे घट, कलशादिक। जो वैसी विशिष्ट आकृतिवाले नहीं हैं वे बुद्धिमत् कर्तृ जन्य भी नहीं हैं। जैसे परमाणु। यह व्यतिरेकी दृष्टान्त है। इस अनुमान को नैयायिक ईश्वर की सिद्धि के लिए प्रमाण रूप बताते हैं।

नैयायिकों का दूसरा प्रमाण

तन्वादीनामुपादानं, चेतनावदधिष्ठितम्।
रूपादिमत्वात्तन्त्वादि, यथा पटं स्वकार्यकृत्॥

(त० सं० ४६)

अर्थ—तन्वादि-शरीरादि, उनका उपादान कारण परमाणु आदि यह पक्ष है। 'चेतनावदधिष्ठितं स्वकार्यकृत्' यह साध्य है और 'रूपादिमत्वात्' यह हेतु है। तन्तु आदि दृष्टान्त है। वे इस दूसरे अनुमान प्रमाण को ईश्वर का साधक बताते हैं। अर्थात् पटादि के उपादान कारण तन्तु अपनी ओर से स्वयं पटरूप में परिणत नहीं होते; किन्तु जैसे उनको बुनने के लिए चेतना वाला तन्तुकार होता है वैसे ही परमाणु स्वयं अपनी इच्छा से शरीर रूप परिणत नहीं होते, किन्तु उनकी योजना

करने वाला कोई सचेतन होना चाहिए। जो योजना करने वाला है, वही ईश्वर है।

न्यायाचार्य उद्योतकार का प्रथम प्रमाण

धर्माधर्माणवः सर्वे, चेतनावदधिष्ठिताः
स्वकार्यारम्भकाः स्थित्वा, प्रवृत्तेस्तुरीतन्तुवत् ॥

(त० सं० ४०)

अर्थ—"सर्वे धर्माधर्माणवः" यह पक्ष है। 'चेतनावदधिष्ठिता स्वकार्यारम्भकाः' यह साध्य है। 'स्थित्वा प्रवृत्तेः' यह हेतु है। और 'तुरी तन्तुवत्' यह दृष्टान्त है। अर्थात् तुरीतन्तु की रह रह करके जो प्रवृत्ति होती है वह प्रवृत्ति कार्यजनक तभी हो सकती है, जब कि उसके ऊपर कोई न कोई चेतनावाला अधिष्ठाता हो। उसी प्रकार धर्म-अधर्म और परमाणुओं में रह-रह करके जो नियतकाल में प्रवृत्ति होती है वह कार्यसाधक तभी हो सकती है, जब कि उनके ऊपर कोई चेतना वाला अधिष्ठाता हो। यह अधिष्ठाता ईश्वर के बिना अन्य नहीं हो सकता; अतः इस अनुमान से ईश्वर की सिद्ध हो जाती है। यह उद्योतकार का अभिप्राय है।

उद्योतकार का दूसरा प्रमाण

सर्गादौ व्यवहारश्च, पुंसामन्योपदेशजः।
नियतत्वात्प्रबुद्धानां, कुमारव्यवहारवत् ॥ (त० सं० ४१)

अर्थ—'सर्गादौ पुंसां व्यवहारः' यह पक्ष है। 'अन्योप-

देशजः' यह साध्य है। 'नियतत्वात्' यह हेतु है। 'कुमारव्यवहारवत्' यह दृष्टान्त है। अर्थात् सृष्टि की आदि में जो पुरुषों का व्यवहार होता है, वह किसी के उपदेश से होता है क्योंकि नियमित है। जैसे कि कुमारों का व्यवहार वृद्धों के उपदेश के अनुसार होता है। सर्ग-सृष्टि की आदि में व्यवहार सिखाने वाला ईश्वर है। इसके अतिरिक्त अन्य कोई नहीं हो सकता; अतः व्यवहार शिक्षक रूप से ईश्वर की सिद्धि हो जाती है।

उद्योतकार का तीसरा प्रमाण

महाभूतादिकं व्यक्तं, बुद्धिमद्धेत्वधिष्ठितम्।
याति सर्वस्य लोकस्य, सुखदुःखनिमित्तताम्॥
अचेतनत्वकार्यत्व-विनाशित्वादि हेतुतः।
वास्यादिवदतस्स्पष्टं, तस्य सर्वं प्रतीयते॥

(त० सं ५२-५३)

अर्थ—'महाभूतादिकं' यह पक्ष है। 'बुद्धिमद्धेत्वधिष्ठितं सत् सर्वस्य लोकस्य सुखदुःखनिमित्ततां याति' यह साध्य है। 'अचेतनत्वात् कार्यत्वात् विनाशित्वात्' इत्यादि हेतु हैं। 'वास्यादिवत्' यह दृष्टान्त है। अर्थात् जैसे बसोला आदि औजार किसी बुद्धिमान पुरुष के हाथ में आवें तभी अनुकूल या प्रतिकूल कार्य हो सकता है। वैसे ही महाभूतादिक किसी बुद्धिमान् की चेतना से अधिष्ठित हों तभी सुखदुःखादि के निमित्त हो सकते हैं। क्योंकि वे अचेतन हैं, कार्य रूप हैं, विनाशी हैं। अतः उनकी योजना करनेवाला कोई होना चाहिये। जो योजना करने

वाला है वही ईश्वर है। इस प्रकार ईश्वर सिद्धि के लिए उद्योत कार के तीन प्रमाण हैं।

बौद्धों का उत्तर पक्ष

तत्त्वसंग्रहकार शान्तिरक्षित जी उक्त प्रमाणों में हेत्वाभास रूप दूषण क्रमशः दिखाते हैं—

> तदत्रसिद्धता हेतोः, प्रथमे साधने यतः।
> सन्निवेशो न योगाख्यः, सिद्धो नावयवी तथा॥
> दृश्यत्वेनाभ्युपेतस्य, द्वयस्यानुपलम्भनात्।
> साधनानन्वितं चेद—मुदाहरणमप्यतः॥

(त० सं० ४६।५७)

अर्थ—उक्त प्रयोगों में जो प्रथम 'स्वारम्भकावयवसन्निवेशविशिष्टत्वात्' इस हेतुवाला प्रयोग है वह असिद्ध दोष से दुष्ट है। उक्त हेतु में दो टुकड़े हैं,एक सन्निवेश और दूसरा सन्निवेश विशिष्ट अवयवी। सन्निवेश का अर्थ अवयव संयोग करोगे, किन्तु संयोगरूप संनिवेश और अवयवी इन दोनों में से एक भी सिद्ध नहीं है। शान्ति रक्षित नैयायिकों को कहते हैं कि तुम्हारे मत से संयोग और संयोग विशिष्ट अवयवी का चाक्षुष प्रत्यक्ष होना चाहिए, किन्तु रूप के सिवाय संयोग या संयोगविशिष्ट अवयवी किसी की भी उपलब्धि नहीं होती है। जो कुछ भी उपलब्ध होता है वह मात्र रूप है। हेतु उपलब्ध न होने से असिद्धहेत्वाभास नामक दोष प्राप्त होता है,

अतः उक्त अनुमान निष्फल है। दूसरी बात कलशादि का जो उदाहरण दिया गया है, वह भी साधन विकल है, क्योंकि कलशादि में रूप के सिवाय, संयोग या संयोगविशिष्ट अवयवी कोई नहीं पाया जाता।

स्वरूपासिद्धि बताकर अब आश्रयैकदेशासिद्धि बताई जाती है—

चक्षुः स्पर्शन विज्ञानं, भिन्नाभमुपजायते।
एकालम्बनता नास्ति, तयोर्गन्धादिवित्तिवत ॥

(त० सं० ५८)

अर्थ—द्वीन्द्रियग्राह्य-अग्राह्य जो पक्ष कहा गया है उसमें द्वीन्द्रियग्राह्य वस्तु सिद्ध नहीं है क्योंकि चक्षुइन्द्रिय ज्ञान भिन्न है और स्पर्शन इन्द्रियज्ञान भिन्न है। दोनों ज्ञानों की विपयता भी भिन्न-भिन्न है। जिस प्रकार गन्धज्ञान, रसज्ञान भिन्न-भिन्न हैं और विपय भी दोनों का भिन्न-भिन्न है, उसी प्रकार दो इंद्रियों से ग्राह्य एक भी वस्तु उपलब्ध नहीं होती—प्रसिद्ध भी नहीं है — अतः आश्रयासिद्धि रूप हेत्वाभास दूपण प्राप्त होने से उक्त अनुमान निरर्थक है।

चतुर्थ असिद्धि बताई जाती है—

सन्निवेशविशिष्टत्वं, यादृग्देवकुलादिषु।
कर्त्तर्यनुपलब्धेपि, यद्दृष्टौ बुद्धिमद्गतिः ॥
तादृगेव यदीष्येत, तन्वगादिषु धर्मिषु।
युक्तं तत्साधनादस्मा-द्यथाभीष्टस्य साधनम् ॥

(त० सं० ६०-६२)

अर्थ—शान्तिरक्षित जी नैयायिकों को कहते हैं कि मन्दिर आदि में जिस प्रकार का सन्निवेश-संयोग विशेष दिखाई देता है कि जो कर्त्ता की अनुपलब्धि में भी देखने वाले को बुद्धिमान् कर्त्ता का भान कराता है उसी प्रकार का संयोग विशेष यदि शरीर या पहाड़ आदि में होता तो इस साधन से इष्ट साध्य की साधना हो सकती। किन्तु दोनों के सन्निवेश में बहुत विलक्षणता है। वह बताई जाती है—

> अन्वय व्यतिरेकाभ्याम्, यत्कार्यं यस्य निश्चितम्।
> निश्चयस्तस्य तद् दृष्टा-विति न्यायो व्यवस्थितः॥
>
> सन्निवेशविशेषस्तु, नैवामीषु तथाविधः।
> न तु तर्वादिभेदेषु, शब्द एव तु केवलः॥
>
> तादृशः प्रोच्यमानस्तु संदिग्धव्यतिरेकताम्।
> आसादयति वल्मीके, कुम्भकार कृतादिषु॥
>
> (त० सं० ६३-६४-६५)

अर्थ—अन्वय और व्यतिरेक से जो कार्य जिससे निश्चित हो, उसको देखने से उसके कारण या कर्ता का निश्चय हो जाता है। यह न्याय व्यवस्थित है। जो संनिवेश विशेषण मन्दिर आदि में है वह शरीर, पहाड़, समुद्रादि में प्रसिद्ध नहीं है। तरुआदि के भेद में भी वह सन्निवेश विशेष नहीं है। केवल शब्द मात्र से सादृश्य नहीं आ सकता। यदि सन्निवेश सामान्य को हेतु माना जाय तो मृत्तिका विकार से घटादिक में कुम्भकारकृतत्व के समान उद्धई के वल्मीक (वंवी) में भी कुम्भकार कृतत्व की आशंका हो जायगी। इसलिए सन्निवेश

विशेष को हेतु मानने पर वैसा सन्निवेश शरीरादि में प्रसिद्ध न होने से असिद्धि दोष प्राप्त होता है और सन्निवेश सामान्य को हेतु मानने पर जहाँ साध्य नहीं है वहाँ भी हेतु रह जाने से अनैकान्तिक दोष प्राप्त होता है। दोनों प्रकार से अनुमान दूषित है।

वैधर्म्य दृष्टान्त से साध्य की अव्यावृत्ति

> अणुसंहतिमात्रं च, घटाद्यस्माभिरिष्यते।
> तत्कारकः कुलालादि—रणूनामेव कारकः॥
> न व्यावृत्तस्ततो धर्मः, साध्यत्वेनाभिवाञ्छितः।
> अणूदाहरणादस्मा-द्वैधर्म्येण प्रकाशितात्॥
>
> (त० सं० ७८-७९)

अर्थ—शान्तिरक्षित जी नैयायिकों से कहते हैं कि घटादि पदार्थ अणुओं का समूह रूप है, वह अलग अवयवी नहीं है, ऐसा हम मानते हैं। कुम्भार आदि घटादि के कर्त्ता नहीं हैं किन्तु अणुसंघात के ही कर्ता हैं। तुमने अनुमान में जो वैधर्म्य रूप से अणुओं का उदाहरण दिया है वह अब वैधर्म्यरूप नहीं रह गया है क्योंकि उसमें साध्यधर्म की व्यावृत्ति नहीं रही है। अतः वैधर्म्य रूप से बताया हुआ दृष्टान्त साधर्म्य-दृष्टान्त बन गया। अव्यावृत्त साध्यधर्मता वैधर्म्य दृष्टान्त का एक दोष है। इस दोष से अनुमान दूषित हो गया है अतः साध्य को सिद्ध नहीं कर सकता।

नैयायिक कहते हैं कि यदि हम विशेषरूप से साध्य बनाते तो उक्त दोष लगता मगर हम तो सामान्यरूप से बुद्धिमत्पूर्वकत्व

मात्र को साध्य बनाते हैं। उसके सिद्ध हो जाने पर सामर्थ्य से तरु आदि का कर्त्तारूप ईश्वर सिद्ध हो जायगा।। घटादिका कर्त्ता जिस प्रकार कुलाल प्रसिद्ध है उस प्रकार यहाँ दूसरा कोई कर्त्ता प्रसिद्ध नहीं है अतः सामर्थ्य से ईश्वर ही कर्त्ता सिद्ध हो जायगा।

इसके उत्तर में शान्तिरक्षित जी कहते हैं कि—

बुद्धिमत्पूर्वकत्वं च, सामान्येन यदीष्यते।
तत्र नैव विवादो नो, वैश्वरूप्यं हि कर्मजम्॥

(त० सं० ८०)

अर्थ—यदि सामान्यरूप से साध्य मानोगे तो हमें कोई प्रकार का विवाद नहीं है क्योंकि सारे लोक की विचित्रता प्राणियों के शुभाशुभ कर्म से जनित है। वृक्ष आदि के कर्त्तारूप से भी शुभाशुभ कर्म प्रसिद्ध हैं। उनके कर्त्तारूप से यदि ईश्वर को पुनः सिद्ध करोगे तो सिद्ध साधन दोष प्राप्त होगा। क्योंकि शुभाशुभ कर्म करने वाले जीव भी बुद्धिमान् हैं। अतः सामान्यरूप से सिद्ध करने का अनुमान भी दूषित है।

विशेषरूप से सिद्ध करते दो दोष प्राप्त होते हैं, उन्हें बताते हैं—

नित्यैक बुद्धि पूर्वत्व—साधने साध्य शून्यता।
व्यभिचारश्च सौधादे—र्बहुभिः करणे क्षणात्॥

(त० सं० ८१)

अर्थ— नित्यैक बुद्धि पूर्वकत्व को यदि साध्य बनाओगे तो साधर्म्य दृष्टान्त कलशादिक में साध्य शून्यता दोष आवेगा। क्योंकि घटकलशादिक नित्य बुद्धि वाले पुरुष से नहीं बने हैं। अनेक पुरुषों की बुद्धि से बनी हुई हवेली में हेतु का व्यभिचार दोष प्राप्त होगा। क्योंकि जहाँ साध्य नहीं है वहाँ हेतु रह जाता है।

प्रथम अनुमान में विस्तार से दोष दिखाकर अब द्वतीय अनुमान में संक्षेप से दोष दिखाये जाते हैं—

एतदेव यथायोग्य—मवशिष्टेषु हेतुषु।
योज्यं दूषणमन्यच्च, किञ्चिन्मात्रं प्रकाश्यते॥
(त० सं० ८२)

अर्थ—जो दोष पहले अनुमान में बताये गये हैं जैसे कि— असिद्धि, व्यभिचार, विरुद्ध, साध्यवैकल्य, सामान्य से सिद्ध-साधन, विशेषरूप से सिद्ध करते व्यभिचार आदि-वे ही दोष अन्य चार अनुमानों में लगभग उसी रूप में प्राप्त होते हैं उनकी यथा योग्य योजना कर लेनी चाहिए। कुछ विशेष दोष हैं वे बताये जाते हैं।

विमुखस्योपदेष्टृत्वं, श्रद्धागम्यं परं यदि।
वैमुख्यं वितनुत्वेन, धर्माधर्म विवेकतः॥
(त० सं० ८५)

अर्थ—उद्योतकार ने सृष्टि की आदि में व्यवहार शिक्षक के रूप में जो ईश्वर को सिद्ध करने के लिए अनुमान बताया

है वह ठीक नहीं है। क्योंकि ईश्वर में धर्माधर्म न होने से शरीर भी नहीं है। शरीर के अभाव से मुख का भी अभाव है। विना मुख के उपदेशकपना भी संभवित नहीं हो सकता। उपदेशक रूप में अन्य पुरुष की सिद्धि होने पर हेतु साध्याभाव का साधक हो जायगा और विरुद्धहेत्वाभास दोष होगा।

शान्तिरक्षित जी ईश्वर साधक प्रमाण में दोष बताकर के ईश्वर बाधक प्रमाण बताते हैं--

नेश्वरो जन्मिनां हेतु-रुत्पत्तिविकलत्वतः।
गगनाम्भोजवत्सर्व-मन्यथा युगपद्भवेत्॥

(त० सं० ८७)

अर्थ—जो ईश्वर स्वयं उत्पत्ति-जन्म रहित है, वह अन्य जन्य पदार्थों को उत्पन्न नहीं कर सकता। आकाश कमल के समान। पूर्ण सामर्थ्यवान् ईश्वर यदि अन्य पदार्थों को उत्पन्न करने लगेगा तो क्षणभर में ही सर्व पदार्थ उत्पन्न हो जायंगे। वसन्त ऋतु में ही वनस्पति फलती-फूलती है और चातुर्मास में ही वर्षा बरसती है, यह नहीं हो सकता। क्रम-क्रम से जो पदार्थ होते हैं उनके क्रम का भी भंग हो जायगा। वर्ष के बाद होने वाला कार्य प्रथम क्षण में ही हो जायगा। किन्तु ऐसा होना इष्ट नहीं है। यदि यों कहो कि धर्माधर्मादि सहकारी कारण के विलम्ब से क्रम-क्रम से कार्य होगा तो ईश्वर अपूर्ण सामर्थ्य वाला गिना जायगा क्योंकि सहकारियों की अपेक्षा रखता है। ईश्वर सर्वशक्तिमान् नहीं रह सकता।

येवाक्रमेण जायन्ते, ते नैवेश्वरहेतुकाः।
यथोक्त साधनोद्भूता जड़ानां प्रत्ययाइव॥

(त० सं०

अर्थ—जो पदार्थ क्रम-क्रम से उत्पन्न होते हैं वे ईश्वर से उत्पन्न नहीं हो सकते। पूर्वोक्त अनुमान से उत्पन्न होने वाले जड़-बेसमझ मनुष्यों के निर्णय के समान—अर्थात् जैसे जड़ पुरुष के निर्णय ईश्वर जन्य नहीं हैं वैसे ही क्रमिक पदार्थ भी ईश्वर जन्य नहीं हो सकते।

तेषामपि तदुद्भूतौ, विफला साधनाभिधा।
नित्यत्वादचिकित्स्यस्य नैव सा सहकारिणी॥
(त० स० ८६)

अर्थ—जड़ निर्णय भी (ईश्वर सत्र का निमित्त कारण होने से) ईश्वर जन्य हैं ऐसा मानकर दृष्टान्त की साध्यविकलता के दोष का निवारण करोगे तो पूर्वोक्त पाँचों अनुमानों का प्रयोग व्यर्थ हो जायगा। वे प्रयोग सहकारियों के होने पर सफल हो जायंगे ऐसा कहोगे तो यह भी ठीक नहीं है। क्या ईश्वर का स्वभाव पहले असमर्थ था जिसको बदलकर सहकारी ने समर्थ बनाया है? यदि ऐसा है तो ईश्वर की नित्यता और निरोगिता नहीं टिक सकतीं। अतः हे नैयायिको! ईश्वर को जगत् का कारण या जगत का कर्त्ता मानकर उसे दूषित और कमजोर बनाने की अपेक्षा जगत् का अकर्त्ता, निर्दोष और समर्थ ही रहने दो।

सुज्ञेषु किं बहुना ?

सृष्टिवाद और जैनदर्शन

सांख्य दर्शन के समान योगदर्शन के मूल सूत्रों में यद्यपि ईश्वर को सृष्टिकर्त्ता नहीं माना है किन्तु भाष्यकार और अन्य ग्रन्थकारों ने ईश्वर को कर्तृत्व और सुखदुःख प्रेरकत्व की उपाधि लगा दी है। शास्त्रवार्तासमुच्चयकार श्री हरिभद्र-सूरि ने उसका निराकरण इस प्रकार किया है।

पातञ्जलों के ईश्वर का स्वरूप

ज्ञानमप्रतिघं यस्य, वैराग्यं च जगत्पते:।
ऐश्वर्यं चैव धर्मश्च सहसिद्धं चतुष्टयम्॥
(शा० वा० स० ३, २)

अर्थ—जिसका ज्ञान अप्रतिहत-व्यापक और नित्य होता है, जिसके वैराग्य-माध्यस्थभाव-वीतराग भाव, ऐश्वर्य-स्वातन्त्र्य और प्रयत्न-संस्कार रूप धर्म, ये चारों सहजसिद्ध अनादिसिद्ध और नित्य होते हैं तथा जो अचिन्त्य चिच्छक्ति युक्त होता है उसे ईश्वर कहते हैं। सांख्यदर्शन में स्वीकृत पच्चीस तत्त्वों में से पुरुषतत्त्व में रहा हुआ पुरुष विशेष पातञ्जलों का ईश्वर है। सांख्य निरीश्वरवादी है किन्तु पातञ्जलों ने पुरुष विशेष को ईश्वर स्वीकार किया है। यदुक्तम्—

क्लेश कर्म विपाकाशयैरपरामृष्टः पुरुष विशेष ईश्वरः ।

(यो० सू० १।२४)

हरिभद्रसूरि ईश्वरवादी पातञ्जलों का पूर्वपक्ष इस प्रकार उपन्यस्त करते हैं—

अज्ञो जन्तुरनीशोऽय-मात्मनः सुखदुःखयोः ।
ईश्वर प्रेरितो गच्छेत्, स्वर्गं वा श्वभ्रमेव वा ॥

(शा० वा० स० ३।२)

अर्थ—संसारी जीव हिताहित प्रवृत्ति निवृत्ति के उपायों का अजान होने से आत्मा के (अपने) सुख दुःख का कर्त्ता नहीं हो सकता। अतः अज्ञ जीव ईश्वर की प्रेरणा से प्रेरित होकर स्वर्ग या नरक में जाता है। जैसे कि पशु आदियों की प्रवृत्ति निवृत्ति पर प्रेरणा से होती हुई दिखाई देती है। कर्म या प्रकृति को प्रेरक मानना भी ठीक नहीं है क्योंकि वे अचेतन हैं। चेतन के अधिष्ठान के विना अचेतन का व्यापार नहीं हो सकता। यदुक्तम्—

मयाऽध्यक्षेण प्रकृतिः, सूयते सचराचरम् ।
तपाम्यहमहंवर्षं, निगृह्णाम्युत्सृजामि च ॥

गीता—

इस पर से पतञ्जलि के अनुयायियों का कहना है कि सर्व का अधिष्ठाता ईश्वर है।

नैयायिक ईश्वर की सिद्धि के लिए इस प्रकार हेतु देते हैं

कार्यायोजनधृत्यादेः, पदात् प्रत्ययतः श्रुतेः ।
वाक्यात्संख्याविशेषाच्च, साध्यो विश्वविदव्ययः ॥

अर्थ—कार्य, आयोजन, धृत्यादि, पद, प्रत्यय, श्रुति, वाक्य, संख्या विशेष, इन हेतुओं से अव्यय ईश्वर की साधना करनी चाहिए।

(१) "कार्यं, सकर्तृकं, कार्यत्वात्" यह प्रथम अनुमान है।

(२) आयोजन—"सर्गाद्यकालीनद्व्यणुककर्म, प्रयत्न जन्यम्, कर्मत्वात्, अस्मदादि शरीरकर्मवत्" यह दूसरा अनुमान है।

(३) धृति—ब्रह्माण्डादिपतनाभावः, पतन प्रतिबन्धक प्रयुक्तः, धृतित्वात्. उत्पतत्पतत्रिपतनाभाववत्, तत्पतत्रिसंयुक्त तृणादि धृतिवत्। आदि शब्देन नाशः—ब्रह्माण्डनाशः प्रयत्नजन्यः, नाशत्वात्, पाट्यमान पटनाशवत्। यह तीसरा (चौथा) अनुमान है।

(४) पद=व्यवहार, घटादिव्यवहारः, स्वतन्त्रपुरुष प्रयोज्यः, व्यवहारत्वात्, आधुनिक कल्पितलिप्यादि व्यवहारवत्। यह चौथा अनुमान है।

(५) प्रत्यय—प्रमा, वेदजन्यप्रमा, वक्तृयथार्थवाक्यार्थज्ञान जन्या, शाब्दप्रमात्वात्, आधुनिक वाक्यजशाब्द प्रमावत। यह पांचवाँ अनुमान है।

(६) श्रुति=वेदोऽसंसारिपुरुषप्रणीतः, वेदत्वात् यह छट्टा अनुमान है।

(७) वाक्य=वेदः पौरुषेयः, वाक्यत्वात्, भारतवत्। यह सातवाँ अनुमान है।

(८) संख्याविशेष—द्वयणुकपरिमाण जनिका संख्या, अपेक्षा बुद्धिजन्या, एकत्वान्य संख्यात्वात्। यह आठवाँ अनुमान है। प्रस्तुत आठ अनुमान तथा अन्य आगम-श्रुति वाक्यों से नैयायिक ईश्वर को सिद्ध करते हैं।

जैनियों का उत्तर पक्ष

अन्ये त्वभिदधत्यत्र, वीतरागस्य भावतः।
इत्थं प्रयोजनाभावात्, कर्तृत्वं युज्यते कथम्॥

(शा० वा० स्त० ३,४)

अर्थ—जैन ईश्वर के सम्बन्ध में परीक्षा पूर्वक प्रथम पतञ्जलि के अनुयायियों को उत्तर देते हैं कि तुम्हारे मत में ईश्वर में वैराग्य वीतरागभाव सहज सिद्ध है। जब कि ईश्वर वीतराग-परम वैराग्यवान् है तो उसमें कोई इच्छा नहीं हो सकती। बिना इच्छा के प्रेरणा करने का कोई प्रयोजन नहीं हो सकता है। पर प्रेरकत्व और फलेच्छा का परस्पर व्याप्य व्यापकभाव सम्बन्ध है। व्यापक फलेच्छा के अभाव से व्याप्य पर प्रेरकत्व का भी अभाव सिद्ध हो जाता है।

इसी बात को अधिक स्पष्टता से बताते हैं

नरकादिफले कांश्चित्, कांश्चित्स्वर्गादिसाधने।
कर्मणि प्रेरयत्याशु, स जन्तून् केन हेतुना?॥

(शा० वा० स्त० ३, ५.)

अर्थ—अहो पतञ्जलिओ! तुम्हारा ईश्वर कई जीवों को नरक आदि दुर्गति में पहुँचाने वाले दुष्कृत्य करने की प्रेरणा

करता है और कइयों को स्वर्गादि सद्गति प्राप्त कराने वाले सुकृत्य की प्रेरणा करता है। इसका क्या कारण है ? ऐसा करने में ईश्वर का क्या प्रयोजन है ?

स्वयमेव प्रवर्तन्ते, सत्त्वाश्चेच्चित्र कर्मणि।
निरर्थकमिहेशस्य, कर्तृत्वं गीयते कथम् ॥
(शा० वा० स्त० ३,६)

अर्थ—ब्रह्महत्या आदि अशुभ कर्म और यम नियमादि शुभ कर्म में जीव स्वयं अपनी इच्छा से प्रवृत्त होते हैं। अर्थात् यदि बुद्धि में सत्त्व गुण की प्रधानता हो तो शुभ कार्य में और तमोगुण की प्रधानता हो तो अशुभ कार्य में प्रवृत्ति होती है। यदि प्रयोजन ज्ञान के लिए ईश्वर की अपेक्षा है ऐसा मानोगे तो ईश्वर में कर्तृत्व मानना निरर्थक है। क्योंकि प्रयोजन ज्ञान तो प्रवृत्ति के लिए है। जब कि प्रवृत्ति अपने आप हो जाती है वैसी अवस्था में ईश्वर सिद्धि के लिये प्रयास करना, घर के कौने में प्राप्त होने वाले धन को छोड़कर विदेश में जाकर धन प्राप्त करने के बराबर है।

फलंददातिचेत् सर्वं, तत्तेनेह प्रचोदितम्।
अफले पूर्वदोषः स्यात्, सफले भक्तिमात्रता ॥
(शा० वा० स्त० ३, ७)

अर्थ—अचेतन पदार्थ चेतनाधिष्ठित होकर के कार्य कर सकते हैं। कर्म स्वयं अचेतन हैं वे ईश्वराधिष्ठित होकर के ही सुःखदुखादि दे सकते हैं। अतः अधिष्ठाता के रूप में ईश्वर की सिद्धि हो जाती है। इसके उत्तर में ग्रन्थकार कहते हैं कि

यदि कर्म अपनी इच्छा से सुखदुःखादि देने में असमर्थ हैं तो उनमें ऐसा सामर्थ्य किसने उत्पन्न किया ? ईश्वर ने उत्पन्न किया है ऐसा कहोगे तो निर्दोष ईश्वर को स्वर्गनरकादि देने का क्या प्रयोजन है ? कर्म में ही वैसा सामर्थ्य है, यदि ऐसा कहोगे तो बीच में ईश्वर को अधिष्ठाता बनाने की क्या जरूरत है ? कर्म में स्वर्ग नरक देने का सामर्थ्य स्वतः सिद्ध होते हुए भी ईश्वर के जिम्मे यह कार्य डालने में ईश्वर के प्रति आप की भक्ति ही कारण है। अधिष्ठाता के बिना भी वन बीज से अंकुर पैदा हो जाता है इसलिये चेतनाधिष्ठित ही कार्य सिद्ध कर सकता है यह नियम व्यभिचारी है।

आदिसर्गेऽपि नो हेतुः, कृतकृत्यस्य विद्यते।
प्रतिज्ञात विरोधित्वात्, स्वभावोप्यप्रमाणकः ॥
(शा० वा० स्त० ३, ८)

अर्थ—ईश्वर कृतकृत्य है यह प्रतिज्ञा पहले से ही की हुई है। कृत-कृत्य को आदि सृष्टि की रचना करने का कोई प्रयोजन नहीं हो सकता। बिना प्रयोजन के भी ईश्वर अदृष्टादिक की अपेक्षा के बिना स्वतन्त्ररूप से आदि सृष्टि को रचना करता है और ऐसा उसका स्वभाव भी है, यह कहना भी ठीक नहीं है। क्योंकि वैसा स्वभाव मानने में कोई प्रमाण नहीं है। धर्मी की सिद्धि बिना वैसा स्वभाव मान लेना उचित नहीं है।

कर्मादेस्तत्स्वभावत्वे, न किञ्चिद्बाध्यते विभोः।
विभोस्तु तत्स्वभावत्वे, कृतकृत्यत्व बाधनम् ॥
(शा० वा० स्त० ३, ६)

अर्थ—कर्म आदि का आदिसृष्टि रचने का स्वभाव मानने में ईश्वर के स्वरूप में किसी प्रकार की बाधा नहीं आती है। किन्तु ईश्वर का वैसा स्वभाव मानने पर ईश्वर के कृतकृत्य और वीतरागतारूप गुणों को धक्का पहुँचता है, इतना ही नहीं किन्तु वह प्रकृति जैसा बन जायगा। यदि ऐसा कहोगे कि ईश्वर परिणामी न बनने से प्रकृति रूप नहीं बनेगा, प्रयोजन के अभाव में अनित्य इच्छा का अभाव होने से और नित्य इच्छा का सद्भाव होने से वैराग्य को हानि नहीं पहुँचेगी, ऐश्वर्य भी अनित्य नहीं किन्तु तत्-तत् फलावच्छिन्न इच्छारूप ऐश्वर्य है, सर्गकी आदि में रजो गुण के उद्रेक से उस-उस कार्य के कर्त्ता ईश्वर को मानने से कूटस्थपने की हानि भी नहीं है, तो न्याय दर्शन के सिद्धान्त में तुम्हारा प्रवेश हो जायगा। इस प्रकार स्वसिद्धान्तहानिरूप निग्रह स्थान तुम पर लागू होता है।

इति पातञ्जल कर्तृत्ववाद निराकरणम्

नैयायिकों के प्रति जैनियों का उत्तर पक्ष

नैयायिकों के द्वारा ईश्वर सिद्धि के लिए बताये हुए आठ अनुमानों में से प्रथम अनुमान "कार्यं सकर्तृकं कार्यत्वात्" है। शास्त्रवार्ता समुच्चय की टीका करने वाले यशोविजय जी उपाध्याय कहते हैं कि इस अनुमान में कोई अनुकूल तर्क नहीं है। अहो नैयायिको ? कार्यसामान्य ज्ञान, इच्छा और प्रयत्न साध्य है। मनुष्य आदि का ज्ञान अपूर्ण है वह सर्व कार्यों को नहीं सिद्ध कर सकता अतः ईश्वरीय ज्ञान, ईश्वरीय इच्छा और ईश्वरीय प्रयत्न से पृथ्वी

आदि कार्य उत्पन्न होते हैं, इस अनुमान से ईश्वर सिद्धि करने का तुम्हारा आशय है किन्तु यह अनुमान सिद्ध नहीं हो सकता क्योंकि उस-उस पुरुष की घट पटादि प्रवृत्ति के प्रति उस-उस पुरुष का घट-पटादि उपादान विषयक प्रत्यक्ष ज्ञान कारण मानना पड़ेगा। कार्य सामान्य के प्रति प्रत्यक्षसामान्य को कारण मानने मे कोई प्रमाण नहीं है। विशेष-विशेष रूप से कार्य कारण भाव की आवश्यकता होने से सामान्य कार्यत्व हेतुतावच्छेदक नहीं बन सकता। अतः कार्यत्व हेतु से बुद्धिमान कर्त्तारूप से ईश्वर की सिद्ध नहीं हो सकती।

नैयायिकों के दूसरे अनुमान का निराकरण

नैयायिक कहते हैं कि सर्ग की आदि में द्व्यणुक आदि में प्रयत्न के बिना कर्म संभवित नहीं हो सकता। परमाणु अचेतन हैं अतः उनमें प्रयत्न नहीं हो सकता। सृष्टि की आदि में ईश्वर के सिवाय अन्य कोई नहीं है अतः ईश्वर के प्रयत्न से ही द्व्यणुक में कर्म उत्पन्न होता है। इस अनुमान से ईश्वर की सिद्धि होती है। अर्थात् द्व्यणुक कर्म जनक रूप ईश्वर की सिद्धि होती है। इस के उत्तर में जैन कहते हैं कि "सर्गाद्यकालीन द्व्यणुक कर्म" यह तुम्हारा पक्ष है। इसमें सर्ग आद्यकाल पक्ष का विशेषण है वह प्रसिद्ध ही नहीं है क्योंकि हमारे मत से यह जगत् अनादि अनन्त है। उसमें सर्ग और उसका आद्यकाल है ही नहीं अतः प्रस्तुत अनुमान में आश्रया सिद्धि दोष होने से अनुमान दूषित हो गया है। अनुमान दूषित होने से ईश्वर का साधक नहीं बन सकता। दूसरी बात-यदि ईश्वर प्रयत्न को द्व्यणुका-

दिक कर्म का कारण माना जाय तो ईश्वर प्रयत्न नित्य होने से कर्म भी नित्य होता रहना चाहिए। बीच में खलल न पड़नी चाहिये। यदि कहो कि अदृष्ट को भी कारण मानते हैं अतः अदृष्ट के विलम्ब से कर्म में भी विलम्ब हो जायगा तो फिर ईश्वर प्रयत्न को कारण मानने की क्या आवश्यकता है? अदृष्ट को ही कारण मान लो। दूसरी बात यह है कि क्रिया सामान्य में यत्न सामान्य का कार्य कारण भाव मानने में कोई प्रमाण नहीं है। गमनादि प्रवृत्ति के प्रति जीवनयोनियत्न के सिवाय विलक्षण यत्न रूप से कार्य कारण भाव मानना पड़ेगा। अतः ईश्वर प्रयत्न कार्यकारण भाव की कोटि में नहीं आ सकता। दूसरे अनुमान से भी ईश्वर सिद्धि नहीं हो सकती।

नैयायिको के तीसरे अनुमान का निराकरण

नैयायिक कहते हैं कि आकाश में ब्रह्माण्ड अधर रहता है वह ईश्वर के प्रय-न से ही रहता है। ईश्वर प्रयत्न न होता तो यह ब्रह्माण्ड कभी का नीचे गिर पड़ा होता। इसके उत्तर में उपाध्यायजी कहते हैं कि पतन का कारण केवल गुरुत्व ही नहीं है किन्तु प्रतिबन्ध का भाव भी है अन्यथा आम्रफल भारी होते ही नीचे गिर पड़ेगा। किन्तु उसका बीट प्रतिबन्धक है अतः नीचे नहीं गिरता है। अत 'प्रतिबन्धकाभावे-तर सामग्री कालीन, यह विशेषण लगाना पड़ेगा। इसके उपरान्त वेगयुक्त बाण का पतन नही होता है इसलिए 'वेगाप्रयुक्त' यह विशेषण भी लगाना पड़ेगा। इसके उपरांत भी मन्त्र के बल से किसी ने आकाश में एक गोला अधर रख दिया इस में व्यभिचार आयगा। इसका निराकरण

करने के लिए 'अदृष्टाप्रयुक्त' यह विशेषण लगाना पड़ेगा। ऐसा होने पर 'अदृष्टाप्रयुक्त ब्रह्माण्डधृति' असिद्ध होगा क्योंकि 'ब्रह्माण्ड धृति' अदृष्ट प्रयुक्त है। अतः अनुमान में स्वरूपा सिद्धि दोष प्राप्त हुआ। कहा भी है कि—

निरालम्बा निराधारा, विश्वाधारो वसुन्धरा।
यावच्चावतिष्ठते तत्र, धर्मादन्यन्न कारणम्॥

ईश्वर प्रयत्न को यदि धृति का कारण माना जाय तो वह व्यापक होने से लड़ाई के समय में फेंका हुआ एक भी बाण नीचे न गिरना चाहिये।

ब्रह्माण्ड नाशक रूप में भी ईश्वर की सिद्धि नहीं हो सकती। ब्रह्माण्ड का प्रलय होता ही नहीं है। जीवों के कर्म विपाक को एक साथ रोकने की किसी में भी शक्ति नहीं है। सुषुप्ति अवस्था में कई कर्मों का निरोध होता है वह दर्शनावरणीय कर्म की सामर्थ्य से उपपन्न हो जाता है। अनन्त जीवों के भोगे जाते हुए कर्म एक ही साथ प्रलय में रुक जाते हों तो उन कर्मों का नाश भी ईश्वर क्यों नहीं कर सकता ? यदि नाश कर डाले तो जीवों को अनायास ही मुक्ति मिल जाय और ऐसा हो तो ब्रह्मचर्यादि क्लेश और योगाभ्यास आदि साधन की भी क्या जरूरत रहेगी ? सच्ची बात तो यह है कि जिस प्रकार अनन्त जीवों की मुक्ति ईश्वर द्वारा एक साथ नहीं हो सकती उसी प्रकार जीवों के कर्मों का भोग भी एक साथ ईश्वर से नहीं रोका जा सकता अतः प्रलयकाल संभवित नहीं हो सकता।

नैयायिकों के चौथे अनुमान का निराकरण

नैयायिक कहते हैं कि सर्ग की आदि में व्यवहार प्रयोजक एक ईश्वर की आवश्यकता रहती है। इस समय ईश्वर के सिवाय अन्य कोई नहीं है। अतः व्यवहार प्रयोजक के रूप में ईश्वर की सिद्धि हो जाती है। इसके उत्तर में उपाध्याय जी कहते हैं कि सर्ग और प्रलय तो होते ही नहीं, जगत् अनादि-काल से चला आ रहा है। इसमें पूर्व-पूर्व वृद्ध पुरुषोंके व्यवहार के अनुसार उत्तरोत्तर बालक आदिकों का व्यवहार चालू रह सकता है। ईश्वर कल्पना की आवश्यकता नहीं है। दूसरी बात, ईश्वर में अदृष्ट-धर्माधर्म न होने से शरीर भी नहीं है। शरीर के विना मुख भी नहीं है मुख के अभाव में शब्दादि व्यवहार का प्रयोज्य प्रयोजक भाव भी कैसे बन सकता है।

नैयायिकों के पांचवें, छठे और सातवें अनुमान का निराकरण।

'वेदजन्यप्रमा, वक्तृयथार्थवाक्यार्थज्ञानजन्या, शाब्द-प्रमात्वात्, आधुनिक वाक्यजशाब्द प्रमावत' यह पाँचवाँ अनुमान है। 'वेदोऽसंसारिपुरुषप्रणीतः वेदत्वात्' यह छठा अनुमान है। 'वेदः पौरुषेयः वाक्यत्वात् भारतवत्' यह सातवाँ अनुमान है। उक्त तीनों अनुमान वेद प्रणेता किसी आप्त पुरुष का भलेही सिद्धि करें किन्तु सृष्टिकर्त्ता ईश्वर की सिद्धि नहीं कर सकते। क्योंकि यथार्थवक्तृत्व, वेदशास्त्र का प्रणयन; या वेद वाक्यों का उच्चारण, मुख के विना नहीं हो सकते और शरीर के विना मुख नहीं हो सकता अतः उक्त अनुमान ईश्वर साधक नहीं बन सकते।

नैयायिकों के आठवें अनुमान का निराकरण

नैयायिक कहते हैं कि अणुपरिमाण तो किसी का कारण नहीं हो सकता। द्व-यणुक परिमाण का कारण अणु परिमाण हो जाता मगर ऐसा मानने पर द्वयणुक परिमाण अणुपरिमाण की अपेक्षा अणुतर हो जाता है और यह इष्ट नहीं है। अतः द्वयणुकपरिमाण जनक द्वित्व संख्या मानी जाती है। संख्या अपेक्षा बुद्धि जन्य है। सर्ग के आदि काल में ईश्वर के अतिरिक्त अन्य किसी की अपेक्षा बुद्धि नहीं है अतः ईश्वर की अपेक्षा बुद्धि जन्य द्वित्व संख्या द्वयणुक परिमाण जनक होगा और इस प्रकार ईश्वर की सिद्धि हो जायगी। इसके उत्तर में उपाध्यायजी कहते हैं कि सर्ग काल ही नहीं है, जगत् अनादि है। लौकिक अपेक्षा बुद्धि से ही द्वित्व संख्या उत्पन्न हो जायगी और इसीसे द्वयणुकपरिमाण की भी सिद्धि हो जायगी। अतः सृष्टि कर्त्तारूप से ईश्वर को मानने की जरूरत नहीं है।

जैनियों की दृष्टि से ईश्वर का कर्त्तृत्व

ईश्वरः परमात्मैव, तदुक्तव्रतसेवनात् ।
यतो मुक्तिस्ततोस्तस्याः, कर्ता स्याद्गुण भावतः ॥
(शा० वा० स्त० ३, ११)

अर्थ—रागद्वेष से सर्वथा रहित, केवल ज्ञान केवल दर्शन संपत्तियुक्त वीतराग शुद्धात्मा जैन दृष्टि से परमात्मा गिना जाता है। वह परमआप्त पुरुष है क्योंकि वह यथार्थ जानता है और यथार्थ ही प्ररूपणा करता है। उसके द्वारा प्ररूपित शास्त्र में कहे हुए संयमादि अनुष्ठानों का पालन करने से जीवों को

मुक्ति प्राप्त होती है। इस हिसाब से मुख्यता से नहीं किन्तु उपचार से गुणभाव की अपेक्षा से वह जीव की मुक्ति का कर्त्तारूप ईश्वर-परमात्मा कहा जा सकता है।

सापेक्षभवकर्तृत्व

तदनासेवनादेव, यत्संसारोपि तत्त्वतः।
तेन तस्यापि कर्तृत्वं, कल्प्यमानं न दुष्यति॥
(शा० वा० स्त० ३,१२)

अर्थ—वीतराग प्रणीतधर्म और अनुष्ठान का पालन न करने से संसार में जीवों को परिभ्रमण करना पड़ता है। इस अपेक्षा से यदि ईश्वर में उपचार से भवकर्तृत्व की कल्पना की जाय तो इसमें हमें कोई वाधा नहीं है। अर्थात् ईश्वर में साक्षात् सृष्टिकर्तृत्व नहीं है किन्तु ऊपर कही गई अपेक्षा से संसार कर्तृत्व मानोगे तो माना जा सकता है। किन्तु यह वहुत गौण अपेक्षा है, वैसा व्यवहार करना उचित नहीं है। निश्चय से तो वीतराग-परमात्मा ज्ञानादि स्वभाव के कर्त्ता हैं, रागद्वेषादि पर भाव के कर्त्ता नहीं हैं तो संसार के कर्त्ता कैसे हो सकते हैं। ईश्वर को मुक्ति या कल्याण का कर्त्ता कहो तो ठीक है। सुज्ञेषु-किं वहुना?

बौद्ध मतानुसार प्रकृतिवाद का उत्तर पक्ष

बौद्धाचार्य शान्तिरक्षितजी सांख्यमत को उद्देश्य करके प्रकृतिवाद का उत्तर पक्ष करते हुए सांख्याचार्य ईश्वर कृष्ण को कहते हैं कि प्रथम तो तुम प्रकृति और महादादिक को परस्पर अभिन्न मानकर कार्य कारण रूप मानते हो वही ठीक

नहीं है। दो वस्तुएं भिन्न-भिन्न हों तो उनमें एक कार्य और दूसरी कारण है ऐसा व्यवहार हो सकता है किन्तु एक ही वस्तु में कार्यकारण विभाग कैसे घटित हो सकता है ? यदि तुम यह कहो कि मूल प्रकृति कारण, पाँच महाभूत और ग्यारह इन्द्रियगण कार्य, बुद्धि अहङ्कार और पाँच तन्मात्राएं कार्य कारण उभय रूप हैं और पुरुष न तो कार्य है, न कारण है, इस प्रकार दोनों की अभेदावस्था में कार्यकारणभाव स्वीकार करते हो, वह ठीक नहीं है।

कदाचित् कार्यकारण भाव सापेक्ष होने से प्रकृति की अपेक्षा से महादादि कार्य और महदादि की अपेक्षा से प्रकृति कारण है ऐसा कहो तो वह भी ठीक नहीं है क्योंकि जहाँ दोनों एक रूप हों वहाँ कौन किसकी अपेक्षा रखे, जैसे पुरुष एक रूप है इसलिए उसमें प्रकृति या विकृति भाव नहीं है वैसे ही प्रकृति और महदादि एकरूप होने से प्रकृतिविकृति व्यवहार नहीं हो सकता। अन्यथा पुरुष में भी प्रकृति विकृति भाव की आपत्ति प्राप्त होगी जो कि तुम्हे अनिष्ट है इसीलिए सांख्याचार्य रुद्रिल की अज्ञता प्रकट की गई है, देखिये—

यदे व दधि तत्क्षीरं, यत्क्षीरं तद्दधीति च ॥
वदता रुद्रिलेनैव, ख्यापिता विन्ध्यवासिता ॥

अर्थ—'जो दही है वही दूध है और जो दूध है वही दही है' ऐसा करने वाले रुद्रिल ने अपना जंगली पन प्रकट किया है।

विश्व की एक रूपता

पूर्वपक्षी ने व्यक्त को कारण जन्य और अव्यक्त को कारण अजन्य वर्णित किया है वह भी ठीक नहीं किया है क्योंकि जो

वस्तु जिससे अभिन्न होती है वह उससे विपरीत स्वभाव वाली नहीं हो सकती। विपरीत स्वभाव वाली वस्तु का स्वरूप ही भिन्न होता है। ऐसा न मानें तो भेद व्यवहार नहीं बन सकता। चैतन्य और सत्त्वरज आदि गुणों का जो परस्पर भेद माना है वह निष्कारण सिद्ध होने पर सम्पूर्ण विश्व एक-रूप (ब्रह्ममय) हो जायगा अतः सब की एक साथ उत्पत्ति और एक ही साथ नाश हो जायगा और ऐसा होने पर व्यक्त से अभिन्न अव्यक्त को व्यक्त के समान कारण जन्य मानना पड़ेगा अथवा अव्यक्त के समान व्यक्त को कारण अजन्य मानना पड़ेगा।

दूसरी बात यह है कि अन्वय व्यतिरेक से कार्यकारण भाव सिद्ध हो सकता है। 'कारणसत्त्वे कार्यसत्त्वमन्वयः कारणा भावे कार्याभावो व्यतिरेकः।' अर्थात् कारण के होने पर कार्य का होना अन्वय है और कारण के अभाव में कार्य का अभाव होना व्यतिरेक है। जैसे अग्नि की मौजूदगी में धुँआ का होना और अग्नि के अभाव में धुंआ का अभाव। यह अन्वय और व्यतिरेक देश काल के भेद से दो प्रकार का है। दोनों प्रकार प्रकृति और महदादि के साथ संगत नहीं होते हैं क्योंकि प्रकृति सर्वदेश में व्यापक है और महदादि अव्यापक होने से किसी देश में है और किसी में नहीं है अतः देशान्वय न बना। प्रकृति का किसी देश में अभाव होता और वहाँ महदादि का भी अभाव रहता तो देश व्यतिरेक बन जाता, मगर ऐसा नहीं है। इसी प्रकार कालान्वयव्यतिरेक भी नहीं बन सकता क्योंकि प्रकृति नित्य होने से सर्व काल में रहती है किन्तु महदादि सर्व-

काल में नहीं रहते अतः कालान्वय नहीं बना। इसी प्रकार किसी काल में प्रकृति का अभाव होता और उसी वक्त महदादि का भी अभाव रहता तो दोनों का कालव्यतिरेक बन जाता किंतु प्रकृति का किसी काल में भी अभाव नहीं होता। अतः दोनों प्रकार के अन्वय व्यतिरेक के अभाव में दोनों का कार्यकारण भाव सिद्ध नहीं होता।

तीसरी बात यह है कि पूर्वपक्षी ने प्रकृति को सर्वथा नित्य माना है और सर्वथा नित्य पदार्थ किसी का कारण नहीं बन सकता क्योंकि नित्य पदार्थ में क्रम या अक्रम से अर्थ क्रिया नहीं बनती अतः नित्य प्रकृति से बुद्धि आदि का सर्जन नहीं होसकता।

पूर्वपक्षी--एक ही सर्प कुण्डल,दण्ड आदि अनेक अवस्थाओं में परिणमन करता हुआ जिस प्रकार अभिन्न स्वरूपी रहता है उसी प्रकार एक स्वरूपवाली प्रकृति; महदादि अनेक अवस्थाओं में परिणमन करती हुई अभिन्न स्वरूप से कारण बन सकती है।

उत्तरपक्षी—तुम्हारा यह कथन ठीक नहीं है। प्रकृति में परिणमन सिद्ध नहीं हो सकता। हम यह पूछते हैं कि प्रकृति में जो बुद्धि आदि का परिणमन होता है वह पूर्व स्वरूप को छोड़कर होता है या छोड़े बिना ही ? यदि पूर्व स्वरूप को छोड़े बिना परिणमन स्वीकार करोगे तो एक साथ दो अवस्थाओं का सांकर्य होगा जो कि प्रत्यक्ष विरुद्ध है। वृद्धावस्था में युवा-वस्था कभी भी कहीं नहीं देखी जाती। यदि ऐसा कहो कि प्रकृति

पूर्वावस्था छोड़कर उत्तरावस्था धारण करती है तो स्वभाव हानि प्रसंग प्राप्त हुआ–स्वभावहानि होने पर प्रकृति की नित्यता कहाँ कायम रही ? दूसरी बात यह पूछते हैं कि प्रकृति की अवस्था प्रकृति से भिन्न है या अभिन्न ? यदि भिन्न कहोगे तो प्रकृति में कुछ भी अन्तर नहीं हुआ । चैत्र की उत्पत्ति या विनाश से मैत्र में उत्पत्ति विनाश नहीं हो सकते अन्यथा घटादिक के परिणाम से पुरुष भी परिणामी बन जायगा । यदि कहो कि घटादिक का पुरुष के साथ सम्बन्ध नहीं है, प्रकृति का अवस्थाओं के साथ सम्बन्ध है अतः अवस्था के उत्पत्ति विनाश से प्रकृति का परिणाम हो सकता है । यह कथन भी उचित नहीं है । क्योंकि प्रकृति सत् और अवस्था असत् है । सत् के साथ असत् का सम्बन्ध नहीं हो सकता । अवस्था को भी सत् मानो तो वह परतन्त्र नहीं हो सकती किन्तु प्रकृति के समान अवस्था भी स्वतन्त्र होगी और कारण जन्य नहीं हो सकती । कारण जन्यता और स्वतन्त्रता का परस्पर विरोध है । कारण जन्यता का परतन्त्रता के साथ सहचार है । अतः महदादिका प्रकृति के साथ सत् या असत् दोनों में से एकरूप से भी सम्बन्ध घटित नहीं हो सकता ।

सत्कार्यवाद की असंगति

पूर्व पत्तीने सत्कार्य वाद की सिद्धि के लिए जो पांच हेतु दर्शाये हैं वे असत् कार्यवाद के भी साधक होते हैं । जैसे कि

न सदकरणादुपादानग्रहणात् सर्वसम्भवाभावात् ।
शक्तस्य शक्यकरणात्कारणभावाच्च सत्कार्यम् ॥

अर्थ—(१) सत् पदार्थ की उत्पत्ति नहीं होती किन्तु मृत्तिकापिण्ड से नवीन घट की उत्पत्ति होती है। (२) उपादान् कारण ग्रहण किया जाता है। (३) सब कारणों से सब कार्य उत्पन्न नहीं होते किन्तु नियत कारणों से नियत कार्य उत्पन्न होते है। (४) शक्ति युक्त कारण से शक्य कार्य ही किये जाते हैं। (५) जो जिसका कारण माना हुआ है उससे ही उस कार्य की उत्पत्ति होती है। उक्त पांच हेतुओं से सत्कार्य-वाद युक्ति संगत नहीं ज्ञात होता। इस प्रकार प्रकृति से सृष्टि की उत्पत्ति सिद्ध न होंने से प्रलयकाल में सृष्टि का लय भी प्रकृति में सिद्ध नहीं हो सकता।

प्रकृतिवाद के सम्बन्ध में मीमांसक कुमारिल भट्ट का उत्तर पक्ष

पुमानकर्त्ता येषां तु तेषामपि गुणैः क्रिया।
कथमादौ भवेत्तत्र कर्म तावन्न विद्यते॥
(श्लो० वा० ४ । ८७)

अर्थ—जिन सांख्यों के मत में पुरुष कर्ता नहीं किन्तु सत्व, रज, और तम की साम्यावस्था रूप प्रकृति ही सृष्टि कर्त्री है, उनसे पूछना चाहिये कि प्रलय काल में तीनों गुण साम्यावस्था में प्रकृति में लीन हैं तो सृष्टि के आदि काल में प्रकृति में कौन विकार पैदा करता है? साम्यावस्था में रहे हुए गुणों को विषमावस्था में लाने वाला कौन है? धर्माधर्म रूप कर्म प्रेरक हैं ऐसा कहो तो वे विकृतिरूप धर्माधर्म प्रकृति में उस वक्त नहीं हैं।

मिथ्याज्ञानं न तत्रास्ति रागद्वेषादयोऽपिवा।
मनोवृत्तिर्हिसर्वेषां न चोत्पन्नं तदा मनः॥
(श्लो० वा० ४।८८)

अर्थ—कुमारिल भट्ट जी कहते हैं कि उस वक्त (सृष्टि के आरम्भ काल में) मिथ्याज्ञान न था और रागद्वेषादिक भी न थे कारण कि वे भी प्रकृति के विकार रूप हैं और इसलिए उन्हें तुम प्रकृति जन्य मानते हो। अन्तःकरण का व्यापार रूप मनोवृत्ति भी उस वक्त न थी क्योंकि महतत्त्व और अहंकार के बाद अहंकार से मन उत्पन्न होता है ऐसा आपने माना हुआ है। मनसे पहले मनोवृत्ति कैसे हो सकती है? कहिए तब प्रकृति में विकृति करनेवाला कौन है?

पूर्व पक्षी कहता है कि मन व्यक्ति रूप से नहीं है मगर शक्ति रूप से तो रहा हुआ है वही विकार उत्पादक बनेगा। इसके उत्तर में भट्ट जी कहते हैं कि—

कर्मणां शक्त्यवस्थानां, यैरुक्ता बन्धहेतुता॥
सा न युक्ता न कार्यं हि, शक्तिस्थात्कारणाद्भवेत्॥
(श्लो० वा० ४।८६)

अर्थ—शक्तिरूप से रहे हुए धर्माधर्मादिक कर्म या मनको विकार उत्पादक मानना उचित नहीं है। मृत्तिका में शक्तिरूप से रहे हुए घट से क्या पानी भरा जा सकता है? तन्तु में शक्तिरूप से रहे हुए वस्त्र से क्या शीत का निवारण हो सकता है! कभी नहीं हो सकता। उसी प्रकार शक्ति रूप से रहे हुए कारण से

कभी भी कार्य उत्पन्न नहीं हो सकता। दृष्टान्त के द्वारा भट्ट जी इस बात का समर्थन करते हैं।

> दधिशक्तिर्नहि क्षीरे दाधिकारम्भमर्हति।
> दध्यारम्भस्य सा हेतु स्ततोऽन्या दाधिकस्य तु॥
>
> (श्लो० वा० ५।६०)

अर्थ—दूध में दही उत्पन्न करने की शक्ति है वह दूध से दही भले ही बनाये किन्तु दही का कार्य-श्रीखण्डादि नहीं बना सकता। इसी प्रकार प्रकृति में रही हुई बुद्धि आदि उत्पन्न करने की शक्ति बुद्धि आदि को भले ही बनाये किन्तु बुद्धि तथा मन के कार्य को नहीं बना सकती।

शक्तिरूप से रहे हुए कारण से कार्य मानने में दोषापत्ति

> कारणाच्छक्त्यवस्थाच्च, यदि कार्यं प्रजायते।
> बन्धः पुन. प्रसज्येत, फलेदत्तेपि कर्मणा॥
>
> (श्लो० वा० ५।६१)

अर्थ—यदि शक्ति रूप से रहे हुए अप्रकट कारण से कार्य माना जावे तो पाप पुण्य रूप कर्म का फल-सुख दुःखादि भोगने के बाद भी पुनः पुण्य पाप के बन्ध का प्रसंग प्राप्त होगा क्योंकि शक्ति रूप से वे सदा अवस्थित रहते हैं।

मोक्ष की अप्राप्तिरूप दूसरा दोष

> तच्छक्त्यप्रतियोगित्वान्न ज्ञानं मोक्षकारणम्।

कर्मशक्त्या नहि ज्ञानं विरोधमुपगच्छति ॥

(श्लो० ६।६४)

अर्थ—ज्ञान कर्मशक्ति का प्रतियोगी-विनाशक न होने से मोक्ष का भी कारण नहीं बन सकता। क्योंकि कर्म शक्ति के साथ ज्ञानका विरोध नहीं है। कर्म शक्ति की मौजुदगी में बन्ध चालू रहने से मोक्ष की प्राप्ति नहीं हो सकती। इसलिए शक्ति रूपसे रहे हुए मन या धर्माधर्म रूप कर्म से कोई भी कार्य होता हुआ माना नहीं जा सकता। तीनों गुणों की साम्यावस्था वाली प्रकृति में विकार उत्पन्न करने वाला कोई भी कारण न होने से महत्तत्व अहंकार आदि का सर्जन होना अशक्य है। अतः ईश्वर के समान केवल प्रकृति भी सृष्टिकर्त्री सिद्ध नहीं हो सकती।

प्रकृतिवाद के विषय में जैनों का उत्तरपक्ष

शास्त्रवार्तासमुच्चयकार हरिभद्रसूरिजी सांख्याभिमत प्रकृति की नित्यता केवल श्रद्धागम्य है, युक्ति संगत नहीं है, यह बात बताते हैं—

युक्त्या तु बाध्यते यस्मात्, प्रधानं नित्यमिष्यते।
तथात्वाप्रच्युतौ चास्य, महदादि कथं भवेत् ॥

(शा० वा० स्त० ३। २२)

अर्थ—सांख्य प्रकृति को एकान्त नित्य मानते हैं। हर एक द्रव्य के उत्पाद व्यय और ध्रौव्य ये तीन अंश हैं अर्थात् स्वभाव हैं। इन में से उत्पाद व्यय इन दो अंशों को न मानकर केवल ध्रौव्य स्वभाव सांख्य मानते हैं। यह युक्ति से बाधित है।

पूर्व स्वभाव का त्याग और नवीन स्वभाव की उत्पत्ति स्वीकार किये विना विकृतिरूप महत्तत्त्वादि कैसे उत्पन्न हो सकते हैं ?

पूर्वपक्षी कहता है कि अपूर्वस्वभाव की उत्पत्ति मे हम कार्यकारण भाव नहीं मानते जिससे कि प्रकृति के स्वरूप भेद मे नित्यता में खामी आये किन्तु सर्प जिस प्रकार दण्डाकार अवस्था से कुण्डलावस्था में बैठता है तब अवस्था बदल जाने पर भी सर्पभाव वैसा ही बना रहा, स्वभाव बदला नहीं, उसी प्रकार प्रकृति साम्यावस्था से बुद्ध्यवस्था या अहंकारावस्था में आती है—अर्थात् अवस्था अवश्य पलटती है मगर प्रकृति स्वरूप का त्याग नहीं करती। मूल स्वभाव कायम रखती है। अतः प्रकृति की नित्यता में किसी प्रकार की बाधा नहीं आती है। इसके उत्तर में सूरिजी कहते हैं कि:—

तस्यैव तत्स्वभावत्वा-दितिचेत् किं न सर्वदा।
अतएवेति चेत्तस्य, तथात्वे ननु तत् कुतः॥
(शा० वा० स्त० ३।२२)

अर्थ—अवस्था का परिवर्तन होने पर भी स्वभाव का परिवर्तन नहीं होता, स्वभाव वैसा ही क़ायम रहता है, ऐसा कहोगे तो प्रकृति में बुद्धि, अहंकारादि उत्पन्न करने का स्वभाव सर्वदा बना रहने से बुद्धि अहंकारादि सर्वदा उत्पन्न होते रहेंगे। इतना ही नहीं किन्तु सारा जगत् एक साथ उत्पन्न होने का प्रसंग प्राप्त होगा। क्योंकि समर्थ कारण को कार्य उत्पन्न करने में किसी प्रकार की बाधा नहीं उपस्थित हो सकती।

पूर्वपक्षी कहता है कि प्रकृति में सदा कार्य करने का या युगपत् कार्य करते रहने का स्वभाव न मानकर कदाचित् और क्रम-क्रम कार्य करने का स्वभाव मानेंगे अर्थात् युगपत् कार्य न होकर क्रम-क्रम और कदाचित् कार्य बनता रहेगा अतः ऊपर बताया हुआ दोष नहीं आ सकता।

उत्तरपक्षी पूछते हैं कि नित्य प्रकृति में कदाचित् कार्य करने का स्वभाव कहाँ से आया ? सदा एक रूप रहनेवाली प्रकृति एक बार जो कार्य करेगी सदा वही कार्य करती रहेगी। और यदि कार्य न करेगी तो एक बार भी कार्य नहीं कर सकती। यदि कहो कि जब जो कार्य होनेवाला होता है तब प्रकृति तदनुसार स्वभाव धारण करके वह कार्य कर डालती है, इस के उत्तर में सूरि जी कहते हैं कि—

नानुपादानमन्यस्य, भावेऽन्यज्जातुचिद्भवेत्।

तदुपादानतायां च, न तस्यैकान्तनित्यता ॥

(शा० वा० स्त० ३।२४)

अर्थ—मृत्तिका के सद्भाव में पट नहीं बन सकता और तन्तु के सद्भाव में घट नहीं बन सकता क्योंकि मृत्तिका घटका उपादान है पट का नहीं। एवं तन्तु घट का उपादान नहीं है। इसी प्रकार नित्य प्रकृति बुद्धि आदि का उपादान कारण नहीं बन सकती क्योंकि उपादान और उपादेय भिन्न-भिन्न स्वभाव वाले हैं। ऐसा होने पर भी, अनित्य बुद्धि का उपादान कारण मानोगे तो प्रकृति को भी अनित्य मानना पड़ेगा। यदि कहो कि महदादि भी सदा विद्यमान रहने से नित्य हैं तो प्रकृति-

विकृति प्रक्रिया हवा में उड़ जाती है। मुक्ति में भी विकृति-कायम रह जायगी। कदाचित महदादिक को प्रकृति के परिणाम की अपेक्षा से अभिन्न और अनित्यत्वादि धर्म की अपेक्षा से भिन्न कहोगे तो भेदाभेद रूप अनेकान्त मत में प्रवेश हो जायगा एकान्त नित्यवाद का भंग हो जायगा।

पूर्वपक्षी यदि अकान्तनित्यवाद छोड़कर अनेकान्तवाद का स्वीकार कर के प्रकृति की अनेकान्त नित्यता स्वीकार करले तो जैनों के द्वारा दी हुई ऊपर वताई हुई दोषापत्ति दूर हो जाती है किन्तु फिर भी एक बात का विरोध रह जाता है, वह यह है कि पूर्वपक्षी केवल प्रकृति को ही स्वतन्त्र कर्त्तापन का भार सौंम्यकर कार्य की पूर्णाहूति कर देता है कारण सामग्री में से पुरुष का अधिकार बिल्कुल हटा देता है। उत्तर पक्षी सूरिजी दर्साते हैं कि कारण सामग्री में पुरुष की पदपदे अपेक्षा रहती है। देखिये—

घटाद्यपि कुलालादि-सापेक्षं दृश्यते भवत्।
अतो न तत्पृथिव्यादि-परिणामैकहेतुकम्॥
(शा० वा० स० स्त० ३।२९)

अर्थ—घट आदि स्थूल कार्य केवल मिट्टी से नहीं बन जाता किन्तु कुलाल-कुम्भकार आदि की अपेक्षा रखता है। कुम्भकार के प्रयत्न के विना केवल पृथिवी या मृत्तिका रूप उपादान कारण से घट नहीं बन सकता। सांख्यों के मन्तव्य के अनुसार प्रकृति परिणाम की एक हेतुता न रही। कार्य के सब धर्म कारण में होने चाहिए घट के सब धर्म मिट्टी में हैं

किन्तु कुम्भार में नहीं है अतः कुम्भकार घट का हेतु नहीं वन सकता ऐसा कहते हो तो बुद्धि में रहे हुए रागादिधर्म प्रकृति में मानने पड़ेंगे। रागादि प्रकृति में नहीं हे अतः प्रकृति हेतु नहीं वन सकती। कदाचित् यह कहो कि प्रकृति में स्थूल रागादिक नहीं हैं किन्तु सूक्ष्म रागादिक अवस्थित हैं तो इसमें कुछ प्रमाण नहीं है। इस प्रकार तो यह भी कहा जा सकता है कि घटादि गत धर्म कुम्भकार में सूक्ष्मरूप से रहे हुए हैं। चेतन में अचेतन धर्म का संक्रमण वाधित है ऐसा कहते हो तो कुम्भकार को आत्मा के स्थान पर कुम्भकार के शरीर को ही घटादिक का कारण मानेंगे तो चेतन अचेतन का संक्रमण नहीं होगा। इसके उत्तर में सूरि जी कहते है कि—

तत्रापिदेहकर्त्ता चे—न्नैवासावात्मनः पृथक्।
पृथगेवेति चेद्भोग, आत्मनो युज्यते कथम्॥

(शा० वा० स० स्त० ३।२६)

अर्थ—कुम्भकार के शरीर की चेष्टा से घटादिक उत्पन्न होते हैं अतः शरीर को ही कारणरूप मानते हो तो देह आत्मा से भिन्न नहीं हो सकता। देह अव्यापक और सक्रिय है, आत्मा व्यापक और निष्क्रिय है अतः आत्मा और देह की भिन्नता है, यदि ऐसा कहो तो आत्मा में भोग कैसे घटित हो सकता है? दूसरी वात देह और आत्मा को सर्वथा भिन्न मानने पर आत्मा मुक्तरूप हो जायगा अर्थात् संसार का उच्छेद हो जायगा। क्षीर नीर न्याय से देह और आत्मा की एकता मानोगे तो बुद्धि का भोग आत्मा में उपस्थित होता हुआ दिखाई देगा।

सत्कार्यवाद में जैनियों का उत्तर पक्ष

अर्थ—सांख्य कारण में कार्य-सत् सदा विद्यमान है, ऐसा मानते हैं इसके समर्थन में 'असदकरणात्' इत्यादि पाँच हेतु देते हैं किन्तु ये पाँच हेतु असत कार्यवाद का भी उतनाही समर्थन करते हैं जितना सत् कार्यवाद का करते हैं। यह पहले बता चुके हैं। यहाँ जैन सांख्यों से पूछते हैं कि हे साँख्यो! तुम कारण में कार्य सर्वथा सत् मानते हो या कथञ्चित् सत् मानते हो? यदि सर्वथा सत् मानते हो तो दूध की अवस्था में दधि, रस, वीर्य, विपाक आदि सर्वथा विद्यमान हैं तो वहाँ उत्पन्न करने को क्या अवशिष्ट रहा? ऐसी स्थिति में दूध से दही उत्पन्न हुआ नहीं कहा जा सकता क्योंकि जो सम्पूर्ण आकार से विद्यमान होता है वह किसी से जन्य नहीं कहा जा सकता जैसे प्रधान या आत्मा। जैसे दही का कार्यपन सिद्ध नहीं होता वैसे ही महदादि का कार्यपन भी सिद्ध नहीं होता क्योंकि वह भी प्रकृति में सदा विद्यमान है। जब कि कार्य ही सिद्ध नहीं होता तो प्रकृति किसका कारण होगी? जिसका विद्यमान में कोई कार्य नहीं होता वह किसी का कारण नहीं बन सकता जैसे आत्मा। इस आपत्ति का निवारण करने के लिए यदि कथञ्चित् पक्ष का स्वीकार करो अर्थात् शक्तिरूप से सत् और व्यक्ति रूप से कार्य असत् है तो शक्ति यानी द्रव्यरूप से सत् और व्यक्ति यानी पर्यायरूप से असत् तो इस प्रकार जैनाभिमत सदसत्वाद का अनुसरण होगा। और सांख्यों के एकान्त सद्वाद का उच्छेद होगा।

दूसरी बात यह है कि दूध में जो शक्ति रूप से दही मानते हो वह शक्ति दही से भिन्न है या अभिन्न है ? यदि भिन्न है तो दूध में दही की सत्ता सिद्ध न हुई किन्तु शक्ति नामक स्वतंत्र पदार्थ की सिद्धि हुई। अन्य पदार्थ के सद्भाव में अन्य पदार्थ की सिद्धि सर्वथा असंगत है।

कदाचित् 'शक्ति और कार्य दोनों अभिन्न हैं यह दूसरा पक्ष स्वीकार करते हो तो शक्ति के समान दही आदि कार्य भी नित्य सिद्ध हुए और इसलिए उनके लिए किसी कारण आदि की आवश्यकता न रही। यदि यों कहो कि कार्य की अभिव्यक्ति के लिए कारण की आवश्यकता है तो यहाँ भी यही प्रश्न उपस्थित होता है कि अभिव्यक्ति सत् है या असत् है ? यदि सत् है अर्थात् पहले से ही विद्यमान है तो उसकी उत्पत्ति कहाँ हुई। विद्यमान पदार्थों की भी उत्पत्ति मानोगे तो कारण का व्यापार निरन्तर चालू रहेगा। किसी भी समय विराम न होगा। यदि असत् कहोगे तो अभिव्यक्ति नाम मात्र की रही। तुमने स्वयं ही 'असदकरणात्' इस वचन से असत् की अनुत्पत्ति मानी है। और सर्व पदार्थ सतरूप होने से कार्यत्व नहीं बन सकता। इसलिए उपादान ग्रहण भी अयुक्त है।

तीसरा हेतु—सर्वसंभवाभावात् प्रतिनियत दूध आद में से दही आदि का उत्पन्न होना ही सर्व संभवाभाव कहा जाता है। वह सत्कार्यवाद में सर्वथा असंभवित है।

चौथा हेतु—शक्तस्य शक्य करणात् शक्तियुक्त कारण से शक्य वस्तु का उत्पन्न होना सत्कार्य-वाद में संभवित नहीं हो सकता। यदि किसी उत्पादकसे उत्पाद्य वस्तु की उत्पत्ति होती

हो तब उत्पादक शक्ति की व्यवस्था और उत्पाद्य की जन्यता का निश्चय हो सकता है अन्यथा शक्ति का ज्ञान ही नहीं हो सकता। उसी प्रकार कार्यता सिद्ध न होने से कार्य कारण भाव भी घटित नहीं होता है।

दूसरी बात यह है कि उक्त पाँच हेतु अपने विषय में प्रवृत्त होकर दो कार्य करते हैं। एक तो प्रमेय पदार्थ में उत्पन्न संशय तथा विपर्यास की निवृत्ति करते हैं। दूसरा नये निश्चय को जन्म देते हैं। यह दोनों कार्य पूर्वपक्षी के मत में नहीं हो सकते। सांख्यों से पूछिये कि उनके मत में संशय और विपर्यास चैतन्य स्वरूप हैं या बुद्धि, मन रूप है? दोनों कोटि में संशय विपर्यास की नित्यता सिद्ध होती है। क्योंकि चैतन्य, बुद्धि और मन तीनों सत्कार्यवाद में नित्य प्रमाणित होते हैं। नये निश्चय की भी उत्पत्ति नहीं हो सकती क्योंकि सत्कार्य पक्ष में वह सर्वदा विद्यमान रहता है। जिन साधनों से संशय, विपर्यास की निवृत्ति नहीं होती और निश्चय की उत्पत्ति नहीं होती उन साधनों के उपन्यास को सार्थक करने के लिए सांख्यों को अविद्यमान निश्चय उत्पन्न करना मानने की आवश्यकता पड़ेगी। अर्थात् 'असदकरणात्' इत्यादि हेतु यहां व्यभिचारी होंगे। व्यभिचार की निवृत्ति के लिए हेतु को विशेषण लगाना पड़ेगा। जिस प्रकार इस प्रक्रिया में असत् निश्चय की उत्पत्ति सिद्ध होती है उसी प्रकार महदादि असत् की उत्पत्ति होगी। अतः सत्कार्यवाद को तिलाञ्जलि दे दीजिये।

सत्कार्यवाद में बन्ध मोक्ष की अनुपपत्ति

सांख्यों के सत्कार्यवाद के पक्ष में मिथ्याज्ञान सर्वदा विद्यमान रहने से बन्धन कायम रहेगा। मोक्ष कभी भी

नहीं हो सकता। यदि कहो कि प्रकृति पुरुष के विवेक ज्ञान से मोक्ष हो जायगा तो यह कथन ठीक नहीं है क्योंकि विवेक ज्ञान भी सदा विद्यमान रहने से जीव सर्वदा मुक्त रहेगा। बन्धन कभी न रहेगा। ऐसा होने से बन्ध मुक्त के व्यवहार के उच्छेद होने का प्रसंग प्राप्त होगा।

हर एक प्रवृत्ति हित की प्राप्ति और अहित के परिहार के लिए होती है। सत्कार्यवाद में हर एक पदार्थ सदा विद्यमान रहने से प्राप्य और परिहार्य कुछ भी नही रहता। इससे सारा जगत् निरीह-इच्छा रहित सिद्ध होगा। और प्रवृत्ति सदाके लिए विदाई ले लेगी। अतः इस एकान्त सत्कार्यवाद की बला को छोड़ दीजिये।

क्या एक प्रकृति ही सब का कारण है ?

'भेदानांपरिमाणात्' इत्यादि हेतुओं से प्रकृति को ही सब सब का कारण रूप स्थापित करने की पूर्व पक्षी ने कोशिश की है किन्तु यह ठीक नहीं है। क्योंकि भेदों के परिमाण और एक कारण जन्यता की परस्पर व्याप्ति सिद्ध नहीं होती है। अनेक कारण जन्यता स्थल में भी भेद परिमाण रूप हेतु रहने से व्यभिचार दोष है। सामान्य कारण जन्यता के साथ व्याप्ति प्रसिद्ध है फिर भी उसे कारण मात्र जन्यता रूपसे सिद्ध करने के लिए हेतु प्रयोग करना सिद्ध साधन है।

पूर्वपक्षी का दूसरा हेतु 'भेदों का समन्वय दर्शन है' अर्थात् बुद्धि आदि भेदों का प्रकृति में समन्वय दिखाई देता है अतः प्रकृति ही सर्व भेदों का कारण है। उत्तरपक्षी कहते हैं कि

यहाँ हेतु असिद्ध है। सुख, दुःख मोह ये भेद हैं और शब्दादि भी भेद हैं, इन सबका समन्वय प्रकृति में नहीं हो सकता क्योंकि सुख दुःखादि तो चेतन हैं और शब्दादिक अचेतन हैं। चेतन और अचेतन दोनों का समन्वय प्रकृति में होना प्रमाण विरुद्ध है। पूर्व पक्षी कहता है कि प्रसाद, ताप, दैन्यादि प्रकृति के धर्म हैं और प्रकृति में समन्वित होते हैं, यह भी एकान्त ठीक नहीं है। 'प्रकृति से आत्मा भिन्न है' ऐसी भावना भानेवाले योगाभ्यासी कपिलादिक के आत्मा में प्रसाद-हर्ष होता है। इसके विरुद्ध आत्मा का दर्शन न करने वाले को उद्वेग होता है। जड़ बुद्धिवाले मनुष्यों को मोह उत्पन्न होता तो भी सांख्यों ने आत्माको प्रधान में समन्वित नहीं माना है, यदि कहो कि संकल्प मात्र से प्रीति आदि उत्पन्न होती है तो संकल्प भी ज्ञान स्वरूप है और ज्ञान आत्मा का धर्म है। सुखादिक चेतन होने से आत्मा में समन्वित होंगे प्रकृति में नहीं। अतः भेद समन्वय-रूप हेतु से प्रकृति सबका कारण सिद्ध नहीं हो सकती। इत्यलमतिविस्तरेण।। (प्र० क० मा० प० २। पृ० ८१-८४।)

कालादिवाद के विषय में जैनों का उत्तर पक्ष

प्रकृतिवाद के साथ-साथ कालवाद, स्वभाववाद, नियतिवाद और कर्मवाद की एकान्तरूप से प्रवृत्ति हुई है जिससे मूलगाथा में 'पहाणाई' शब्द रखा गया है। प्रधान-प्रकृति और आदि शब्द से काल स्वभाव आदि चार कारणों का उपन्यास पूर्वपक्ष रूप से पहले कर चुके हैं। सूरिजी ने इस सम्बन्ध में जो ऊहा-पोह किया है उसमें से कुछ पूर्वपक्ष के उपन्यास के साथ उत्तर पक्षका उपन्यास करना अप्रासंगिक नहीं गिना जा सकता।

कालादीनां च कर्तृत्वं, मन्यन्तेऽन्ये प्रवादिनः ।
केवलानां तदन्ये तु, मिथः सामग्र्यपेक्षया ॥
(शा० वा० स० स्त० २।५२)

अर्थ—कई एकान्तवादी काल, स्वभाव, नियति, पूर्वकर्म में से एक-एक को एकांत रूपसे कारण मानते हैं। किन्तु अनेकान्तवादी इन चारों की समूहरूप सामग्री को सापेक्ष कारण मानते हैं।

इन चारों वादियों का परस्पर संवाद इस प्रकार है—
प्रथम कालवादी कहता है कि—

न काल व्यतिरेकेण, गर्भकाल शुभादिकम् ।
यत्किञ्चिज्जायते लोके, तदसौ कारणं किल ॥
(शा० वा० स० स्त० २।५३)

कालः पचति भूतानि, कालः संहरते प्रजाः ।
कालः सुप्तेषु जागर्ति, कालो हि दुरतिक्रमः ॥
(शा० वा० स० स्त० २।५४)

किञ्च कालादृते नैव, मुद्गपक्तिरपीष्यते ।
स्थाल्यादिसन्निधानेऽपि, ततःकालादसौ मता ॥
(शा० वा० स० स्त० २।५५)

कालाभावे च गर्भादि, सर्वं स्याद्व्यवस्थया ।
परेष्ट हेतु सद्भाव—मात्रादेव तदुद्भवात् ॥
(शा० वा० स० स्त० २।५६)

अर्थ—सुगम है ।

स्वभाववादी कहता है कि—

न स्वभावातिरेकेण, गर्भकालशुभादिकम् ।
यत्किञ्चिज्जायते लोके, तदसौ कारणं किल ॥

(शा० वा० स० स्त० २।५७)

सर्वेभावाःस्वभावेन, स्वस्वभावे तथा तथा ।
वर्तन्तेऽथ निवर्तन्ते, कामचारपराङ्मुखाः ॥

(शा० वा० स० स्त० २।५८)

न विनेह स्वभावेन, मुद्गपक्तिरपीष्यते ।
तथा कालादि भावेऽपि, नाश्वमाषस्य सा यतः ॥

(शा० वा० स० स्त० २।५९)

अतत्स्वभावात्तद्भावेऽतिप्रसङ्गोऽनिवारितः ।
तुल्ये तत्र मृदः कुम्भो न पटादीत्ययुक्तिमत् ॥

(शा० वा० स० स्त० २।६०)

अर्थ—सुगम है ।

नियतिवादी कहता है—

नियतेनैवरूपेण, सर्वे भावा भवन्ति यत् ।
ततो नियतिजा ह्येते, तत्स्वरूपानुवेधतः ॥

(शा० वा० स० स्त० २।६१)

यद्यदैव यतो यावत्तत्तदैव ततस्तथा ।
नियतं जायते न्यायात्, क एताम् बाधितुं क्षमः ॥

(शा० वा० स० स्त० २।६२)

न चर्ते नियतिं लोके, मुद्गपक्तिऽपीक्ष्यते ।
तत्स्वभावादिभावेऽपि, नासावनियता यतः ॥
(शा० वा० स० स्त० २।६३)

अन्यथाऽनियतत्वेन, सर्वभावः प्रसज्यते ।
अन्योन्यात्मकतापत्तेः, क्रियावैफल्यमेव च ॥
(शा० वा० स० स्त० २।६४)

अर्थ—सुगम है ।

कर्मवादी एकान्त रूप से कर्म की कारणता का यशोगान करता हुआ कहता है—

न भोक्तृव्यतिरेकेण, भोग्यं जगति विद्यते ।
न चाकृतस्य भोक्ता स्यात्, मुक्तानाम् भोगभावतः ॥
(शा० वा० स० स्त० २।६५)

भोग्यं च विश्वं सत्त्वानां, विधिना तेन-तेन यत् ।
दृश्यतेऽध्यक्षमेवेदं, तस्मात्तत्कर्मजं हि तत् ॥
(शा० वा० स० स्त० २।६६)

न च तत्कर्म वैधुर्ये, मुद्गपक्तिरपीक्ष्यते ।
स्थाल्यादि भेदभावेन, यत्किञ्चिन्नोपपद्यते ॥
(शा० वा० स० स्त० २।६७)

अर्थ—इस जगत् में भोक्ता के विना भोग्य नहीं है । भोक्ता भी कृतकर्म का होगा ! अकृतकर्म का कोई भोक्ता नहीं बन सकता । अकृतकर्म का भी भोक्ता मानोगे तो मुक्त आत्माओं को भी भोग का प्रसंग प्राप्त होगा । संसारी प्राणियों को सुख

दुःख देने से यह जगत् भोग प्रयोजन है, यह प्रत्यक्ष है। इसलिए जगत् भोक्तृकर्म जन्य है अतः जगत् का कारण कर्म ही है। भोक्ता के कर्म अनुकूल न हों तो मूँग का पाक भी नहीं दीख सकता। अन्य कुछ भी न हो तो मूँग की हण्डी ही फूट जायगी जिससे खाने में बाधा हो जायगी।

चित्रं भोग्यं तथा चित्रात्, कर्मणोऽहेतुताऽन्यथा।
तस्य यस्माद्विचित्रत्वं, नियत्यादेर्युज्यते कथम्॥

(२। ६८)

अर्थ—नाना प्रकार के भोग नाना प्रकार के कर्म से सिद्ध होते हैं। नाना प्रकार के कर्म न स्वीकार किये जायँ तो विचित्र भोग का कोई हेतु न रहेगा। यह विचित्रता नियति आदि से सिद्ध नहीं हो सकती क्योंकि—

नियतेर्नियतात्मकत्वान्नियतानां समानता।
तथा नियतभावे च, बलात्स्यात्तद्विचित्रता॥

(२। ६६)

अर्थ—नियति का स्वरूप नियत है। नियतकार्य में समानता ही रहेगी, विचित्रता नहीं आ सकती। अन्य कारण को न मानकर नियति को ही कार्य मानोगे तो कार्य में विचित्रता नियम से नहीं आ सकती जबर्दस्ती से लाओ तो बात दूसरी है। अतः कर्म ही को कारण मानना चाहिए।

न च तन्मात्रभावादे—र्युज्यतेऽस्या विचित्रता।
तदन्यभेदकं मुक्त्वा, सम्यग् न्यायाविरोधतः॥

(२। ७०)

अर्थ—सम्यग् न्याय दृष्टि से देखोगे तो कार्य में विचित्रता लाने के लिए केवल नियत से कार्य नहीं हो सकता किन्तु तदन्यभेदक नियति के सिवाय अन्य कारण मानना पड़ेगा। एकान्त रूप से केवल नियति से कार्य नहीं चल सकता।

तद्भिन्नभेदकत्वे च तत्र तस्या न कर्तृता।
तत्कर्तृत्वे च चित्रत्वं तद्वत्तस्याप्यसंगतम्॥

(…२। ७२)

अर्थ—नियति के सिवाय अन्य की कारणता मानने पर नियति का कर्तृपन नहीं रह सकता। ऐसा होने से नियति में सर्व हेतुत्व के सिद्धान्त का लोप हो जायगा। कदाचित् नियति का कर्त्तापन स्वीकार कर लिया जाय तो कार्य में विचित्रता की असंगति कायम रह जायगी।

तस्या एव तथाभूतः, स्वभावो यदि चेष्यते।
त्यक्तो नियतिवादः स्यात्, स्वभावाश्रयणान्ननु॥

(२। ७३)

अर्थ—यदि नियति का ही ऐसा स्वभाव माना जाय कि कार्य की विचित्रता उत्पन्न हो जाती है तो ग्रन्थकार कहते हैं कि नियतिवाद को तिलाञ्जलि मिल चुकी। फिर तो स्वभाव का आश्रय लेने से स्वभाववाद ही कायम रहा।

स्वभावाश्रय में भी दोष दिखाए जाते हैं

स्वो भावश्चस्वभावोपि, स्वसत्तैव हि भावतः।
तस्यापि भेदकाभावे, वैचित्र्यं नोपपद्यते॥

(…२। ७४)

अर्थ—स्वभाव शब्द का अर्थ निश्चय से अपनी सत्ता ही होता है। नियति का स्वभाव, नियति की सत्ता ही हुआ। उसमें वैचित्र्यप्रयोजक कोई भेदक भाव नहीं है अतः स्वभाव का आश्रय लेने पर विचित्रता असंगत ही रहती है।

ततस्तस्याविशिष्टत्वाद्युगपद्विश्वसंभवः।
न चासाविति सद्युक्त्या तद्वादोपि न संगतः॥
(…२।७५)

अर्थ—वैचित्र्य के अभाव से स्वभाव भी एक रूप ही सिद्ध हुआ। एकरूपी स्वभाव से जगत् उत्पन्न होगा तो जगत् भी एकरूप ही होगा। उसमें विचित्रता नहीं आ सकती अतः स्वभाववाद भी संगत नहीं है। नियति के समान स्वभाव भी कार्य की विचित्रता का प्रयोजक नहीं बन सकता।

तत्तत्कालादि सापेक्षो विश्वहेतुः स चेन्ननु।
मुक्तः स्वभाववादः स्यात्, कालवाद परिग्रहात्॥
(… २।७६)

अर्थ—कालवादी कहता है कि स्वभाव एक रूप होने से कार्य में विचित्रता नहीं आती तो काल को स्वभाव के साथ मिलालो। काल सापेक्ष स्वभाव विचित्र कार्य उत्पन्न कर सकेगा। अनेकान्ती कहते हैं कि तब एकान्त स्वभाववाद कहाँ रहा? कालवाद को साथ रखना है तो स्वभाववाद को तिलाञ्जलि मिल चुकी।

कालोऽपि समयादिर्यत् , केवलःसोऽपिकारणम् ।
तत एव ह्यसंभूतेः कस्यचिन्नोपपद्यते ॥
(... २ । ७७)

अर्थ—अहो कालवादिन् ! काल क्या वस्तु है ? समय, मुहूर्त्त आदि काल है ऐसा कहना पड़ेगा। अन्य की अपेक्षा बिना क्या समय आदि काल किसी पदार्थ को उत्पन्न कर सकते हैं ? नहीं कर सकते । तब सिद्ध हुआ कि काल भी निरपेक्ष रहकर किसी का कारण नहीं बन सकता ।

यतश्च काले तुल्येऽपि , सर्वत्रैव न तत्फलम् ।
अतो हेत्वन्तरापेक्षं , विज्ञेयंतद्विचक्षणैः ॥
(... २ । ७८)

अर्थ—काल यदि निरपेक्ष कारण होगा तो वह सर्वत्र एक रूप ही रहेगा। जिस समय एक स्थान पर घट उत्पन्न होगा उस समय सर्वत्र घट की उत्पत्ति होनी चाहिए। मगर ऐसा नहीं होता। जहाँ मृत्तिका होती है वहाँ घट उत्पन्न होता है जहाँ तन्तु होते हैं वहां पट उत्पन्न होता है। अतः काल के साथ अन्य भी कुछ कारण होना चाहिए। जब अन्य कारण को मानोगे तो एकान्तकालवाद को भी तिलाञ्जलि मिल चुकी। तो क्या होना चाहिए यह अनेकान्तवादी हरिभद्र सूरजी बताते हैं कि—

अतः कालादयः सर्वे, समुदायेन कारणम् ।
गर्भादेःकार्यजातस्य , विज्ञेया न्यायवादिभिः ॥
(२ । ७९)

न चैकैकत एवेह, क्वचित् किञ्चिदपीक्ष्यते ।
तस्मात् सर्वस्यकार्यस्य, सामग्री जनिका मता ॥
(२ । ८०)

अर्थ—न्यायवादियों को समझना चाहिये कि काल, स्वभाव नियति और कर्म ये चारों समुदायरूप से गर्भादिक सर्वकार्य के कारण हैं। किसी भी स्थल पर किसी भी काल में, इन चारों में से किसी एक के द्वारा एकान्तरूप से कार्य की निष्पत्ति नहीं हो सकती अतः इन चारों की समूहरूप सामग्री सर्वकार्य का कारण है यही मानना उपयुक्त है। इसी बात को सिद्धसेन दिवाकर ने सम्मति तर्क में बताया है। देखिये—

कालो सहाव णियई, पुव्वकम्मं पुरिसकारणेगन्ता ।
मिच्छत्तं ते चेव उ, समासओ हुन्ति सम्मत्तं ॥

अर्थ—काल, स्वभाव, नियति, पूर्व कृतकर्म और पुरुषकार-पुरुषार्थ इन पाँचों की पृथक्-पृथक् कारणता, एकान्तरूप से स्वीकार करना मिथ्यात्व है। पाँचों का समन्वय करके कारणता स्वीकार करना सम्यक्त्व है। पाँचों में गौणता और मुख्यता अवश्य है। कहीं काल प्रधान है, और अन्य चार गौण हैं, कहीं कर्म प्रधान और चार गौण ऐसे पाँचों के लिए समझना चाहिए। अवसर्पिणी के प्रथम आरे में सुख ही सुख है और छठेआरे में दुःख ही दुःख है। उत्सर्पिणी के प्रथम आरे में दुःख ही दुःख और छठे आरे में सुख ही सुख है। यहाँ काल की प्रधानता है। भरत क्षेत्र और ऐरावत क्षेत्र में एकान्त सुख या एकान्त दुःख होता है और महाविदेह क्षेत्र में सदैव

समानरूप से सुख ही होता है। यहाँ स्वभाव की मुख्यता है। जहाँ निकाचित कर्म का उदय होता है वहाँ नियती-भावीभाव की मुख्यता है। एक ही समय एक माता पिता के पेट से जन्मे हुए दो बच्चों में एक रोगी और एक नीरोगी, एक सुभागी और एक दुर्भागी होता है, यहाँ कर्मकी मुख्यता है। मुक्ति प्राप्त करने में पुरुपार्थ की मुख्यता है। एकान्त दैव या भावीभाव पर आधार रखने वाले को मुक्ति मिलना असंभव है। यहाँ सद्दालपुत्त और महावीर स्वामी का संवाद प्रकृतिवाद पर विशेप प्रकाश डालेगा। वह इस प्रकार है—

सद्दालपुत्त और नियतिवाद

सद्दालपुत्र प्रथम गोशालक का उपासक था। वाद में श्री महावीर स्वामी का वह श्रावक वन गया था। उसका अधिकार उपासक दशांग सूत्रके सातवें अध्ययन में है। महावीर स्वामी पोलासपुर नगर के वाहर सद्दालपुत्त की कुम्भकार शाला में ठहरे हैं। वहाँ सद्दालपुत्त कुम्भकार के साथ वार्तालाप हुआ—

श्री महावीर स्वामी—सद्दालपुत्त ! जो वर्तन धूप में सुखाये हुए हैं वे किससे वने हैं ?

सद्दालपुत्त—भगवान् ! प्रथम मिट्टी ली गई, उसे पानी में भिगोकर उसमें राख आदि मिलाकर उसका पिण्ड वनाया गया, पिण्ड को चाक-चक्र पर चढ़ाया जाता है फिर ये वर्तन वनाये जाते हैं।

महावीर स्वामी—सद्दालपुत्त ! ये वर्तन, उत्थान, कर्म, वल, वीर्य, पुरुपार्थ, पराक्रम से वने हैं या इनके विना ही!

सद्दाल पुत्त—भगवन्? अनुत्थान, अकर्म, अबल, अवीर्य, अपुरुपार्थ, अपराक्रम से बने हैं। उत्थान, कर्म, बल, वीर्य, पुरुपार्थ और पराक्रम हैं ही नहीं। सर्वभाव नियति के अधीन हैं।

महावीर स्वामी—सद्दालपुत्त! कोई मनुष्य कच्चे या पके तेरे बर्तन उठा जाय, उन्हें बिखेर डाले, तोड़ फोड़ डाले, अथवा अग्नि मित्रा नाम की तेरी भार्या के साथ कोई कुकर्म करे तो उसे तू क्या दण्ड देगा?

सद्दालपुत्त—भगवन्! उस गुन्हेगार को आक्रोश वचन कहूँगा, मारूँगा, बांधूंगा, ताड़ना तर्जना करूँगा, निर्भत्स्ना करूँगा, किं बहुना अकाल में ही जीवन से रहित कर दूँगा।

महावीर स्वामी—सद्दालपुत्त! यदि उत्थान, कर्म, बल, वीर्य, पुरुपार्थ, पराक्रम नहीं हैं, सर्वभाव नियति के अधीन हैं, तो उन बर्तनों को चुराने वाला, तोड़नेवाला या कुकर्म करनेवाला अपराधी नहीं है। क्योंकि उसने अपने पुरुपार्थ से कुछ भी नहीं किया है। नियति से ही सब कार्य हुआ है। अतः उसे दण्ड देना वाजिब नहीं है। ऐसा होने पर भी यदि तू उसे अपराधी मानता है और दण्ड देता है तो सर्वभाव नियति अधीन हैं यह बात मिथ्या सिद्ध होती है।

इतनी बातचीत होने पर सद्दालपुत्त नियतिवाद को छोड़ देता है और महावीर स्वामी का श्रावक बन जाता है।

(उपा० ७)

इस विषय का अधिक खुलासा 'कारण-संवाद' नामक पुस्तिका में किया गया है। जिज्ञासु को वहाँ अनुसंधान कर लेना चाहिए।

सुज्ञेषु किं बहुना ?

जैन जगत्-लोकवाद

(सृष्टि-प्रलय और स्थिति)

"तत्तं ते ण वियाणन्ति ण विणासी कयाइवि"

(सू० १।१।[illegible])

नौवीं गाथा के तीसरे पद के विवरण में भिन्न-भिन्न धर्मों के पूर्वपक्ष और दार्शनिक उत्तर पक्ष के ऊहापोह से यह निर्णय निकलता है कि 'ण विणासी कयाइवि' 'न विनाशी कदाचिदपि' अर्थात् किसी भी काल में इस जगत् का सर्वथा विनाश नहीं हुआ, न होता है और न होगा।

पिंगल नियंठा के द्वारा खन्धक संन्यासी से पूछे हुए प्रश्नों में से प्रथम प्रश्न का खुलासा करते हुए भगवान् महावीर स्वामी कहते हैं कि—

"कालओ णं लोए ण कयावि न आसी, न कया वि न भवति, न कयावि न भविस्सति भविंसु य भवति य भविस्सइ य धुवे णियए सासते अक्खए अव्वए अवट्ठिए णिच्चे णत्थिपुण से अन्ते" (भग० २।१)

अर्थ—अहो खन्धक ! काल की अपेक्षा यह लोक भूत काल में कभी न था, यह बात नहीं है, वर्तमान काल में नहीं है ऐसा भी नहीं, और भविष्य में किसी भी काल में न होगा ऐसा भी नहीं है। भूतकाल में था, वर्तमान में है और भविष्य में रहेगा। लोक ध्रुव है, नियत एक स्वरूप है, शाश्वत-प्रतिक्षण वर्तमान है, अक्षय-अविनाशी है, अव्यय, व्ययहानि रहित है, अवस्थित—पर्याय अनन्त होने से किसी न किसी पर्याय में विद्यमान है, नित्य-काल की अपेक्षा से उसका अन्त नहीं आ सकता।

लोक का स्वरूप

धृतःकृतो न केनापि स्वयं सिद्धो निराश्रयः।
निरालम्बः शाश्वतश्च विहायसि परं स्थितः॥
उत्पत्ति विलयध्रौव्य—गुणषड्द्रव्य पूरितः।
मौलिस्थसिद्धमुदितो नृत्यायेवाततक्रमः॥

(लो० प्र० १२-६१)

अर्थ—यह लोक किसी से धारण किया हुआ नहीं है और न किसी के द्वारा बनाया हुआ है। अपने स्वरूप से ही सिद्ध है। इसको ठहराने के लिए किसी मूर्त आश्रय की आवश्यकता नहीं है, वैसे ही आलम्बन की भी आवश्यकता नहीं है। वह शाश्वत है—आकाश को अवगाहन करके रहा हुआ है। उत्पत्ति, विनाश और ध्रौव्य गुण युक्त धर्मास्तिकायादि छ द्रव्यों से भरा हुआ है। अर्थात् छ द्रव्यों का समुदायरूप यह लोक है। यदि लोक की पुरुष के रूप में कल्पना करें तो मुकुट के स्थान पर सिद्ध भगवान् अनन्त आनन्द से आनन्दित हो रहे

हैं और नृत्य के लिए मानो पैर पसार कर नाच रहा हो वैसे पुरुष के आकार वाला यह लोक है। तदुक्तं—

किमयं भंते लोएत्ति पवुच्चइ गोयमा! पंचत्थिकाया एस णं एवतिए लोएत्ति पवुच्चइ। तं जहा धम्मत्थिकाए अधम्मत्थिकाए जाव पोग्गलत्थिकाए। (भग० १३। ४)

अर्थ— गौतम स्वामी महावीर स्वामी से पूछते हैं कि हे भन्ते! यह लोक क्या चीज है? महा० गौतम! धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय, आकाशास्तिकाय, जीवास्तिकाय और पुद्गलास्तिकाय. इन पाँच अस्तिकायों का समूह ही यह लोक है।

अस्तिकाय का स्वरूप

अस्ति यानी प्रदेश और काय यानी समूह। परस्पर सम्मिलित प्रदेशों का समूह अस्तिकाय है। परस्पर सम्मिलित प्रदेश वाले पाँच पदार्थ हैं–धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय, आकाशास्ति काय. जीवास्तिकाय और पुद्गलास्तिकाय। इन पांचों का स्पष्टीकरण इस प्रकार है–

श्री गौतम-महावीर प्रश्नोत्तर

गौतम—हे प्रभो! धर्मास्तिकाय जीवों की किन-किन प्रवृत्तियों में हेतु बनता है?

श्रीमहावीर—हे गौतम! जीवों का आना, जाना, बोलना, आँख से पलक मारना, मनका व्यापार, वचन का व्यापार और काया का व्यापार इत्यादि प्रकार के जो-जो चलित भाव हैं वे सब धर्मास्तिकायका निमित्त

पाकर प्रवर्तित होते हैं। क्योंकि धर्मास्तिकाय का लक्षण गति हेतुत्व है अर्थात् गति करने वाले दो पदार्थ हैं—जीव और पुद्गल, इन दोनों को गति क्रिया में सहायता देने वाला धर्मास्तिकाय नामक द्रव्य है।

गौतम—भंते ! अधर्मास्तिकाय जीवों की किन-किन प्रवृत्तियों में हेतु बनता है ?

श्रीमहावीर—गौतम ! जीवों का ठहरना, बैठना, लेटना सोना, मन को एकाग्र करना, इत्यादि प्रकार के जो-जो स्थिर भाव हैं वे सब अधर्मास्तिकाया के निमित्त से स्थिर बनते हैं। क्योंकि अधर्मास्तिकाया का स्थिति करना रूप लक्षण है। अर्थात् पदार्थों को स्थिर करने में सहायता देने वाला अधर्मास्तिकाय है।

गौतम—भंते ! आकाशास्तिकाय जीव और अजीव की किन-किन प्रवृत्तियों में निमित्त बनता है ?

श्रीमहावीर—गौतम ! आकाशास्तिकाय जीव द्रव्य और अजीव द्रव्य का वासन के समान आधार है। सब वस्तुओं को रहने या ठहरने के लिए अवकाश देता है। जहाँ एक द्रव्य होता है वहाँ दूसरे द्रव्य को भी अवकाश देकर ठहरता है। जहाँ एक द्रव्य समाता है वहीं पर सौ, हजार, लाख करोड़ या हजार करोड़ वस्तुएँ भी समा जाती हैं। रबर की थैली के समान बहुत सी वस्तुओं को भी समा देता है। अवकाश देना-अवगाहन करना यह आकाश का लक्षण है।

गौतम—भंते ! जीवास्तिकाय जीव की किस-किस प्रवृत्ति में हेतु बनता है ?

श्रीमहावीर—गौतम ! जीवास्तिकाय जीव के अनन्त मतिज्ञान के पर्यायों, अनन्त श्रुत ज्ञान के पयार्यों, अनन्त अवधि ज्ञान के पर्यायों, अनन्त मन पर्याय ज्ञान के पर्यायों और अनन्त केवल ज्ञानके पर्यायों का उपयोग लगाने में निमित्त बनता है । क्योंकि उपयोग लगाना यह जीव का लक्षण है ।

गौतम—भंते ! पुद्गलास्तिकाय जीवों की किन-किन प्रवृत्तियों में कारण बनता है ?

श्रीमहावीर—गौतम ! पुद्गलास्तिकाय जीवों के औदारिक आदि पाँच शरीर बनने में, श्रोत्रेन्द्रिय आदि पाँच इन्द्रियाँ बनने में और मनोयोग, वचन योग, काया योग,श्वासोच्छ्वास आदि के लिए आवश्यक पुद्गल-ग्रहण करने में कारण बनता है अर्थात् उक्त पुद्गल जीव से ग्राह्य बनते हैं । ग्राह्य होना ही पुद्गल का लक्षण है ।

(भग० १३।४ सूत्र ४८१)

अस्तिकायके भेद और उनका विशेष स्वरूप

गोतम—भंते ? धर्मास्तिकाय में वर्ण, गन्ध, रस और स्पर्श कितने हैं ?

महावीर—गौतम ! धर्मास्तिकाय वर्ण,गन्ध, रस और स्पर्शरहित

पदार्थ है। वह अरूपी अजीव है, शाश्वत है सदा अवस्थित है, लोक के छ द्रव्यों में से एक द्रव्य-है। संक्षेप से इसके पाँच भेद हैं—

(१) द्रव्य से धर्मास्तिकाय (२) क्षेत्र से धर्म्म० (३) काल से धर्मा० (४) भाव से धर्मा० (५) गुण से धर्मास्तिकाय। द्रव्य की अपेक्षा धर्मास्तिकाय के स्वरूप का विचार करें तो धर्मास्तिकाय नाम का एक द्रव्य है। क्षेत्र से समस्त लोक में धर्मास्तिकाय व्याप्त है—अर्थात् लोक प्रमाण से परिमित है। काल से अनादि अनन्त है। भूतकाल में था, वर्तमान में है और भविष्य में रहेगा। न कभी उत्पन्न हुआ है और न कभी विनष्ट होगा। ध्रुव और नित्य है। भाव से वर्ण, गन्ध, रस और स्पर्श रहित है। गुण से गति करने में सहायता करना रूप गुण युक्त है।

गौतम—भन्ते ! अधमास्किाया में कितने वर्ण, गन्ध, रस और स्पर्श हैं ?

श्री महावीर—गौतम ! धर्मास्तिकाय के समान ही अधर्मास्तिकाय का विवरण करना चाहिए। फर्क सिर्फ इतना ही है कि गुण की अपेक्षा अधर्मास्तिकाय पदार्थों की स्थिति में सहायता देना रूप गुण वाला है।

गौतम—भंते ! आकाशास्तिकाया में कितने वर्णादि पाये जाते हैं ?

श्री महावीर—गौतम ! आकाशास्तिकाय का स्वरूप धर्मास्तिकाय के समान समझना चाहिए। फर्क केवल इतना ही है कि क्षेत्र की अपेक्षा आकाशास्तिकाय लोक-परिमाणमात्र ही नहीं किन्तु लोकालोक दोनों में व्यापक है और गुण की अपेक्षा वस्तुओं को अवकाश देना रूप गुण वाला है। यह दो विशेषताएं हैं।

गौतम—भंते ! जीवास्तिकाय में वर्ण, गन्ध, रस और स्पर्श कितने हैं ?

श्री महावीर—गौतम ! जीवास्तिकाय वर्ण, गन्ध, रस और स्पर्श रहित है। द्रव्य से जीवास्तिकाय में अनन्त जीव द्रव्य हैं। क्षेत्र से समस्त लोक व्यापक है। काल से अनादि अनन्त ध्रुव शाश्वत है। भाव से वर्णादि रहित, अरूपी, अमूर्त है और गुण से उपयोगचैतन्य गुण युक्त है।

गौतम—भंते ! पुद्‌गलास्तिकाय में कितने वर्ण, गन्ध रस और स्पर्श हैं ?

श्री महावीर—गौतम ! पुद्‌गलास्तिकाय में पाँचवर्ण, दो गन्ध, पाँच रस और आठ स्पर्श हैं। पुद्‌गलास्तिकाय रूपी अजीव है, शाश्वत और अवस्थित है। लोक के छः द्रव्यों में से एक द्रव्य है। संक्षेप में इसके पाँच भेद हैं। द्रव्य से, क्षेत्र से, काल से, भाव से और गुण से। द्रव्य की अपेक्षा पुद्‌गलास्तिकाय में अनन्त द्रव्य हैं। क्षेत्र से-समस्तलोक में व्याप्त है। काल से-अनादि

अनन्त ध्रुव, नित्य, शाश्वत है। भाव से वर्ण, गन्ध रस और स्पर्श युक्त, मूर्त्त हैं। गुण से-जीवके द्वारा शरीरादि रूप से ग्राह्य वा भोग्य है।

(भग० २-१० । सू० ११८)

छठा कालद्रव्य

यद्यपि अस्तिकाय द्रव्यकी संख्या पांच ही बताई गई है तथापि लोक प्रकाश के बारहवें सर्ग के ६७ वें श्लोक में "षड् द्रव्यपूरितः इस वाक्य से द्रव्य की संख्या छ प्रदर्शित की गई है। इसके समर्थन में उपाध्याय श्री विनय विजय जी कहते हैं कि—

कालः षष्ठं पृथग्द्रव्य—मागमेऽपि निरूपितम्।
कालाभावे च तानि स्युः, सिद्धान्तोक्तानि षट् कथम्॥

(लो० प्र० स० २८-४४)

अर्थ—आगम में भी काल नामक छठा द्रव्य बताया गया है। यदि काल को छठा द्रव्य न माना जाय तो सिद्धान्त में कहे हुए छ द्रव्यों की संख्या कैसे संगत होगी? तथा चागमः "कइ णं भन्ते! दव्वाए? गोयमा छ दव्वा प. तं. धम्मत्थिकाए, आगासत्थि काए, जीवत्थिकाए, पुग्गलत्थिकाए, अद्धासमये य" अधम्म कालका मुख्य लक्षण वर्तना है। काल सर्व पदार्थों को परिवर्तित करता है। हर एक द्रव्य में समय-समय में जो उत्पाद व्यय होते हैं उनका निमित्तकारण काल है। नये का पुराना और पुराने का नया काल से होता है। ऋतु में परिवर्तन करने वाला काल है।

तदुक्तं—

द्रव्यस्य परमाण्वादे—र्या तद्रूपतया स्थितिः।
नवजीर्णतया वा सा, वर्त्तना परिकीर्तिता॥
(लो० प्र० स० २८-४८)

अर्थ—परमाणु आदि द्रव्य की परमाणु आदि रूपसे स्थिति होना अथवा नवीन पदार्थ को जीर्ण बनाना और जीर्ण को नया बनाना वर्तना है। यह वर्त्तना काल का गुण है अर्थात् कालाश्रित है।

काल का स्वरूप और प्रकार

कालद्रव्य वर्ण, गन्ध, रस और स्पर्श से रहित है। अरूपी और अमूर्त है। संक्षेप मे इसके पांच प्रकार हैं-द्रव्य से, क्षेत्र से, काल से, भाव से और गुण से। द्रव्य से काल नामक एक द्रव्य है। क्षेत्र से—व्यवहार काल ढाई द्वीप प्रमाण है और वर्त्तना लक्षण निश्चय काल सर्व लोक व्यापी है। काल से—अरूपी अमूर्त है। गुण से वर्तना परिवर्तन गुण वाला है।

काल अस्तिकाय क्यों नहीं है?

धर्माधर्माभ्रजीवाख्याः, पुद्गलेन समन्विताः।
पञ्चामी अस्तिकायाः स्युः, प्रदेश प्रकरात्मकाः॥
अनागतस्यानुत्पत्ते, रुत्पन्नस्य च नाशतः।
प्रदेश प्रचयाभावात्, काले नैवास्तिकायता॥
(लो० प्र० स० २।१२।१३)

अर्थ—धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय, अकाशास्तिकाय, जीवास्तिकाय और पुद्गलास्तिकाय ये पांचों अस्पिकाय इसलिए हैं कि ये प्रदेश (निर्विभाज्य अंश) समूह रूप हैं। काल में

अस्तिकायता नहीं है क्योंकि अनागत काल की भविष्यत् काल की उत्पत्ति नहीं हुई और उत्पन्न हुए भूतकाल का नाश हो गया अर्थात् क्षण-क्षण का संचय नहीं हो सकता। प्रदेश समूह के अभाव से काल अस्तिकाय रूप नहीं है यह तात्पर्य है।

विना जीवेन पञ्चामी, अजीवाः कथिताः श्रुते।
पुद्‌गलेन विना चामी, जिनैरुक्ता अरूपिणः॥
(लो० प्र० स० २-१४)

अर्थ—जीवको छोड़कर बाकी के पांच द्रव्य अजीव हैं। और पुद्‌गल को छोड़ कर अन्य पांच द्रव्य अरूपी हैं ऐसा शास्त्र में कहा गया है।

द्रव्य-लक्षण

उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य युक्त जो सत् है वह द्रव्य है। तदुक्तं—'उत्पादव्ययध्रौव्ययुक्तं सत्' (त० सू० अ० ५-२९) अर्थ—उत्पत्ति, विनाश और ध्रौव्य युक्त जो सत्—सद्‌भूतवस्तु है वह द्रव्य कहा जाता है। घटपटादिक में नवीन पर्यायकी उत्पत्ति होती है जीर्ण पर्याय-पूर्वपर्याय का विनाश होता है, मिट्टी या तन्तु आदि अंश की स्थिरता रहती है और वह सत्पदार्थ है अतः लक्षण समन्वय हो जाता है। शश विषाण या आकाश कुसुम आदि असद् भूत हैं उनमें सद्‌पना नहीं है अतः लक्षण समन्वय नहीं होता है अतः प्रस्तुत लक्षण में अतिव्याप्तिदोष नहीं प्राप्त होता है। द्रव्य मात्र गुणपर्यायात्मक है। पर्याय की अपेक्षा से उत्पत्ति विनाश और द्रव्य की अपेक्षा से ध्रौव्य अंश है। पदार्थ मात्र में लक्षण का सद्‌भाव होने से

अव्याप्ति दोष भी नहीं है। अव्याप्ति अतिव्याप्ति और असंभव इन तीनों दोषों से रहित होने से उक्त लक्षण सल्लक्षण है। उत्पत्ति और विनाश जहाँ हो वहाँ ध्रौव्य कैसे रह सकता है? ये परस्पर विरुद्ध हैं। ऐसी शंका करना ठीक नहीं है। क्योंकि परस्पर विरुद्ध धर्म भी अपेक्षा भेद से एक साथ रह सकते हैं। जैसे पितृत्व और पुत्रत्व ये दोनों परस्पर विरोधी धर्म एक पुरुष में रहते हैं। अपने पुत्र की अपेक्षा से वह पिता है और अपने पिता की अपेक्षा वह पुत्र है। कोई भी द्रव्य पर्याय रहित नहीं है और कोई भी पर्याय द्रव्य शून्य नहीं है। पर्याय का आधार द्रव्य है और द्रव्य के आश्रित पर्याय है। वस्तुतः द्रव्य और पर्याय का तादात्म्य सम्बन्ध है। 'गुण-पर्यायात्मकं द्रव्यम्' द्रव्य का सहचारी गुण है और क्रमभावी पर्याय है। गुण स्थिर अंश है, ध्रुवस्वरूप है और पर्याय चल अर्थात् उत्पत्ति विनाशशाली है। हरएक द्रव्यके द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव ये चार अंग हैं। स्कन्धक संन्यासी के समक्ष, महावीर प्रभु ने लोक का स्वरूप चारप्रकार से वर्णित किया है वह इस इस प्रकार है—

"एवं खलु मए खंदया? चउव्विहे लोए पएणत्ते तंजहा दव्वओ खेत्तओ, कालओ···भावओ·······भावओणं लोए अणन्ता वएण पज्जवागन्ध० रस० फास पज्जवा अणन्ता संठाण पज्जवा अणंता गुरुलहु पज्जवा, अणन्ता अगुरुलहु पज्जवा·····(भग २-१ सू० ६१)

अर्थ—श्री महावीर प्रभु कहते हैं कि हे खन्धक! यह लोक मैंने चार प्रकार से बताया है द्रव्यकी अपेक्षा द्रव्यलोक, क्षेत्र की अपेक्षा क्षेत्रलोक, कालकी अपेक्षा काललोक और भावकी अपेक्षा

भावलोक.........भाव की अपेक्षा लोक में अनन्तवर्ण पर्याय, अनन्त गन्धपर्याय, अनन्त रस पर्याय, अनन्त स्पर्श पर्याय, अनन्त संठाण (संस्थान) पर्याय, अनन्त गुरुलघु पर्याय और अनन्त अगुरुलघुपर्याय हैं। लोक में रूपी द्रव्य मात्र पुद्गल ही हैं उनकी अपेक्षा से तो वर्ण, गन्ध, रस, स्पर्श और गुरुलघुपर्याय हैं। धर्मास्तिकायादि पाँच द्रव्य अरूपी हैं। उनकी अपेक्षा और परमाणु से लेकर असंख्यात प्रदेश स्कन्ध की अपेक्षा अगुरुलघुपर्याय हैं। अगुरुलघु गुण परिवर्त्तन शील है। काल के निमित्त से प्रति समय वह परिवर्तित होता रहता है और धर्मास्तिकायादिक अरूपी और नित्य द्रव्यों में भी प्रति समय पर्यायों को उत्पन्न करता है और नष्ट करता है। अर्थात् पूर्व पर्याय का नाश करता है और नवीन पर्याय को उत्पन्न करता है। इससे धर्मास्तिकाय अधर्मास्तिकाय और आकाशास्तिकाय इन तीनों निष्क्रियद्रव्यों में भी उत्पादव्यय प्रतिक्षण होता रहता है। पानी का स्थिर स्वभाव होने पर भी पवन के योग से समुद्र में जैसे तरंगें उत्पन्न होती हैं और विनष्ट होती हैं वैसे ही उक्त नित्य द्रव्यों में काल के निमित्त से अगुरुगुण के के आश्रय से पर्यायें उत्पन्न और विनष्ट होती हैं। ऐसा होने पर भी समुद्र के जल के समान द्रव्य अंश तो ध्रुवनिश्चल और स्थिर है। पर्याय दो प्रकार की होती हैं—स्वाभाविक और वैभाविक। धर्म, अधर्म, आकाश, परमाणु, काल और सिद्ध भगवान् में स्वाभाविक अगुरुलघु पर्याय हैं किन्तु अनन्त प्रदेशी पुद्गल और कर्मयुक्त जीव में वैभाविक पर्याय हैं। स्वाभाविक शुद्ध है और वैभाविक अशुद्ध है। वे पर्यायें भी दो प्रकार की हैं—स्वनिमित्तक और परनिमित्तक। धर्मास्तिकाय में अगुरुलघुगुण

के निमित्त से जो परिवर्तन होता है वह स्वनिमित्तक पर्याय है और गतिगुणवाले जीव और पुद्गलों के योग से गमन सहाय तादान से जो पर्यायें उत्पन्न होती हैं वे परनिमित्तक पर्यायें हैं। इसी प्रकार अधर्मास्तिकायादि के विषय में भी समझना चाहिए। इस प्रकार पर्यायों के उत्पादविनाश से द्रव्य के लक्षण की उपपत्ति हो जाती है। और अर्थक्रियाकारित्वरूप से पदार्थत्व उपपन्न हो जाता है। अन्यथा आकाश कुसुम के समान असत सिद्ध होगा।

धर्मास्तिकायादि और लोकाकाश

उक्त छः द्रव्यों में पाँच द्रव्य आधेय हैं और एक आकाश द्रव्य आधारभूत है। आधेय द्रव्य लोक परिमित हैं जब कि आधारभूत आकाश द्रव्य अपरिमित, अपरिछिन्न और सर्व-व्यापक है। यदि आधारभूत आकाश द्रव्य से पाँचों आधेय द्रव्य निकाल लिए जायँ तो केवल आकाश ही आकाश रह जायगा और उस आकाश में लोक अलोक का भेद न रह जायगा। वेदान्तियों के परब्रह्म के समान केवल आकाश, अनन्त, अपरिमित, निरवधि, निःसीम रह जायगा। परमब्रह्म को माया की उपाधि लगने से जैसे वह माया सहित और माया रहित विभक्त होता है वैसे ही परम आकाश के बीच धर्मास्तिकाया आदि पाँच द्रव्य सदाकाल अवस्थित रहने से आकाश के दो भाग-लोकाकाश और अलोकाकाश अनादिकाल से शाश्वतसिद्ध हैं। वेदान्तियों की माया परमब्रह्म में लय प्राप्त करती है और पीछी प्रकट होती है किन्तु धर्मास्तिकायादि पाँच द्रव्य आकाश में लय नहीं प्राप्त करते, सदा विद्यमान रहते हैं। पाँच द्रव्य युक्त आकाश लोकाकाश और पाँच द्रव्य रहित आकाश अलोकाकाश है। तदुक्तम्—

"धम्मत्थिकाएणं भन्ते के महालए पएणत्ते ? गोयमा ! लोए लोयमेत्ते लोयप्पमाणे लोयफुडे लोयं चेव फुसित्ता णं चिट्ठइ एवं अहम्मत्थिकाए, लोयागासे, जीवत्थिकाए पंचवि एक्काभिलावा।

(भग० २-१०। सू० १२३)

अर्थ— गौतम-भंते ! धर्मास्तिकाय नामक द्रव्य कितना बड़ा है ? श्री महावीर-गौतम ? धर्मास्तिकाय लोक में विद्यमान है, लोक परिमित है, लोक के बराबर असंख्यात प्रदेश हैं। लोक के जितने असंख्यात प्रदेश हैं उतने ही असंख्यात प्रदेश धर्मास्तिकाय के भी हैं। लोक अपने सर्वप्रदेशों से धर्मास्तिकाय के सर्व प्रदेशों का स्पर्श करता है और धर्मास्तिकाय भी लोक के सर्व प्रदेशों को स्पर्श करती हुई विद्यमान है। इसी प्रकार अधर्मास्तिकाय, लोकाकाश, जीवास्तिकाय और पुद्गलास्तिकाय के विषय में समझना चाहिए। अर्थात् छओं द्रव्य लोक परिमित होने से लोकाकाश जितने बड़े हैं।

लोकाकाश का परिमाण

प्रश्नोत्तर

गौतम—भंते ? यह लोक कितना बड़ा है ?

श्री महा०—गौतम ? (लोक की मोटाई एक कल्पित दृष्टान्त से समझाई जाती है) मानो कि छः महान् ऋद्धि सम्पन्न देवता जम्बू द्वीप के मेरुपर्वत की चूलिका को घेर कर खड़े हैं। नीचे चार दिशा कुमारिकाएँ हाथ में बलि-पिण्ड लेकर जम्बू द्वीप की चारों दिशाओं में बहिर्मुखी रहकर उस बलिपिण्ड को एक साथ फेंकती

हैं। उस वक्त उन छः देवताओं में से एक देव चूलिका से देवता की शीघ्र गति से दौड़ता है और वलिपिंड जमीन पर गिरता है उसके पहले ही चारों दिशा के चारों पिण्ड हाथ में ले लेता है। देवताओं की इतनी शीघ्रगामिनी गति है। इसी शीघ्रगति से छओं देवता छः दिशा में लोक का अन्त लेने के लिए निकल पड़े। एक दक्षिण दिशा की ओर, एक उत्तर की ओर, एक पूर्व की ओर, एक पश्चिम की ओर, एक ऊपर की ओर और एक नीचे की ओर चल पड़ा। इसी समय एक सेठ के यहाँ हजार वर्ष की आयुवाला एक पुत्र उत्पन्न हुआ। कई वर्ष बाद उसके माता-पिता गुजर गये। पुत्र बड़ा हुआ, शादी हुई, उसके भी पुत्र हुए, स्वयं वृद्ध हुआ और आयुष्य पूरी होने पर परलोकवासी हो गया।

गौतम—भंते ? हजार वर्ष में वे देवता जो शीघ्रगति से लोक का अन्त लेने के लिए निरन्तर गमन कर रहे थे लोक के छोर तक पहुँच गये ?

श्री महावीर—गौतम ? अभी तक नहीं पहुँचे हैं। उसके बाद उसके लड़के, उनके भी लड़के, इस प्रकार सात पीढ़ी निकल गई, उनके नाम गोत्र भी विसर्जित हो गये तब तक वे देवता चलते रहे किन्तु लोक के अन्त तक नहीं पहुँचे हैं।

गौतम—तेसिणं भंते ! देवाणं किं गए बहुए, अगए बहुए ! गोयमा ? गए बहुए नो अगए बहुए। गयाओ से अगए असंखेज्जइ भागे। अगया ओ से गए अस-

खेज्ज गुणे। लोए णं गोयमा एमहालए पन्नत्ते॥ अर्थ—भन्ते? वे देवता लोक का अधिक भाग पार कर गये या कम भाग? गौतम? हाँ, वे देवता अधिक भाग पार कर गये, जो भाग बाकी रहा वह कम है। जितना मार्ग पार कर गये उसका असंख्यातवाँ भाग बाकी रहा है। अथवा जितना भाग बाकी रहा है उससे असंख्यात गुणा भाग पार कर चुके हैं। इतना बड़ा यह लोक है।

(भग० ११-१० । सू० ४२१)

अलोक की मोटाई

गौतम—भंते! अलोक कितना मोटा है?

श्रीमहा०—गौतम? पैंतालीस लाख योजन का लम्बा पोला मानुषोत्तर पर्वत ढाई द्वीप को घेरे हुए है। उस पर दस बड़ी ऋद्धि वाले देवता समान अन्तर पर दस स्थानों पर खड़े हैं। नीचे आठ दिशा कुमारिकाएं आठ बलिपिण्ड लेकर मानुषोत्तर पर्वत की चार दिशाओं और चार विदिशाओं में एक साथ फेंकती हैं। दस देवताओं में से एक देव फिरता हुआ चक्कर काटकर जमीन पर गिरने से पहले ही उन आठों बलिपिंडों को उठा लेता है। इतनी शीघ्रगति वाले वे दसों देवता एक साथ चल पड़े। चार दिशा में चले चार विदिशा में, एक ऊपर और एक नीचे चला। दसों देवता समान वेग से अलोक का अन्त लेने के लिए दौड़े जाते हैं। उस समय लाख वर्ष की उम्र

वाला एक बालक उत्पन्न हुआ। पूर्ववत् उसकी सात पीढ़ियाँ व्यतीत हो गईं, नाम गोत्र भी भूल गये।

गौतम—भंते? उस समय देवताओं ने कितना भाग पार किया? क्या अलोक का अन्त ले लिया? 'तेसिणं देवाणं किं गए बहुए, अगए बहुए?' वे देवता गये अधिक या बाकी रहा वह अधिक है?

श्री महा०—गौतम? जो मार्ग पार कर चुके वह अधिक नहीं है किन्तु जो बाकी रहा है वह अधिक है। जितना भाग पार किया गया उससे अनन्तगुणा भाग बाकी रहा है। जितना भाग बाकी रहा है उसका अनन्तवाँ भाग पार किया गया है। अलोक इतना बड़ा है अर्थात् लोक की तो छओं दिशा में सीमा है मगर अलोक की सीमा ही नहीं है।

(भग० ११-१० । सू० ४२१)

लोक की महत्ता और जीवों का गमनागमन

लोक की महत्ता एक प्रकार से तो दृष्टान्त द्वारा समझाई गई है दूसरे प्रकार से यहाँ नीचे बताते हैं।

प्रश्नोत्तर

गौतम—भंते? लोक कितना मोटा है?

श्रीमहा०—गौतम? असंख्यात क्रोड़ाक्रोड़ी योजन पूर्व दिशा में, असंख्यात क्रोड़ाक्रोड़ी योजन पश्चिम दिशा में, अ० क्रो० योजन दक्षिण दिशा में, अ० क्रो० योजन उत्तर दिशा में, अ० क्रो० उर्ध्व दिशा में, और अ० क्रो० योजन अधोदिशा में लम्बा और मोटा है।

गौतम—भंते ? इतने बड़े लोक में एक परमाणु मात्र भी ऐसी जगह है कि जहाँ इस जीव ने जन्म मरण न किया हो ?

श्रीमहा०—गौतम ? एक परमाणुमात्र या सरसों मात्र भी ऐसी जगह नहीं है जहाँ इस जीव ने जन्म-मरण न किया हो।

गौतम—भंते ? इसका क्या कारण है, कृपा करके किसी दृष्टान्त से समझाइये।

श्रीमहा०—गौतम ? सुनो। एक दृष्टान्त देता हूँ। किसी एक मनुष्य के पास एक सौ बकरियाँ बाँधने का बाड़ा है। उस बाड़े में एक हजार बकरियाँ भरी जायँ। अधिक से अधिक छः मास तक उसमें रखी जायँ। हे गौतम ? क्या उस बाड़े में एक सरसों प्रमाण भी ऐसी जगह है कि जो बकरियों की मींगनी, पेशाब, बलगम (श्लेष्म) नासिकामल, वमन, पित्त, पीप, शुक्र, शोणित, चर्म, रोम, सींग, खुर और नाखून आदि से स्पर्श की हुई न हो ?

गौतम—भंते ? उस बाड़े का कोई भी भाग बना छुआ हुआ नहीं रह सकता।

श्रीमहा०—गौतम ? उस बाड़े का तो कोई भाग कदाचित् बिना छुआ हुआ भी रह सकता है मगर सारे लोक में एक भी प्रदेश ऐसा न मिलेगा जो एक-एक जीव के जन्म-मरण के संसर्ग से अछूता बचा हो। तदुक्तम्—

लोगस्स य सासयं भावं, संसारस्स य अणादि-
भावं, जीवस्स य णिच्चभावं, कम्मवहुत्तं, जम्मण
मरण वाहुल्लं च पडुच्च नत्थि केइ परमाणु पोग्गल-
मेत्तेविपएसे जत्थणं अयंजीवे न जाए वा न मप्वावि
से तेणट्ठेणं तं चेव जाव न मए वावि।

(भग० १२-७ । सू० ४५७)

अर्थ—लोक शाश्वत है, संसार अनादि है, जीव नित्य है, कर्म की वहुलता है, जन्म मरण की प्रवलता है, इन सव कारणों से एक परमाणु मात्र भी स्थान लोक में जन्म मरण रहित नहीं बचा है। इत्ति।

लोक विभाग

ऊपर वताया गया है कि लोकाकाश और अलोकाकाश के वीच में सीमादर्शक भेद जनक कोई वस्तु, रेखा, नदी या पहाड़ नहीं है। दोनों आकाश एक ही गुण और स्वभाव वाले हैं। भेद है वह वास्तविक नहीं किन्तु उपाधिकृत है। वह उपाधि धर्मास्तिकाय आदि पाँच द्रव्यों का सहयोग है। इसी प्रकार लोकाकाश के उर्ध्व, अधो और तिर्यक् उपाधि भेद से तीन भेद हैं। वे इस प्रकार हैं—

प्रश्नोत्तर

गौतम—भंते ? द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव के भेद से चार प्रकार के वताये हुए लोक में से क्षेत्रलोक कितने प्रकार का है ?

श्रीमहा०—गौतम ! क्षेत्रलोक तीन प्रकार का है। (१) अधो-

अहोलोय - अधोलोक

त्रिछो लोक

पाथडा १३		पृथ्वी पिंड १८०००० योजन.
नरकावासा ३००००००	नरक १ ली.	
पाथडा ११		पृ. १३२००० यो.
न. २५०००००	२	
पाथडा ९		पृ. १२८००० यो.
न. १५०००००	३	
पाथडा ७		पृ. १२०००० यो.
न. १००००००	४	
पाथडा ५		पृ. ११८००० यो.
न. ३०००००	५	
पाथडा ३		पृ. ११६००० यो.
न. ९९९९५	६	
पाथडो १		पृ. १०८००० योजन.
नरकावासा ५	७	

अधोलोक

जंबुदीव – जंबुद्वीप.

[पृष्ठ ४५१]
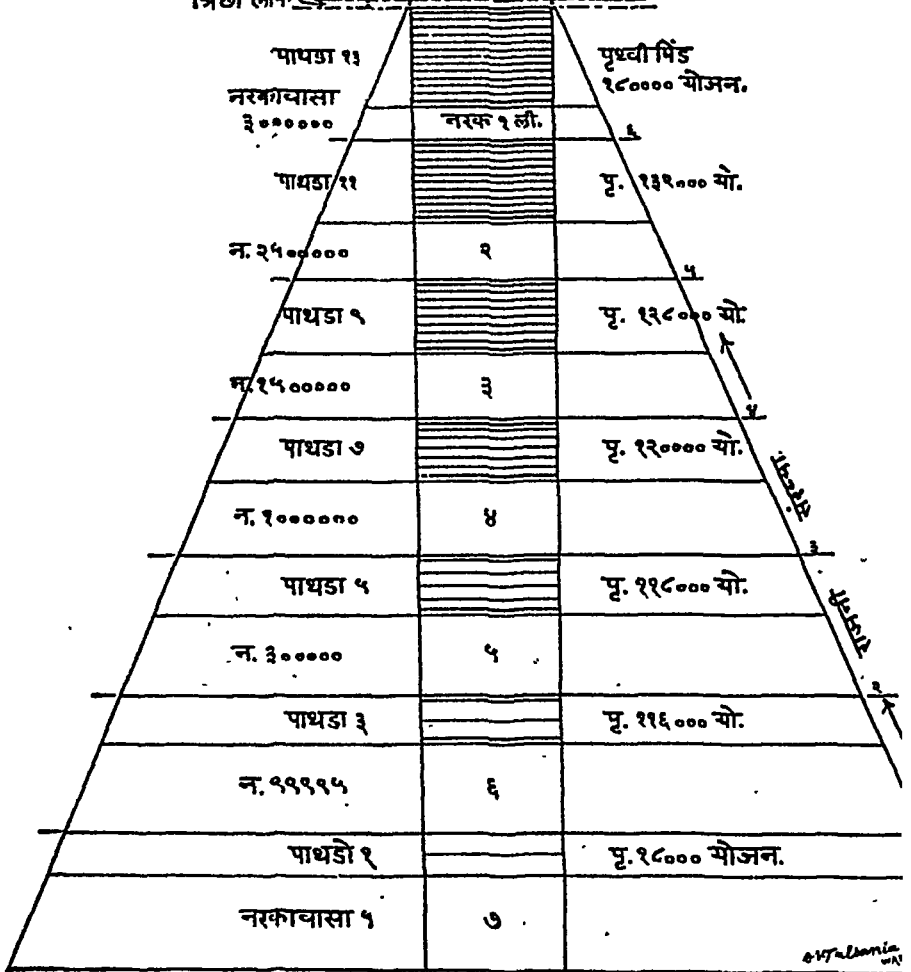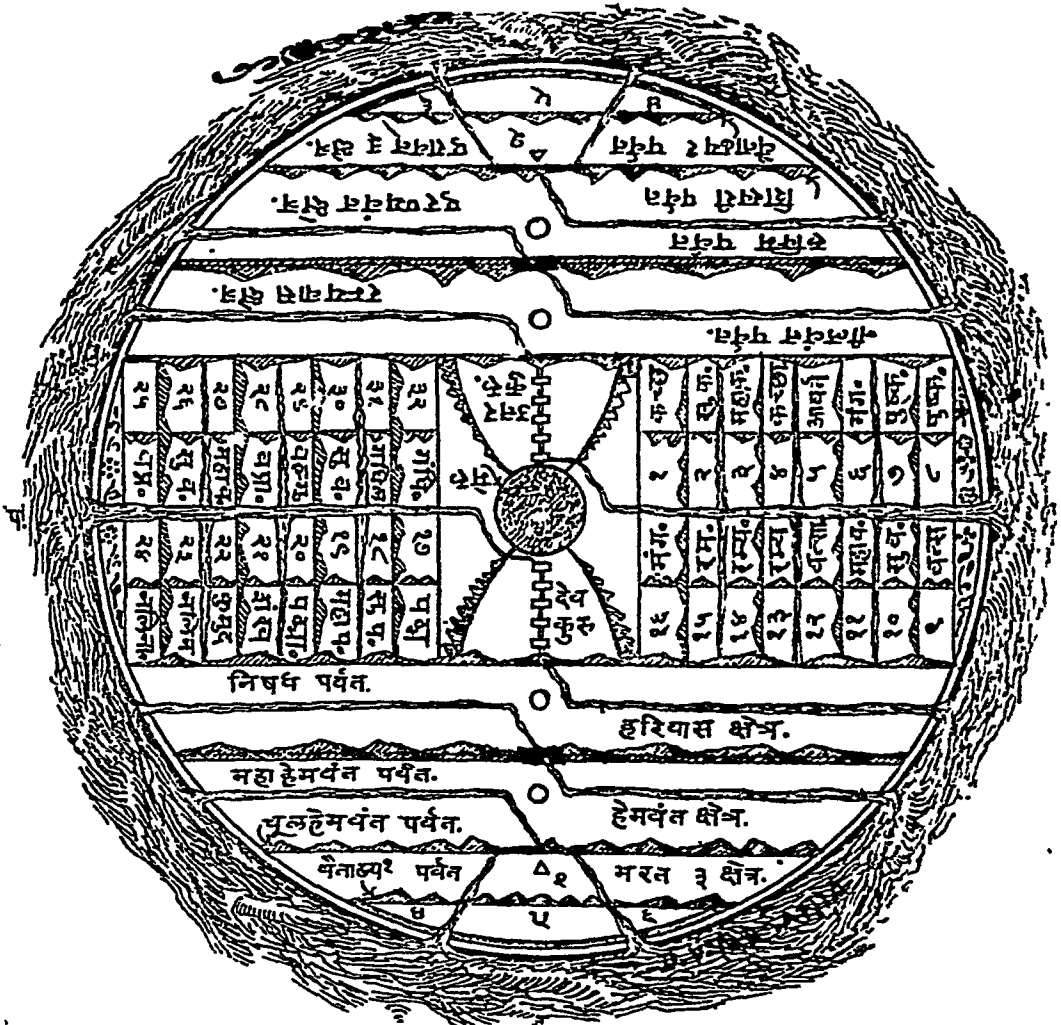
लोक क्षेत्रलोक (२) तिर्यक्लोक क्षेत्रलोक (३) ऊर्ध्व-लोक क्षेत्रलोक।

गौतम—भंते ? अधोलोक क्षेत्र लोक के कितने प्रकार हैं ?

श्री महा०—गौतम ! सात प्रकार हैं। रत्नप्रभादि सात नारकी की सात पृथिवियाँ जो कि सात राजु परिमित हैं, अधोलोक क्षेत्र लोक कहलाती हैं।

गौतम—भंते ? तिर्यक्लोक क्षेत्र कितने प्रकार का है ?

श्रीमहा०—गौतम ?—असंख्यात प्रकार का है। जम्बूद्वीप से लेकर स्वयम्भूरमण समुद्र पर्यन्त असंख्यात द्वीप समुद्र परिमित तिर्यक्लोक कहा जाता है। जम्बूद्वीप की आकृति नीचे लिखे अनुसार है—

गौतम—भंते ! ऊर्ध्वलोक क्षेत्र लोक कितने प्रकार का है ?

श्रीमहा०—गौतम ? पंद्रह प्रकार का है। सौधर्म कल्प आदि बारह देवलोक, (१३) नवग्रैवेयक विमान (१४) पाँच अनुत्तर विमान (१५) सिद्धशिला ऊर्ध्वलोक क्षेत्रलोक है।

(भग० ११-६। सू० ४२०)

लोक का संस्थान-आकृति

यदि लोक आकाशमात्र होता तो उसकी कोई आकृति नहीं होती क्योंकि आकाश नीचे ऊपर और चारों दिशा विदिशा में एकाकार ही है। दूसरी बात उसकी कहीं भी सीमा न होने से कोई भी संस्थान या आकृति नहीं बन सकती। किन्तु लोका-काश में धर्मास्तिकाय आदि मूर्त्त और अमूर्त्त पाँच द्रव्य अमुक

परिस्थिति में रहे हुए हैं। कहीं विस्तार से और कहीं संकोच में सदा के लिए रहे हुए हैं। अतः उसकी आकृति अवश्य होती है। वह आकृति नीचे, ऊपर और बीच में भिन्न-भिन्न प्रकार की है। वह इस प्रकार है—

प्रश्नोत्तर

गौतम—भंते ? अधोलोक क्षेत्र लोक का क्या संस्थान—आकृति है ?

श्रीमहा०—गौतम ? औंधे किए हुए शराव के आकार जैसा आकार अधोलोक का है।

गौतम—भंते ? तिर्यक्लोक क्षेत्रलोक का क्या आकार है ?

श्रीमहा०—गौतम ? बिना किनारी वाली झालर के जैसा आकार है।

गौतम—भंते ? ऊर्ध्वलोक क्षेत्रलोक का कैसा आकार है ?

श्रीमहा०—गौतम ? ऊर्ध्वमुख मृदंग के आकार जैसा आकार है।

गौतम—भंते ? चौदह राजु परिमित सारे लोक का कैसा आकार है ?

श्रीमहा०—गौतम ? सुप्रतिष्ठक के समान लोक का आकार है। तीन शरावों में से एक शराव औंधा, दूसरा सीधा और तीसरा उसके ऊपर औंधा रखा जाय इनका जैसा आकार होगा लोक का भी वैसा ही है। नीचे

उड्ढ लोय – ऊर्ध्व लोक.
सिध्धि शिला.
३जी त्रिक. १०० वि.
२जी त्रिक १०७ वि.
१ली त्रिक.
१११ विमान
पाथडा १
पाथडा ४
पाथडा ४
बन्नेमां मळी ३००वि.
पाथडा ४
पाथडा ४
बन्नेमां मळी ४००वि.
६००० वि.
पाथडा ४
पाथडा ४
४०००० वि.
५०००० वि.
पाथडा ५
४००००० वि.
पाथडा ६
८००००० वि.
१२००००० वि.
पाथडा१२
पाथडा १२
पाथडा१३
२८०००००
विमान.
पाथडा १३
३२०००००
विमान.
इशान.
सुधर्मा.
राजनी संख्या
तिर्छा लोक. १०० योजन
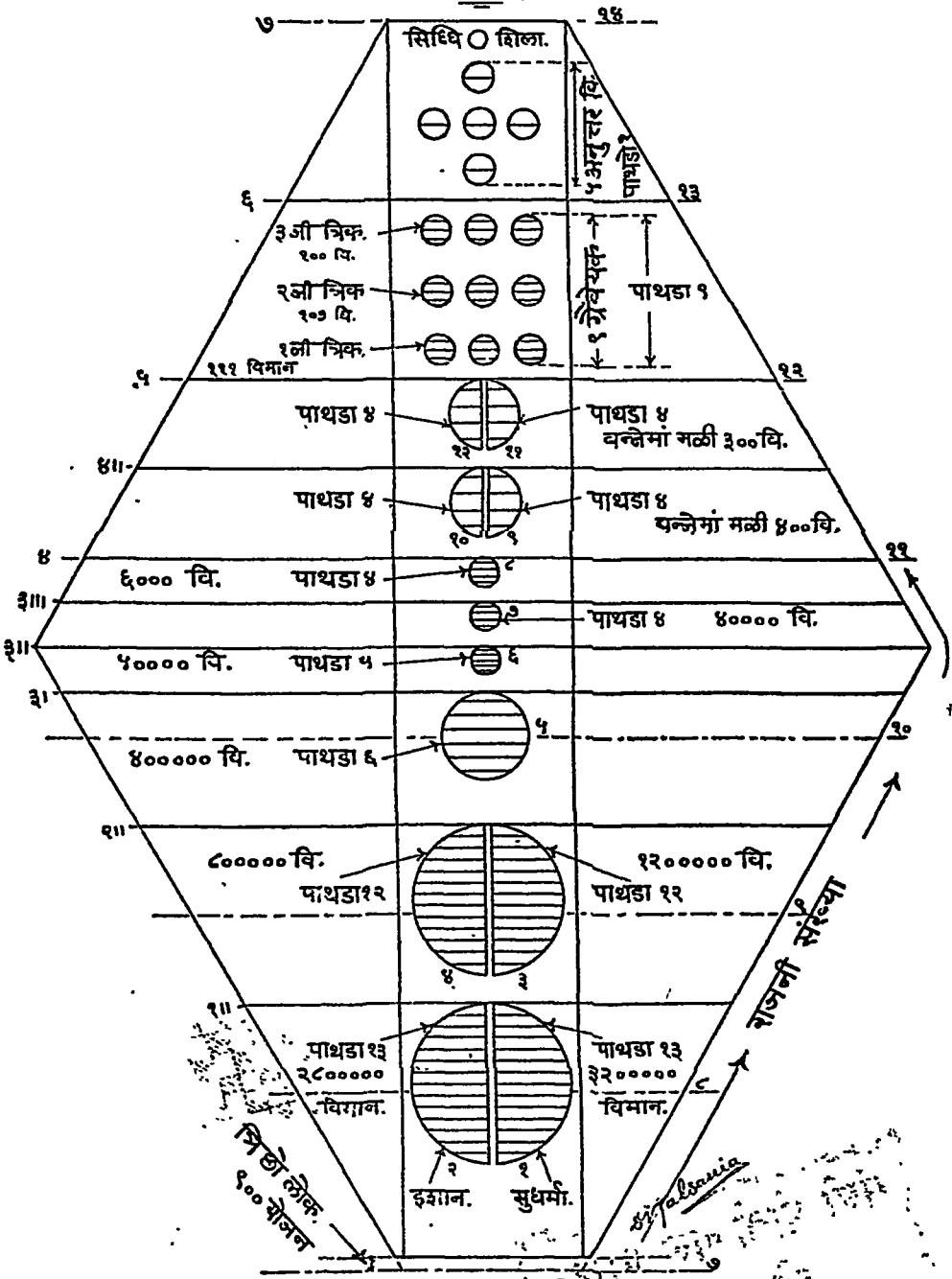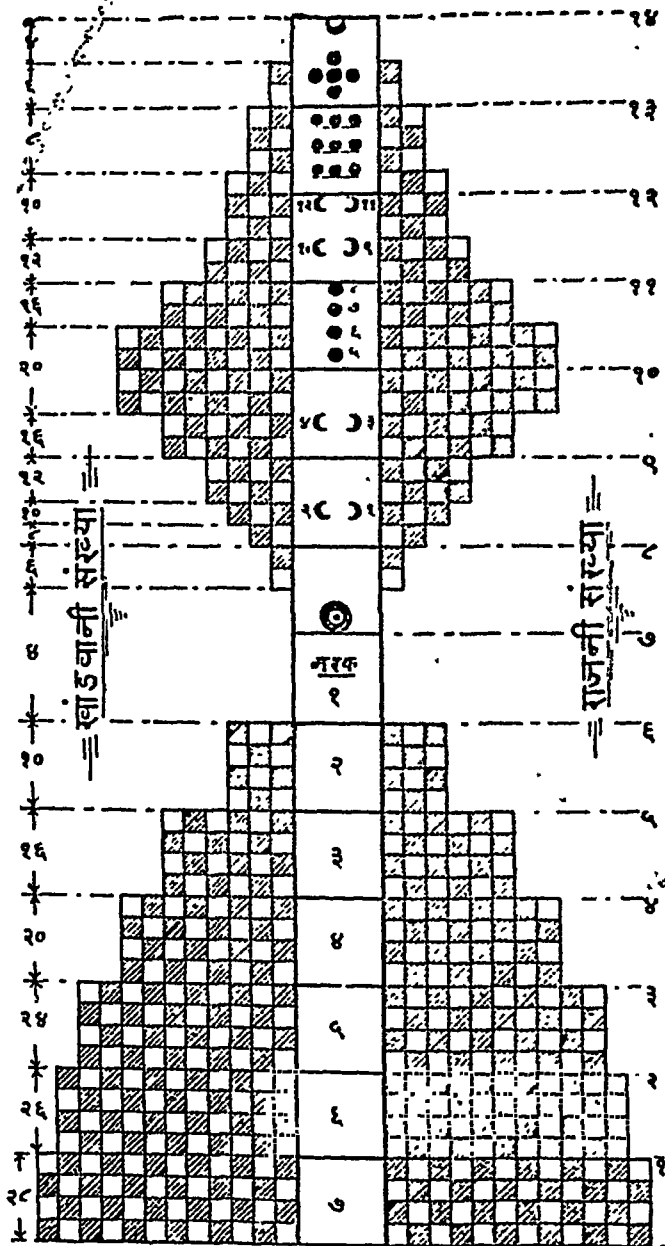
= लोग-लोक. =

लोक [पृष्ठ ४९२]

विस्तृत, मध्य में संक्षिप्त और ऊपर मृदंगाकार है। अथवा एक मनुष्य पाजामा पहिन कर कमर पर हाथ रखकर नाच करे उसके समान लोक का आकार है।

नरं वैशाख संस्थान-स्थितपादं कटीतटे।
न्यस्तहस्तद्वयं सर्व-दिक्षुलोकोऽनुगच्छति ॥

(लो० प्र० स० १२-३)

अर्थ—एक मनुष्य जिसके पैर वैशाख संस्थान की स्थिति में हैं, दोनों हाथ कमर पर रखे हुए हैं, सब दिशा में घूमता है, वैसे मनुष्य के समान लोक का आकार है।

गौतम—भंते ? अलोक का आकार कैसा है ?

श्रीमहा०—गौमत ? बीच में पोलाड़ वाले गोले के समानं अलोक का आकार है।

जैसे ◉

(भग० ११-६ । सू० ४२०)

लोक और अलोक में प्रथम कौन ?

(रोह मुनि के प्रश्नोत्तर)

रोह—भंते ? पहिले लोक और बाद में अलोक हुआ या पहिले अलोक और बाद में लोक हुआ ?

श्री महा०—रोह ! लोक और अलोक पहिले भी हैं और पीछे भी। ये दोनों शाश्वत (नित्य) भाव (पदार्थ) हैं। हे रोह ! ये आनुपूर्वी (पौर्वापर्य भाव) से रहित हैं।

रोह—भंते ? प्रथम जीव और बाद में अजीव है ? अथवा प्रथम अजीव और बाद में जीव हैं ?

श्री महा०—रोह ? लोक अलोक के सम्बन्ध में जैसा कहा गया है वैसा ही जीव अजीव के सम्बन्ध में समझ लेना चाहिए। अर्थात् ये दोनों शाश्वत और अनुक्रम से रहित हैं। इसी प्रकार भवसिद्धिक (भव्य) और अभवसिद्धिक (अभव्य) सिद्धि (मुक्ति) और असिद्धि (अमुक्ति) सिद्ध (मुक्त) और असिद्ध (अमुक्त) के विषय में भी समझना चाहिये।

रोह—भंते ? प्रथम अण्ड बाद में कुकड़ी या प्रथम कुकड़ी बाद में अण्ड हुआ।

श्री महा०—रोह ? वह अण्ड किस से हुआ ?

रोह—भंते ? कुकड़ी (मुर्गी) से।

श्री महा०—रोह ? कुकड़ी कहाँ से हुई ?

रोह—भंते ? अण्ड में से हुई।

श्री महा०—हे रोह ! इसी प्रकार वह अण्ड और वह मुर्गी प्रथम भी है और पश्चात् भी है। ये दोनों शाश्वत पदार्थ हैं। हे रोह ! ये प्रवाह—आनुपूर्वी रहित हैं।

रोह—भंते ? प्रथम लोकान्त (लोक का सिरा) पश्चात् अलोकान्त है ? अथवा प्रथम अलोकान्त और फिर लोकान्त है।

श्री महा०—रोह ! लोकान्त और अलोकान्त प्रथम भी हैं और पश्चात् भी हैं। ये दोनों शाश्वत भाव हैं, आनुपूर्वी रहित है।

रोह—भंते ? प्रथम लोकान्त पीछे सातवाँ अवकाशान्तर (सातवीं नरक के तनुवात के नीचे का आकाश)

है? अथवा प्रथम सातवाँ अवकाशान्तर और बाद में लोकान्त है?

श्री महा०—हे रोह! लोकान्त और सातवाँ आकाश प्रथम भी है और पश्चात् भी है। ये दोनों शाश्वत भाव हैं। आनुपूर्वी रहित हैं। 'इसी प्रकार लोकान्त और सातवीं तनुवात के विषय में भी समझना चाहिए। तथा इसी प्रकार सातवीं घनवात, सातवाँ घनोदधि, सातवीं नरक पृथ्वी भी समझ लेनी चाहिए।

(भग० १—६ । सू० ५३)

लोक स्थिति-मर्यादा

लोक में पृथिवी आदि किस-किस के आधार से रहे हुए हैं? किस-किसका परस्पर आधार आधेय भाव है? यह यहाँ बताया जाता है।

प्रश्नोत्तर

गौतम—भंते? लोकस्थिति—मर्यादा कितने प्रकार की है?

श्री महा०—गौतम? लोक मर्यादा आठ प्रकार की है। वह इस प्रकार है—

(१) आकाश के आधार से वायु (तनुवात, घनवात)।

(२) वायु के आधार से उदधि (घनोदधि)।

(३) उदधि (घनोदधि) के आधार से रत्न प्रभादि सात पृथ्वियाँ।

(४) पृथ्वी के आधार से त्रस और स्थावर प्राणी हैं।

(५) जीव के आधार पर अजीव (शरीरादि)

(६) कर्म के आधार से जीव की स्थिति है।

(७) अजीव (शरीरादि) जीव से संगृहीत-ग्रहण किए हुए हैं।

(८) जीव कर्म से संगृहीत है।

इस प्रकार आठ प्रकार की लोक मर्यादा है।

(भग १—६ । सू० २४)

अनादि-विभु पदार्थों का अनादि सम्बन्ध

सामान्यतया यह कहा जाता है कि संयोग सभी विभाग मूलक हैं। यदि ऐसा हो तो सभी संयोग सादि सिद्ध होंगे। अनादि संयोग कोई नहीं हो सकता। यह शंका उचित नहीं है। नैयायिक आकाश काल और दिग् द्रव्यों का संयोग अनादि मानते हैं। तीनों द्रव्य विभु और अनादि हैं, इनका सम्बन्ध भी अनादि है। अतः सभी संयोग विभागपूर्वक ही हैं यह नियम नहीं बन सकता। जैन शास्त्र में धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय और आकाशास्तिकाय (लोकाकाश) इन तीनों का परस्पर अनादि काल से सम्बन्ध है। जैसे इनकी आदि नहीं है वैसे अन्त भी नहीं है। अतः ये तीनों पदार्थ जिस प्रकार अनादि अनन्त हैं उसी प्रकार इनका परस्पर सम्बन्ध भी अनादि अनन्त है। इस विषय में भगवती सूत्र में नीचे लिखे अनुसार कहा हुआ है—

प्रश्नोत्तर

गौतम—भंते ? बंध कितने प्रकार का कहा गया है ?

श्री महा०—गौतम ? बंध दो प्रकार का कहा गया है। एक प्रयोग बंध दूसरा विस्रसा बन्ध (स्वाभाविक बन्ध)

भग० ८—६ । सू० ३४४)

गौतम—भंते ? विस्रसा बंध कितने प्रकार का है ?

श्री महा०—गौतम ? विस्रसा बंध दो प्रकार का है । सादि विस्रसा बंध (२) अनादि विस्रसा बंध ।

गौतम—भंते ? अनादि विस्रसा बंध कितने प्रकार का है ।

श्री महा०—गौतम अनादि विस्रसा बंध तीन प्रकार का है ? (१) धर्मास्तिकाय परस्पर अ० वि० बंध (२) अधर्मास्तिकाय परस्पर अ० वि० बंध (३) आकाशास्तिकाय परस्पर अ० वि० बंध ।

गौतम –भंते ? इन तीनों की काल से कितनी स्थिति है ?

श्री महा० - गौतम ? इनकी स्थिति सव्वद्धा—सर्वकाल की है । अर्थात् यह सम्बन्ध सदा के लिए कायम रहने वाला है। मतलब यह है कि इन तीनों का अनादि अनन्त सम्बन्ध है ।

(भग० ८—६ । ० ३४६)

इस पर से लोक भी अनादि अनन्त सिद्ध होता है। अर्थात् सृष्टि कर्त्ता का प्रश्न ही नहीं रह जाता है ।

साकार और सावयव होने से क्या लोक अनित्य नहीं है ? कर्त्तृत्ववादी कहते हैं कि जैन लोक को पुरुषाकार मानते हैं। कहीं पोला, कहीं संकुचित, कहीं विस्तृत इस प्रकार साकार माना जाता है। दूसरी बात सावयव यानी अवयव सहित भी माना जाता है। छः द्रव्यों का समूह रूप लोक है। छः द्रव्य

लोक के अवयव ठहरे। इनमें से पाँच द्रव्य तो अरूपी हैं केवल पुद्गलद्रव्य रूपी है। अर्थात् लोक के अवयव रूप पुद्गल के अनन्त द्वयणुक, अनन्त त्र्यणुक यावत् अनन्त अनन्त प्रदेशी स्कन्ध हैं। इस प्रकार सावयव और साकार लोक को जैन अनादि अनन्त और अविनाशी मानते हैं, यह ठीक नहीं है। जो-जो पदार्थ आकृतिवाले हैं अथवा अवयववाले हैं वे सब अनित्य हैं। जैसे घटपटादि। इसी प्रकार लोक भी साकार और सावयव होने से अनित्य सिद्ध होता है। अनित्य पदार्थों का कोई कर्त्ता होना चाहिये यह कर्तृत्ववादियों की शंका है।

समाधान

जैन वादी से पूछते हैं कि साकार और सावयव पदार्थ की अनित्यता सिद्ध करते हो वह एकान्त अनित्यता है अथवा कथंचित् अनित्यता है? यदि एकान्त अनित्यता मानते हो तब तो दृष्टान्त असिद्ध है। क्योंकि घटपटादिक पर्यायरूप से अनित्य हैं किन्तु द्रव्यरूप से नित्य हैं। पर्यायरूप से घटादिक का नाश होने पर भी पुद्गल परमाणुरूप से तो कदापि नाश नहीं होता। घट नष्ट होकर कपाल होंगे तो भी परमाणु तो रहेंगे ही। कपाल के टुकड़े-टुकड़े करके चूर्ण कर दिया जाय तो भी परमाणु तो रहेंगे ही। अतः पर्यायार्थिक नय की अपेक्षा से अनित्य और द्रव्यार्थिक नय की अपेक्षा से घटपटादिक नित्य होने से दृष्टान्त में भी एकान्त अनित्यता नहीं है किन्तु नित्यानित्यता है। तो अब कथंचित् अनित्यतारूप दूसरा पक्ष स्वीकार करना पड़ेगा। इसमें जैनों को भी इष्टापत्ति है। क्योंकि जैन किसी भी पदार्थ को एकान्त नित्य मानते ही नहीं हैं। कथंचित् अनित्य अर्थात् सर्व पदार्थों को नित्यानित्य मानते हैं।

पर्याय दृष्टि से अनित्य और द्रव्य दृष्टि से नित्य मानते हैं। घटपटादि के समान लोक भी नित्यानित्य है। लोक छद्रव्य के अतिरिक्त कुछ नहीं है। द्रव्य का लक्षण ही यह है कि जो उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य युक्त हो। यह बात प्रथम ही कही जा चुकी है कि धर्मास्तिकायादि द्रव्यों में प्रतिक्षण अगुरुलघु गुण के द्वारा स्वनिमित्तक स्वाभाविक नये पर्याय उत्पन्न होते हैं और पुराने पर्याय नष्ट होते हैं। अगरुलघुगुण में यह भी शक्ति है कि पर्यायों का परिवर्तन होने पर भी द्रव्यरूप से ध्रौव्य भी रहता है। अर्थात् धर्मास्तिकायरूप में कायम रखने की शक्ति भी इस गुण में ही है। तात्पर्य यह है कि लोक कथंचित् अनित्य सिद्ध हो तो इसमें प्रतिवादी को किसी प्रकार की हानि नहीं है अपितु इष्टापत्ति है।

यह कहने की आवश्यकता नहीं है कि धर्मास्तिकायादि निष्क्रिय पदार्थों में भी प्रतिक्षण जो अपरिस्पन्दरूप पर्याय परिवर्तन होता है वह विस्रसाबंधरूप स्वाभाविक परिणमन है। इसके लिए न तो ईश्वर-प्रयत्न की जरूरत है और न जीव-प्रयत्न की जरूरत है। कारण कि यह स्वाभाविक होने से स्वतः सिद्ध है।

द्रव्यों की ध्रुवता का क्या कारण है ?

धर्मास्तिकायादि छः द्रव्य सत् होने से ध्रुवरूप अनादि हैं। सत् की नयी उत्पत्ति नहीं होती और विनाश भी नहीं होता। गीता में भी कहा है कि "नासतो विद्यते भावो, नाभावो विद्यते सतः" असत् की उत्पत्ति नहीं होती है और सत् का अभाव भी नहीं होता है।

समन्तभद्र जी ने स्वयंभूस्तोत्र में सुमतिनाथ जिनकी स्तुति करते हुए कहा है कि—

'न सर्वथा नित्यमुदेत्यपैति, न च क्रियाकारकमत्र युक्तम् ।
नैवासतो जन्म सतो न नाशो, दीपस्तमः पुद्गलभावतोऽस्ति ॥

अर्थ—वस्तु को यदि सर्वथा नित्य मानी जाय तो उसमें उत्पाद, व्यय नहीं हो सकता। उसी प्रकार उसमें क्रिया या कारक भी नहीं बन सकता। अतः हर एक वस्तु कथंचित् निन्य और कथंचित् अनित्य अर्थात् नित्यानित्य मानी जाती है। असत् वस्तु की कभी उत्पत्ति नहीं होती और सत् का नाश भी नहीं होता। दीपक बुझ जाता है इसका अर्थ यह नहीं कि दीपक का सर्वथा नाश हो गया किन्तु अन्धकार पुद्गलरूप में उसका परिवर्तन हो गया। अर्थात् अंधकार रूप मे सद्-भाव हो गया।

असत् पदार्थ की भी यदि उत्पत्ति हो तो शशक के सींग या आकाश पुष्प की भी उत्पत्ति होनी चाहिए इनके सद्भाव का भी प्रसंग आयगा। अतः छद्रव्य जो कि सत् हैं कभी उत्पन्न नहीं हुए और इनका नाश भी कभी नहीं होगा। ये अनादि अनन्त स्वतः सिद्ध हैं। द्रव्य रूप से ध्रुव हैं और पर्यायरूप से उत्पत्ति विनाशशील हैं। उत्पाद व्यय भी स्वतः सिद्ध हैं अतः किसी कर्ता की जरूरत नहीं है। छओं द्रव्यों में प्रतिक्षण सृष्टि और प्रतिक्षण प्रलय होते रहने पर भी ध्रौव्य अंश उनमें कायम रहता है। यही अनेकान्तवाद की खूबी है। इसी में जैन दर्शन का स्याद्वादमय रहस्य है। इसी से पर्याय की दृष्टि से बौद्ध दर्शन और द्रव्य की दृष्टि से वेदान्त दर्शन का जैन

दर्शन ने अपने में अन्तर्भाव कर लिया है। यह स्याद्वाद की विशालता अथवा उदारता है।

जैन सृष्टि तथा प्रलय (उत्कर्ष—अपकर्ष)

स्वाभाविक परिवर्तन या क्षण-क्षण की सृष्टि और क्षण-क्षण के प्रलय उपरान्त वैभाविक पर्याय जन्य दीर्घकालिक परिवर्तन या स्थूल सृष्टि प्रलय भी जैन शास्त्र में अवश्य है किन्तु वह केवल पुद्गल स्कन्ध और कर्म सहित जीव इन दो द्रव्य तक ही सीमित है। उसका क्षेत्र भी अतिमर्यादित है क्योंकि ऊर्ध्वलोक और अधोलोक में स्थूल परिवर्तन रूप सृष्टि प्रलय नहीं है। मध्यलोक में भी ढाई द्वीप के बाहर सृष्टि प्रलय नहीं है। ढाई द्वीप में भी तीस अकर्म भूमि ५६ अन्तर्द्वीप और पाँच महाविदेह में सृष्टि प्रलय नहीं होता। पाँच भरत और पाँच ईरवत ये दस क्षेत्र बाकी रहे। दक्षिण की ओर भरत और उत्तर की ओर ईरवत क्षेत्र=जम्बू द्वीप का एक भरत और एक ईरवत, धात की खण्ड के दो भरत और दो ईरवत, तथा अर्ध-पुष्करद्वीप के दो भरत और दो ईरवत, इस प्रकार ढाई द्वीप के पाँच भरत और पाँच ईरवत हुए। इन दस क्षेत्रों में उत्सर्पिणी और अवसर्पिणी काल का चक्र प्रवर्तमान है। इसके फलस्वरूप उत्सर्पिणी काल के आरम्भ में २१००० वर्ष पर्यन्त और अवसर्पिणी काल के अन्त में २१००० वर्ष पर्यन्त प्रलय काल चलता है, वह भी सम्पूर्ण प्रलय नहीं किन्तु खण्ड प्रलय है। ४२००० वर्ष पर्यन्त वृष्टि, फसल, राजनीति, धर्मनीति, ग्राम, नगर, पुर, पाटन, नदी, सरोवर, कोट, किले, पहाड़ आदि क्रमशः निरन्तर क्षय को प्राप्त होते जायँगे और अवसर्पिणी काल के पाँचवें आरे के अन्तिम दिन

में सबका उच्छेद हो जायगा। अवसर्पिणी के छठे आरे में और उत्सर्पिणी के प्रथम आरे में इसी प्रकार की स्थिति रहेगी। मनुष्य और तिर्यञ्च बीज मात्र रह जायँगे। गंगा और सिन्धु नदी कायम रहेंगी। इनके किनारे-किनारे बीजमात्र मनुष्य और तिर्यञ्च रहेंगे। कुत्ते के समान जीवन व्यतीत करेंगे। पापी और भारी कर्माजीव ही इस आरे में जन्म-ग्रहण करेंगे। ऐसे विषम काल में धर्माजीव भरत और ऐरवत क्षेत्र में जन्म ग्रहण न करेंगे। उस समय उत्तम जीव अन्य क्षेत्रों में अवतार धारण करेंगे। उस समय मनुष्य का आयुष्यमात्र बीस वर्ष का होगा। छः वर्ष की स्त्री गर्भ धारण करेगी और काली. कूबड़ी, रोगी, गुस्सैल, बहु केश और नख वाली संतति को जन्म देगी। कला और हुन्नर का तो नामोनिशान भी न रह जायगा। मनुष्य के मस्तक की खोपरी में पानी लाकर पीयेंगे। यह सब काल अथवा युग-आरे का प्रभाव है। अतः पाँच कारणों में काल और स्वभाव भी कारण रूप से माने गये हैं। काल और क्षेत्रस्वभाव की कारणता का प्रधानपन ऐसे प्रसंग में ही व्यक्त होता है। सूर्य की गति जिस प्रकार नियमित रूप से होती है और दक्षिणायन और उत्तरायण निश्चित समय पर ही होते हैं उसी प्रकार कालचक्र की गति में आरों का परिवर्तन भी नियमित रूप से ही होता है, ऐसी जैनशास्त्र की मान्यता है। बीस कोडाकोडी सागरोपम परिमित एक काल चक्र होता है। उसमें दस कोडा कोडी सागरोपम उत्सर्पिणी काल के और दस कोडाकोडी सागरोपम अवसर्पिणी काल के होते हैं। एक एक काल में छः आरे होते हैं। उत्सर्पिणी के दूसरे आरे के प्रारम्भ से वृष्टि आदि का आरम्भ होता है और स्थिति सुधरने लगती है। इसको सृष्टि का आरम्भ काल कहें तो कुछ

अनुचित नहीं है। किन्तु ये सृष्टि और प्रलय शब्द जगत की सृष्टि या प्रलय के अर्थ में नहीं ग्रहण किए जा सकते। क्योंकि प्रथम ही कहा जा चुका है कि यह प्रलय और सृष्टि केवल भरत क्षेत्र और ऐरवत क्षेत्र पर्यन्त ही सीमित हैं। वस्तुतः प्रलय शब्द के बजाय अपकर्ष और सृष्टि शब्द के बजाय उत्कर्ष—उन्नति शब्द का प्रयोग किया जाय तो अर्थ अधिक उपयुक्त होता है। अस्तु।

उत्कर्ष-काल

उत्सर्पिणी का दूसरा आरा

उत्सर्पिणी काल का दूसरा आरा प्रारम्भ होते ही उत्कर्ष—चढ़ते काल का प्रारम्भ होता है। प्रलयरूप प्रथम आरा पूर्ण हो जाने पर पुद्‌गल-परिणति में अनन्त वर्ण, गंध, रस और स्पर्श का सुधार होता है। काल स्वभाव से वृष्टि का आरम्भ होता है। तदुक्तं जम्बूद्वीप प्रज्ञप्ति सूत्रे कालाधिकारे—

"तेणं कालेणं तेणं समयेणं पुक्खलसंवट्टए णामं महामेहे पाउब्भविस्सइ। भरहप्पमाणमित्ते आयामेणं, तयाणुरूवं चणं विक्खंभबाहल्लेणं"...........

अर्थ—उस समय पुष्कल संवर्त्तक नाम का महामेघ प्रकट होगा। भरत क्षेत्र के बराबर लम्बा पोला और विस्तृत होगा। गर्जना और बिजली के साथ युग-मूसल अथवा मुष्टि प्रमाण धारा से सात दिन और सात रात तक बरसेगा। उससे प्रलय काल की भूमि जो कि अंगारों के समान, राख के समान, तपी हुई आग के समान हो गई थी वह शान्त हो जायगी। उसके बाद उतने ही विस्तार में क्षीर-मेघ गर्जना और बिजली के साथ

सात दिन-रात बरसेगा। उससे भरत भूमि में शुभ वर्ण, गंध, रस और स्पर्श उत्पन्न होंगे। तत्पश्चात् सात दिन और सात रात्रि तक घृतमेघ बरसेगा। इससे जमीन में स्नेह-चिकनापन उत्पन्न होगा। तत्पश्चात उतने ही प्रमाण में अमृतमेघ बरसेगा जिससे तृण, वृक्ष, लता, औषधि आदि उत्पन्न होंगे। यह सब देखकर वैताढ्य के बिल में रहे हुए मनुष्य आदि बहुत खुश होंगे और एक दूसरे को कहेंगे कि अब तृण वनस्पति, औषधि आदि उत्पन्न हो गये हैं अतः अब किसी को भी अनिष्ट अशुभ मांसाहार नहीं करना चाहिए। अन्नाहार और फलाहार हम लोगों के लिए पर्याप्त है। जो मांसाहार करेगा उसकी छाया का भी स्पर्श हमें नहीं करना चाहिए। इस प्रकार खान-पान की नीति के व्यवहार में सुधारा होगा। उत्सर्पिणी का दूसरा आरा इक्कीस हजार वर्षों में पूरा होगा। उसके बाद दूसमसुसमा नामक उत० का तीसरा आरा लगेगा। तब पुद्गलपरिणति में बहुत सुधार-उत्कर्ष हो जायगा। मनुष्य की अवगाहना-ऊँचाई, संस्थान, आयुष्य आदि में भी वृद्धि होगी। इस युग में तीन वंश उत्पन्न होंगे। १. तीर्थंकर वंश २ चक्रवर्ती वंश ३ दसार-वासुदेव वंश। इस आरे में तेईस तीर्थंकर, ११ चक्रवर्ती और नौ वासुदेव उत्पन्न होंगे। बयालीस हजार वर्ष कम एक कोडाकोडी सागरोपमकाल तीसरे आरे का जब व्यतीत हो जायगा तब वर्ण, गन्ध, रस और स्पर्श में प्रति समय अनन्तगुणी वृद्धि होगी और सुसम दूसमा नामक चतुर्थ आरा दो कोडाकोडी सागरोपम की स्थिति वाला चालू होगा। इसके प्रथम त्रिभाग में एक तीर्थंकर, और एक चक्रवर्ती होगा। पन्द्रह कुलकर होंगे। कुलकर के पश्चात तीन नीतियाँ अवसर्पिणी के उल्टे क्रम से

चालू होंगी। अर्थात् प्रथम त्रिभाग में धिक्कार नीति, द्वितीय त्रिभाग में मकार नीति और तृतीय त्रिभाग में हकार नीति चालू होगी। प्रथम त्रिभाग में राजनीति और धर्मनीति बंध हो जाने पर युगलधर्म की प्रवृत्ति चालू हो जायगी। कर्मभूमि में से अकर्मभूमि-भोगभूमि मनुष्य बनेंगे। उत्० का चतुर्थ पंचम और षष्ठ आरा प्रति समय सुख समृद्धि में, वर्ण गंध, रस और स्पर्श में उत्कर्षभाव को प्राप्त करता हुआ व्यतीत होगा। चतुर्थ आरा दो कोडाकोडी सागरोपम प्रमाण, पंचम आरा तीन कोडाकोडी सागरोपम प्रमाण और छठा आरा चार कोडाकोडी सागरोपम प्रमाण वर्षों में पूर्ण होगा। अर्थात् उत्सर्पिणी काल पूरा हो जायगा। तत्पश्चात् काल की गति अवसर्पिणी की तरफ बदल जायगी। अब प्रति समय वर्ण गंध रस और स्पर्श में हानि होने लगेगी। जितना उत्कर्ष काल है उतना ही अपकर्ष काल भी है। उत्सर्पिणी का छठा आरा और अवसर्पिणी का प्रथम आरा ये दोनों समान हैं। वृद्धि हानि भी समान है। इसी प्रकार उत्० का पांचवाँ और अवसर्पिणी का दूसरा, उत्० का चौथा अव० का तीसरा, ये तीनों आरे जुगलियों के, एक तीर्थङ्कर, एक चक्रवर्ती के प्रादुर्भाव के हैं। उत्० का तीसरा और अव० का चौथा आरा कर्मभूमि का है और दोनों में तेईस-तेईस तीर्थंकर, ग्यारह-ग्यारह चक्रवर्ती तथा नौ-नौ वासुदेव प्रकट होते हैं। उत्सर्पिणी का दूसरा आरा उत्कर्ष के आरंभ का और अवसर्पिणी का पाँचवाँ आरा अपकर्ष के अन्त का है। उत्स० के दूसरे आरे में सृष्टि का जो आरम्भ हुआ था उसका अव० के पांचवें आरे में अन्त हो गया। इसके बाद उत्० का प्रथम आरा और अवस० का

छठा आरा ये दोनों आरे प्रलयकाल के या अपकर्षकाल के व्यतीत होते हैं। इस प्रकार बारह आरों का एक काल चक्र कहा जाता है। नीचे के चित्र से वह स्पष्टतया समझ में आ जायगा।
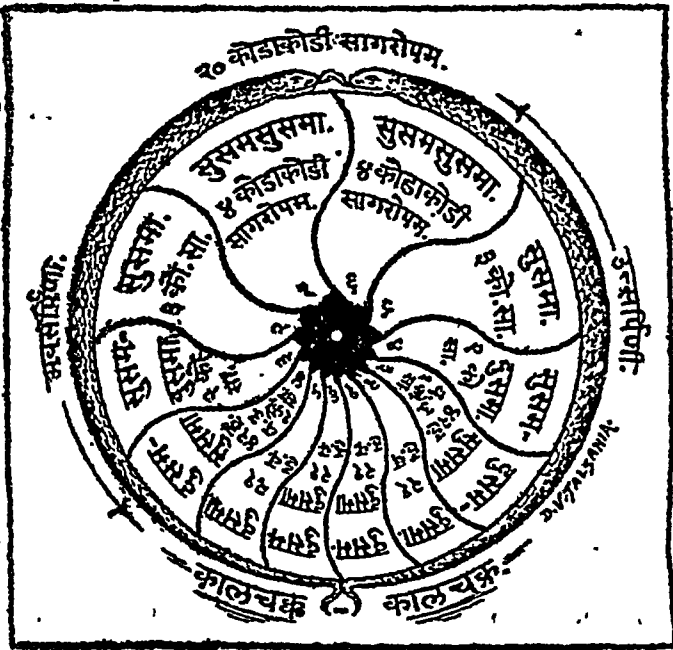
कालचक्र

समालोचना

शंका—क्षीरमेघ, घृतमेघ, अमृतमेघ इन शब्दों से दूध की वर्षा घृत की वर्षा और अमृत की वर्षा बताई गई है तो गायें या भैंसों के बिना दूध या घी कहाँ से पैदा हो गये जो सात

दिन और सात रात तक बरसते रहे ? क्या यह अतिशयोक्ति नहीं है ?

उत्तर—शंकाकार की शंका वाजिब है। जब तक असली अर्थ न समझ लिया जाय तब तक यह शंका हो सकती है। किन्तु दरअसल में ये शब्द आलंकारिक हैं। क्षीरमेघ यानी दूध की वर्षा नहीं किन्तु दूध के समान वृष्टि, घृतमेघ यानी घी के समान वृष्टि, अमृतमेघ यानी अमृत के समान वृष्टि। वर्षा तो पानी की ही होती है किन्तु वह पानी जमीन को दूध जितना लाभ पहुँचाता है। बालक को दूध जैसा पोषण देता है वैसे ही पोषण शक्ति रहित जमीन को प्रथम वृष्टि दूध के बराबर लाभ पहुँचाती है। इसी प्रकार घृत और अमृतमेघ के विषय में भी समझना चाहिए।

शंका—काल स्वयं निर्जीव है, अजीव पदार्थ को ज्ञान नहीं होता तो पंचम आरा पूरा हुआ या छठा आरा पूरा हुआ अतः अब पुद्गल की अशुभ परिणति में से शुभ परिणति करना, उत्कर्ष से अपकर्ष की तरफ अपनी गति बदलना आदि का ज्ञान किसे होगा ? क्या इन पर कोई नियन्त्रण करने वाला है ? बिना नियन्ता के उत्कर्ष अपकर्ष का क्रम नियमित रूप से कैसे चल सकता है ?

उत्तर—प्रथम कहा जा चुका है कि द्रव्य मात्रा का लक्षण उत्पादव्यय ध्रौव्य रूप है। छओं द्रव्यों में स्वाभाविक पर्याय की प्रवृत्ति प्रति समय होती रहती है। काल भी एक द्रव्य है। काल का खास लक्षण वर्तना है। कर्मसहित जीव और पुद्गल स्कन्ध की वैभाविक पर्यायों के परिवर्तन में काल खास निमित्त कारण है। दिन, मास, वर्ष, युग, पल्योपम

सागरोपम, उत्सर्पिणी अवसर्पिणी ये सब काल के पर्याय हैं। इनका मूल कारण सूर्य है। सूर्य का एक नाम आदित्य है जिसका अर्थ यह है कि व्यवहार काल का आदि कारण आदित्य-सूर्य है। तदुक्तम्--

"से केणट्ठेणं भंते एवं वुच्चइ सूरे आइच्चे सूरे? गोयमा? सूरादियाणं समयाइ वा आवलियाइ वा जाव उस्सप्पिणीइ वा अवसप्पिणीइ वा से तेणट्ठेणं जाव आइच्चे०"

(भग० १२-६। सू० ४५५)

जैन शास्त्रानुसार सूर्य ज्योतिषी देवताओं का इन्द्र है। उसका अधिक से अधिक आयुष्य एक पल्य और एक हजार वर्ष का है। इतने वर्षों बाद वर्तमान इन्द्र चवता है और नया इन्द्र उत्पन्न होता है। दुनिया जिसे सूर्य समझती है वह इन्द्र का विमान है। जैन दृष्टि से यह विमान स्फटिक पृथ्वी रूप है, प्रकाश रश्मिमय है, शाश्वत है, न कभी उत्पन्न हुआ है और न कभी इसका विनाश होगा। इसमें रहे हुए पृथिवी काय के जीव एक जाता है दूसरा आता है। इसके शरीर में भी चय उपचय होता रहता है किन्तु एकन्दर विमान ध्रुवरूप है। जिस पर हम लोग रहते हैं वह रत्न प्रभा नाम की पृथिवी है। इसकी पीठ पर असंख्यात द्वीप और समुद्र हैं। उनमें सबसे केन्द्र स्थानीय जम्बू द्वीप है। उस जम्बू द्वीप के भरत क्षेत्र में ही हम लोग निवास करते हैं। जिस उत्सर्पिणी और अवसर्पिणी काल का जिक्र किया गया है उनका सम्बन्ध इस भरत क्षेत्र के साथ भी है। भरत क्षेत्र में दिन, रात, पक्ष, मास, ऋतु, अयन, वर्ष, युग प्रभृति की प्रवृत्ति भी इस दिखते हुए सूर्यविमान के

अधीन हैं। भरत भूमि भी शाश्वत है और सूर्यविमान भी शाश्वत है। ऐसा होते हुए भी इसमें दोनों के सम्पर्क से वैभाविक पर्याय रूप उत्सर्पिणी और अवसर्पिणी का कालचक्र चलता रहता है। ऐसा एक नहीं किन्तु अनन्त कालचक्र प्रवृत्त हो चुके हैं और होंगे किन्तु न तो भरत भूमि का नाश होगा और न सूर्यविमान का, और न कालचक्र का ही। अब सूर्यविमान और भरतभूमि के सम्पर्क के साथ उत्कर्ष और अपकर्ष का क्या सम्बन्ध है इसका विचार किया जाता है।

यह तो विज्ञान से सिद्ध हो चुका है कि सूर्य से जो रश्मियाँ प्रतिक्षण निकलती हैं वे इस पृथिवी पर रहने वाले छोटे-मोटे सभी प्राणियों को जीवन देती हैं। वनस्पति को यह सजीवन रखता है। इसके निकट के सम्बन्ध से और दूर के सम्बन्ध से वातावरण में बहुत परिवर्तन होता है। सूर्य से ही ऋतु परिवर्तन होता है। शरदी गरमी में बढ़ती घटती होती है। इसी पर मनुष्य के रूप रंग का आधार है। दूसरी बात यह है कि प्राचीन शास्त्रों के मत से सूर्य गतिमान् है और नवीन संशोधकों के मत से सूर्य स्थिर है किन्तु पृथ्वी गति वाली है और सूर्य के आस-पास फिरती है। इसका अभी तक सार्वत्रिक निर्णय नहीं हुआ है। निर्णय कुछ भी हो किन्तु इतना तो निश्चित ही है कि दोनों में से कोई एक फिरता है। इससे सूर्य और पृथ्वी के अन्तर में घटती बढ़ती होती है। अयन भी स्थिर नहीं किन्तु चल हैं। अयनांश प्रतिवर्ष थोड़ा-थोड़ा बदलता जाता है। बहत्तर-बहत्तर वर्ष में एक अंश अयनांश हटता है। आज २२ से २३ अंश अयनांश बदल चुका है। दक्षिणायन और उत्तरायण से ऋतुओं में या शरदी गरमी में कितना परि-

वर्तन होता है यह हम प्रत्यक्ष देखते हैं। उत्सर्पण या अवसर्पण ये दोनों शब्द भी गति सूचक हैं। उत्सर्पण यानी आगे जाना और अवसर्पण यानी पीछे हटना यह दोनों का अर्थ है। काल में परिस्पन्दात्मक गति नहीं है क्योंकि वह निष्क्रिय है। परिस्पन्दात्मक गति जीव और पुद्‌गल दोनों में है। इससे सूर्य की पृथ्वी और हमारी पृथ्वी के बीच में उत्सर्पण और अवसर्पण का बोध होता है। दक्षिणायन से उत्तरायण का समय जिस प्रकार छः मास का निश्चित है उसी प्रकार उत्सर्पण और अवसर्पण का समय दस-दस कोडाकोडी सागरोपम का निश्चित और नियमित है। जितना उत्सर्पण है उतना ही अवसर्पण है। इसमें एक समय का भी अन्तर नहीं है। दक्षिणायन और उत्तरायण का जैसा अचूक नियम है वैसा ही अचूक नियम उत्सर्पण और अवसर्पण का है। उत्सर्पण के अखीरी पोइन्ट पर पहुँचे कि तुरन्त अवसर्पण पीछे हटना चालू हो गया। उसी प्रकार अवसर्पण के अखीरी पोइण्ट पर पहुँचे कि तुरन्त उत्सर्पण का आरम्भ हो जाता है। आरों की सीमा भी दोनों की समान है। पंचम आरे के अन्तिम पोइन्ट से छठे आरे के अन्तिम पोइन्ट तक पहुँचने में २१००० वर्ष लगते हैं। उतना ही समय उत्स० के प्रथम आरे के आरम्भ पोइन्ट से द्वितीय आरे के आरम्भ पोइन्ट तक लगता है। पंचम आरे के अन्तिम पोइन्ट पर पृथिवी की जैसी स्थिति थी वैसी ही स्थिति उत्० के दूसरे आरे के आरम्भ पोइण्ट पर होती है। यह उत्सर्पण अवसर्पण आकर्षण शक्ति से होता हो तो इसमें जैन शास्त्र का कोई विरोध नहीं है। गति एक के बजाय दोनों में हो तो वह भी असंभवित नहीं है। क्योंकि दोनों पुद्‌गल रूप हैं और पुद्‌गल सक्रिय पदार्थ होते हैं। 'देशान्तर प्राप्ति-

हेतुः क्रिया' क्रिया का लक्षण ही यह है कि जो एक देश से दूसरे देश की प्राप्ति कराये। देशान्तर की प्राप्ति ही गति कही जाती है। कुछ भी हो उत्सर्पिणी और अवसर्पिणी ये दोनों शब्द स्त्रीलिंग में प्रयुक्त हुए हैं जो कुछ विशिष्टता के सूचक हैं। सूर्य शब्द पुंलिंग है और पृथ्वी शब्द स्त्रीलिंग है। उत्सर्पिणी शब्द को सूर्य का विशेषण बनाये उसकी अपेक्षा पृथ्वी का विशेषण बनाने पर अधिक संगति मालूम होती है क्योंकि विशेषण और विशेष्य का लिंग समान ही रहना चाहिए, यह शब्दानुशासन का नियम है। इस हिसाब से उत्सर्पण और अवसर्पण क्रिया की कर्त्री सूर्य नहीं किन्तु पृथ्वी सिद्ध होती है। काल में परिस्पन्दात्मक गति नहीं है यह प्रथम ही कहा जा चुका है। सच्ची बात तो केवली गम्य है। छद्मस्थ को तो इतना कहकर ही रुक जाना पड़ता है कि 'तमेव सच्चं नीसंकं जं जिणेहिं पवेइयं'। इतना तो निश्चित है कि जो सत्य सिद्ध हो वही केवलियों का कथन है। यहाँ तात्पर्य इतना ही है कि जो उत्सर्पिणी अवसर्पिणी कालचक्र प्रवर्तमान है वह अनादिकाल से नियमपूर्वक चला आरहा है। उसे नियन्त्रित करने के लिए किसी नियन्ता की आवश्यकता नहीं है। जैसे निमित्त मिलने पर बीज से अंकुर पैदा होता है यह स्वतः सिद्ध है वैसे ही सूर्य और पृथ्वी के दूर निकट सम्बन्ध से पदार्थों में प्रतिसमय हानिवृद्धि होती है और पुद्गलों का उत्कर्ष और अपकर्ष होने लगता है यह स्वतः सिद्ध है। इस क्रिया का परिमाण बताने वाला-परिच्छेदक काल है। उसे अतीन्द्रियज्ञानी जानते हैं। उन्होंने जो कहा है वह यथातथ्य है।

सुज्ञेषु किं बहुना ?

पुद्गल और जीव के योग से जगत्लीला

धर्मास्तिकायादि चार द्रव्य अरूपी, अमूर्त्त और निष्क्रिय होने से स्वाभाविक पर्याय वाले होने पर भी वैभाविक पर्याय के अभाव से जगत् की विचित्रता में प्रेरक नहीं हो सकते—इन चारों द्रव्यों से जगत् की विचित्रता सिद्ध नहीं हो सकती। किन्तु जगत् की विचित्रता प्रत्यक्ष दिखाई देती है—मनुष्य, तिर्यञ्च, पशु, पक्षी, कीट, स्त्री, पुरुष, युवा, वृद्ध, राजा, रंक, गरीब, साहूकार, काला, गोरा, सौभागी, दुर्भागी, पहाड़, नदी, समुद्र आदि कृत्रिम और अकृत्रिम पदार्थों के विचित्र-विचित्र दृश्य और विचित्र आकार किससे बने होंगे ? यह प्रश्न स्वाभाविक उत्पन्न होता है। इसका उत्तर ईश्वरवादियों ने तो बहुत सरलता से दे दिया है कि यह सब ईश्वरीय लीला है। जैन शास्त्र ने इसका क्या उत्तर दिया है इसकी विचारणा यहाँ की जाती है।

जीव की सक्रियता

परिस्पन्दात्मक क्रिया दो पदार्थों में है जीव में और पुद्गल में। इस क्रिया से दोनों पदार्थ एक प्रदेश से दूसरे प्रदेश में जाते हैं और आते हैं। जीव का पुद्गल के साथ संयोग और वियोग होता है। पुद्गल का लक्षण ग्राह्यता और जीवका लक्षण ग्राहक है। ग्राह्यग्राहक का प्रयोगबन्ध रूप से सम्बन्ध होता है। जीवका पुद्गल के साथ शरीर इन्द्रियादि रूप से तथा कर्म रूप से सम्बन्ध होता है। आठ प्रकार की लोक स्थिति में कहा जा चुका है कि "अजीवा जीव पइट्ठिया, जीवा कम्मपइट्ठिया" अर्थात् शरीरादि जीव के आधार से रहे हुए हैं और जीव कर्म प्रतिष्ठित हैं। उसी प्रकार अजीव-शरीरादि जीव संगृहीत हैं

और जीव कर्म संगृहीत हैं। शरीर का संग्रह करने वाला जीव है और जीव को संग्रहित रखने वाला कर्म है। शरीर जीव और कर्म अन्योन्य क्षीरनीरवत् अथवा लोहपिण्ड और अग्नि के समान ओतप्रोत मिले हुए हैं। जीव ही पुद्गल स्कन्ध को आकर्षित करके अपनी क्रिया से कर्मरूप में परिणत करता है। पुद्गल कर्मरूप में सत्ता प्राप्त करके जीव को घेर लेते हैं और जीव की शक्तियों को दबा देते हैं। जब तक जीव में क्रिया है तब तक कर्मबन्ध है। कहा है कि—

मण्डित पुत्र के प्रश्नोत्तर

मंडि०—भंते ? जीव हमेशा "एयति, वेयति, चलति, फंदइ, घट्टइ, खुब्भइ, उदीरति, तं तं भावं परिणमइ" अर्थ — कांपता है ? चलता है ? परिस्पन्दात्मक क्रिया करता है ? एक दूसरे प्रदेश का संघटा करता है ? क्षोभ पाता है ? उदीरणा करता है ? उस-उस भाव रूप में परिणाम को प्राप्त करता है ?

श्री महा०—मंडियपुत्ता ? हाँ, जीव उस भावरूप परिणाम को प्राप्त करते हैं। जब तक जीव एजन-चलन-स्पन्दन आदि क्रियाएं करता है और उस-उस भाव में परिणाम प्राप्त करता है तब तक संसार का अन्त करके मुक्ति को प्राप्त नहीं कर सकता क्योंकि जब तक उन-उन क्रियाओं को करता है तब तक आरंभ समारंभ चालू रहता है। आरंभ समारंभ में वर्तमान जीव बहुत प्राणियों को दुखी करता है, शोक में डुबोता है, झूरना करवाता है, अश्रुपात करवाता है, कूटना पिट्टना कराता है, परितापना-पीड़ा उत्पन्न

करता है। अतः हे मंडियपुत्ता ? वह जीव तब तक संसार का अन्त नहीं कर सकता और मुक्ति भी नहीं प्राप्त कर सकता।

मंडि०—भंते ? जब यह जीव हलन चलन आदि क्रियामात्र को रोककर निष्क्रिय बन जाता है तब संसार का अन्त करके मुक्ति पद को प्राप्त कर लेता है ?

श्री महा०—मंडियपुत्ता ? हाँ तब आरंभ समारंभ की निवृत्ति हो जाने से किसी भी जीव को असाता दुःख न देने से संसार का अंत करने की क्रिया करके मुक्तिपद को प्राप्त कर लेता है।

प्राणातियातादि निमित्त से लगने वाली क्रिया

गौतम—भंते ? प्राणातिपात-जीवहिंसा के निमित्त से जीव को क्रिया-कर्म लगता है।

श्री महा०—गौतम ? हन्ता—हाँ लगता है।

गौतम—भंते ? वह क्रिया जीव से स्पृष्ट लगती है या अस्पृष्ट—छुई हुई या विना छुई हुई ?

श्री महा०—गौतम ? छुई हुई लगती है, विना छुई हुई नहीं लगती।

गौतम—भंते ? वह क्रिया की हुई लगती है अथवा विना की हुई ?

श्री महा०—गौतम ? जीव के द्वारा की हुई क्रिया लगती है, विना की हुई नहीं लगती।

गौतम—भंते ? वह क्रिया जीव की स्वयं की हुई या दूसरे के द्वारा

की हुई अथवा स्वयं और अन्य उभय के द्वारा की हुई लगती है ?

श्री महा०—गौतम ? जीव के द्वारा स्वयं की हुई क्रिया लगती है । पर कृत या उभय कृत क्रिया नहीं लगती ।

गौतम—भंते ? अनुक्रम मे की हुई क्रिया लगती है या विना अनुक्रम की क्रिया लगती ? अर्थात् जो क्रिया पहले की गई हो वह पहले लगती और जो वाद में की गई वह वाद में लगती है ?

श्री महा०—गौतम ? अनुक्रम से की हुई क्रिया लगती है। अनुक्रम विना की हुई क्रिया नहीं लगती है।

जिस प्रकार प्राणातिपात से कर्म लगता है उसी प्रकार मृषावाद, अदत्तादान, मैथुन, परिग्रह, क्रोध, मान, माया, लोभ, रागद्वेष, क्लेश, अभ्याख्यान, पैशुन्य, चुगली, परनिन्दा, रति-अरति, माया सहित मृषा और मिथ्यादर्शन शल्य इन अठारह पाप स्थानक के निमित्त से क्रिया-कर्म लगता है। इन क्रियाओं के सम्बन्ध में भी पूर्वोक्त पाँच प्रकार के प्रश्नोत्तर पूर्ववत् समझ लेना चाहिए।

जीवों की गुरुता लघुता

जीव स्वभाव से अगुरुलघु होने पर भी कर्म जन्य गुरुता और लघुता उसमें होती है, इस विषय में नीचे लिखे अनुसार प्रश्नोत्तर हैं—

प्रश्नोत्तर

गौतम—"कहन्नं भंते जीवा गरुयत्तं हव्वमागच्छन्ति ?" भंते ? जीव गुरुता कैसे प्राप्त करते हैं ?

श्री महा०—"गोयमा पाणाइवाएणं……जाव मिच्छादंसण-सल्लेणं" एवं खलु गोयमा ! जीवा गरुयत्तं हव्वमा-गच्छन्ति।" हे गौतम! प्राणातिपात, मृषावाद, अदत्तादान, मैथुन, परिग्रह क्रोध, मान माया, लोभ. राग, द्वेष, क्लेश, अभ्याख्यान, पैशुन्य, परनिन्दा, रतिअरति, माया सहित मृषा और मिथ्यादर्शन शल्य, इन अठारह पाप स्थानों के कारण से जीव भारीपन को प्राप्त करता है—भारी कर्मा होता है।

गौतम—"कहन्नं भंते ? जीवा लहुयत्तं हव्वमागच्छन्ति।" भंते किस कारण से जीव लघुपन को प्राप्त करता है।

श्री महा०—"गोयमा ! पाणाइवायवेरमणेणं जाव मिच्छादंसण सल्लवेरमणेणं एवं खलु गोयमा ! जीवा लहुयत्तं हव्वमागच्छन्ति।" हे गौतम ! प्राणातिपात निवृत्ति, मृषावाद निवृत्ति यावत् मिथ्यादर्शन शल्य निवृत्ति अर्थात् अठारह पापस्थानों की निवृत्ति करने से जीवल-घुभाव को प्राप्त करता है। पापकर्म न बंधने से जीव हलुकर्मी बनता है। भारीकर्मा जीव नीची गति मे जाता है और लघुकर्मी जीव ऊर्ध्वगति में जाता है। (भग० १-६ सू० ७२)

पाप स्थानक की प्रवृत्ति यह अधर्म-कर्मबन्ध है और पाप स्थानक की निवृत्ति यह धर्म-कर्मबन्ध की निवृत्ति या संवर धर्म है। अधर्म को रोकना और धर्म की वृद्धि करना यह जैन शास्त्र का आदर्श है। यह प्रवृत्ति और निवृत्ति करने वाला अन्य कोई नहीं किन्तु जीव स्वयं ही है। कहा है कि—

"अप्पा नई वेयरणी, अप्पा मे कूड सामली।
अप्पा काम दुहाधेणू, अप्पा मे नंदणं वणं॥
अप्पाकत्ता विकत्ता य, दुहाण य सुहाण य।
अप्पा मित्तममित्तं च, दुप्पट्ठिय सुपट्ठिओ॥"

(उत्त० २०। ३६-३७)

नरक की वैतरणी नदी आत्मा है और नरक का शाल्मली वृक्ष भी आत्मा है। दूसरी तरफ कामदुघा गाय भी आत्मा है और मेरु पर्वत पर नदन वन भी आत्मा ही है। दुःख और सुख का करने वाला जीव स्वयं है और भोगने वाला भी स्वयं ही है। धर्म कार्य में प्रवृत्त हुआ आत्मा स्वयं ही अपना मित्र है और पाप कार्य में प्रवृत्त हुआ आत्मा स्वयं अपना ही दुश्मन है।

शुभाशुभ कर्म

यद्यपि आत्मा स्वयं स्वभाव से आनन्दमय है, ज्ञानस्वरूप है, किन्तु प्रथम कहा जा चुका है कि कर्म सहित आत्मा में वैभाविक पर्याय उत्पन्न होते हैं। ज्ञान, आनन्द यह स्वाभाविक पर्याय है। सुख, दुःख, हर्ष, शोक, ये सब वैभाविक पर्याय हैं। स्वाभाविक पर्याय का कर्त्ता अकेला शुद्ध आत्मा है और वैभाविक

पर्याय का कर्त्ता कर्म सहित अशुद्ध आत्मा है। दो द्रव्यों के योग से वैभाविक पर्याय उत्पन्न होते हैं। दो द्रव्यों में से एक द्रव्य तो निमित्त कारण और दूसरा द्रव्य उपादान कारण बनता है। दोनों में जो प्रधान होता है वह उपादान कारण होता है जैसे रागद्वेषादि प्रवृत्ति में आत्मा उपादान कारण है और पुद्गलकर्म निमित्तकारण हैं। शारीरिक प्रवृत्ति में उपादान कारण पुद्गल और निमित्त कारण आत्मा है। यहाँ आत्मा को कर्त्ता भोक्ता कहा गया है वह व्यवहार नय की दृष्टि से कहा गया है। निश्चय नय से विचार करें तो हर एक पदार्थ स्व स्वभाव का कर्ता है। सुख दुःख में चेतन अचेतन दोनों भाव हैं। शुभ कर्म और अशुभ कर्म तो अचेतन भाव-पुद्गल भाव हैं। शुभ कर्म पुद्गल का वेदन करना—फलानुभव करना-या अशुभ कर्म का वेदन करना चेतन भाव है। निश्चय से चेतन भाव का उपदान कारण आत्मा और निमित्त कारण कर्म पुद्गल है और शुभकर्म अशुभ कर्मरूप अचेतन भाव का उपादान कारण पुद्गल और निमित्त कारण आत्मा है। स्वाभाविक पर्याय में केवल एक ही भाव होता है जब कि वैभाविक पर्याय में चेतन अचेतन दोनों भाव होते हैं। उनमें चेतन भाव का कर्ता आत्मा और अचेतन भाव का कर्त्ता पुद्गल है। यहाँ 'अप्पा' शब्द कर्म सहित आत्मा के लिए प्रयोग किया गया है। जब तक कर्म सहित है तब तक वह सुख दुःख-शुभ, अशुभ कर्म का कर्त्ता भी है और भोक्ता-अनुभव कर्ता भी है। आत्मा वैतरणी नदी आत्मा शाल्मलि वृक्ष, आत्मा कामदुघा और आत्मा नंदनवन, यह आलंकारिक प्रयोग है। वैतरणी नदी और शाल्मलिवृक्ष जिस प्रकार दुःख के हेतु हैं उसी प्रकार अशुभ कर्म सहित

आत्मा दुःख का हेतु बनता है। कामदुघा गाय और नन्दनवन जिस प्रकार सुख के शान्ति के हेतु हैं उसी प्रकार शुभ कर्म युक्त आत्मा सुख शान्ति का हेतु बनता है। जो आत्मा शुभ कर्म युक्त होता है वह स्वयं अपना मित्र बनता है और जो अशुभ कर्म विशिष्ट होता है वह स्वय ही अपना दुश्मन बनता है। मतलब यह है कि आत्मा और कर्म के सिवाय सुखदुःख देने में तीसरे किसी भी व्यक्ति का हाथ नहीं है। गीता में भी कहा है कि—"आत्मैव आत्मनो बन्धु-रात्मैव रिपुरात्मनः" आत्मा ही आत्मा का बन्धु है और आत्मा ही आत्मा का शत्रु है। शंकराचार्य ने भी कहा है कि—

"सुखस्य दुःखस्य न कोऽपिदाता, परो ददातीति कुबुद्धिरेषा।
अहं करोमीति वृथाभिमानः, स्वकर्मसूत्रग्रथितो हि लोकः॥

अर्थ—सुख और दुःख का देने वाला अन्य कोई नहीं है। अपने सिवाय अन्य कोई सुख दुःख देता है ऐसा मानना कुबुद्धि अज्ञान है। मैं ही करता हूँ यह मानना मिथ्याभिमान है। वस्तुतः अपने पूर्व कर्मों से गूंथा हुआ जीव समूह सुखदुःख का कर्त्ताभोक्ता है।

शुभाशुभ कर्म के विषय में दृष्टान्तपूर्वक कालोदायी के प्रश्नोत्तर

कालोदायी—भंते! जीवों के पाप कर्म किस प्रकार पाप का फल देते हैं?

श्री महा०—कालोदायी! कोई मनुष्य अठारह प्रकार के शाक युक्त मिष्ट भोजन विषमिश्रित खाने के लिए बैठता

है। उसको वह भोजन खाने के समय बहुत सरस आह्लाद जनक लगता है किन्तु थोड़ी देर बाद जब वह परिणत होने लगता है तब दुष्टवर्ण, दुष्टगंध, दुष्ट रस और दुष्ट स्पर्श रूप में परिणत होकर नस-नस को खींचता है और जीवको शरीर से अलग कर देता है। उसी प्रकार प्राणातिपात से मिथ्या दर्शन शल्य ये अठारह पाप कर्म बाँधते समय तो मीठे लगते हैं किन्तु उदय होने पर भोगते समय महा मुसीबत उठानी पड़ती है। नरक में उज्ज्वल पीड़ा भोगनी पड़ती है। पल्योपम और सागरोपम पर्यन्त अतुल असह्य कर्कश वेदना भोगनी पड़ती है।

कालोदायी—भंत ! जीवों को शुभानुष्ठान शुभ फलदायी किस प्रकार होते हैं ?

श्री महा०—कालोदायी ! जिस प्रकार कोई मनुष्य अठारह प्रकार के शाक युक्त औषधि मिश्रित भोजन जीमने के लिए बैठा, वह भोजन जीमते समय अति स्वादिष्ट नहीं लगता है किन्तु धीरे-धीरे उसका परिणाम सुवर्ण, सुगन्ध, सुरस और शुभ स्पर्शरूप होता है और शरीरके रोग को दूर करके आरोग्य उत्पन्न करता है तथा शरीर को तंदुरुस्त और दीर्घजीवी बनाता है। उसी प्रकार शुभानुष्ठान करते समय यद्यपि थोड़ी तक़लीफ़ उठानी पड़ती है—तप और त्याग करना पड़ता है, बाईस परिषह जीतने पड़ते हैं, उघाड़े पैर उघाड़े मस्तक विहार कर के परिश्रम सेवन करना पड़ता है,

लोच करना पड़ता है किन्तु धीरे-धीरे आत्म शुद्धि होने पर परिणामतः उच्चगति प्राप्त करके थोड़े समय में जन्म जरा और मृत्यु के सर्व दुःखों का अन्त आ जाता है।

(भग० ७-१० । सू० ३०६)

सातावेदनीय और असातावेदनीय कर्म प्रश्नोत्तर

गौतम—भंते ! जीव सातावेदनीय कर्म किस प्रकार बांधता है ?

श्री महा०—गौतम ! प्राणी, भूत, जीव और सत्त्व पर अनुकम्पा रखने से, उन्हें दुःख न देने से शोक न कराने से, झूरना न कराने से, उनके आँसू पोंछने से, कुट्टना-पिट्टना न कराने से, और परितापनाक्लेश न उत्पन्न करने से जीव सातावेदनीय कर्म बाँधते हैं जिसके फलस्वरूप आनेवाले भव में आरोग्य, तन्दुरुस्ती और स्वास्थ्य प्राप्त करते हैं।

गौतम—भंते ! जीव असाता वेदनीय कर्म किससे बांधते हैं ?

श्री महा०—गौतम ! दूसरे प्राणियों को दुःख देने से, शोक ग्रस्त करने से, झूरणा कराने से, अश्रुपात कराने से, कुट्टना-पिट्टना कराने से, परितापना-खेद उत्पन्न कराने से, जीव असातावेदनीय कर्म बाँधते हैं और उसके फलस्वरूप आगामी भव में रोग, ग्लानि, आधि व्याधि, उद्वेग, दैन्य आदि दुःख प्राप्त करते हैं।

(भग० ७-६ । सू० २८६)

कर्म बंध का अधिक विस्तार श्री पन्नवणा सूत्र के २३ वें प्रकृति पद में और भगवती सूत्र के आठवें शतक के नववें उद्देशे में कम्माशरीर पयोग बंध के अधिकार में देख लेना चाहिए। ग्रन्थ विस्तार के भय से यहाँ विशेष नहीं लिखा गया है।

संक्षेप में इतना ही कहना है कि जीव और पुद्गल के योग से जगत्-वैचित्र्यसिद्ध होता है। जीव और पुद्गल की परिणति में कारण स्वरूप काल, स्वभाव, नियति, प्रारब्ध-पूर्वकर्म और पुरुषार्थ इन पाँचों का समन्वय है। इनका स्वरूप कुछ तो दार्शनिक उत्तरपक्ष के प्रकरण में बताया जा चुका है और अधिक विस्तार 'कारण संवाद' नामकी पुस्तक में है वहाँ जिज्ञासुओं को देख लेना चाहिए। इन पाँचों समवायी कारणों के निमित्त से जगत् में हानि, वृद्धि, विचित्रता, मनुष्य, पशु, पक्षी, कीट, पतंग, राजा रंक, सौभागी, दुर्भागी, बुद्धिमान् , निर्बुद्धि, नदी, सरोवर, पहाड़, गाम, नगर, वन, जंगल आदि सर्व साकार दृश्य बने हैं, बनते हैं, और बनेंगे। पृथ्वी, पानी, आग, वायु, और वनस्पति ये सब एकेन्द्रिय जीवों के शरीर रूप हैं। शरीर को बनाने वाला स्वयं जीव ही है क्योंकि 'अजीवा जीवपइट्ठिया' शरीर रूप अजीव जीवके आधार पर रहा हुआ है और जीवने उसे बनाया है। "जीवा कम्म पइट्ठिया जीव कर्म के आधार पर रहे हुए हैं। अर्थात् कर्म के योग से जीव ही नाने मोटे शरीर बनाता है। जीव और पुद्गल से सारा जगत् ठसोठस भरा हुआ है। एक सरसों भर जगह भी सूक्ष्म और बादर जीव रहित नहीं है। जगत् में जो कुछ दिखाई देता है वह सब जीवों का वर्तमान शरीर अथवा भूतकालीन शरीर है। जैसे हरा वृक्ष, वृक्ष के असंख्य जीवों के मिलने से बना है। सूखा लक्कड़ा

वनस्पति के जीवों के द्वारा छोड़ा हुआ अचित्त शरीर है। पृथ्वी के असंख्य जीव मिलकर पहाड़ बनाते हैं। नदी और समुद्र को पानी के असंख्य जीव मिलकर बनाते हैं। इस प्रकार स्थावर वस्तुएँ स्थावर जीवों की बनाई हुई हैं और त्रसशरीर त्रस जीवों के बनाये हुए हैं। कर्म पुद्गल की रचना जीव करते हैं और शरीर पुद्गल की रचना भी जीव ही करते हैं। जगत् की रचना के लिए ईश्वर का कहीं भी अवकाश नहीं है। जगत् की रचना रागद्वेष-युक्त जीवों की कृति है। 'किन्तु ईश्वर रागद्वेष और कषाय रहित होने से—निर्दोष होने से अथवा कर्म रहित होने से वह स्वाभाविक पर्याय का ही कर्त्ता हो सकता है। वैभाविक पर्याय का वह कर्त्ता नहीं बन सकता'। जगत् वैभाविक पर्याय रूप है अतः उसका ईश्वर के साथ मेल नहीं बैठ सकता। ईश्वर तो शुद्ध सच्चिदानन्द स्वरूप परम शुद्ध आनन्दमय और विज्ञानमय है वह शुद्ध चेतन भाव का ही कर्त्ता है परभाव का कर्त्ता नहीं है।

सुज्ञेषु किं बहुना !

जैन-ईश्वर

अरिहन्त और सिद्ध भगवान्

आठ कर्मों में से ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय, मोहनीय और अन्तराय, इन चारों घाती कर्मों का-सर्वथा उच्छेद करके केवल ज्ञान, केवल दर्शन, क्षायिक चारित्र और अनन्तवीर्य की प्राप्ति करने वाला आत्मा अर्हत् जीवन मुक्त होता है। रागद्वेष का सर्वथा क्षय हो जाने से वीतरागपद धारण करने वाला अर्हत् सारे विश्व को, सर्व प्राणियों को आत्मवत् मानता है। किसी पर भी शत्रु मित्र भाव न होने से पूर्ण समदर्शी होता है। इसका त्याग और वैराग्य परिपूर्ण होता है। जगत् की कोई भी लालसा इसके मनमें नहीं होती। आशा और तृष्णा इसके चरण की दासियाँ हैं। अठारह पाप स्थानों का सर्वथा त्यागी होता है। जब तक आयुष्य कर्म बाकी रहता है तब तक वह तेरहवें सयोगी केवली गुणस्थान में विराजमान रहता है। चरम शरीरी होने से उसे दूसरा भव ग्रहण नहीं करना पड़ता है। इसी भव के अन्त में आयुष्य कर्म के साथ वेदनीय, नाम और गोत्र कर्म समाप्त करके पांच ह्रस्व अक्षर उच्चारण काल पर्यन्त अयोगी गुणस्थानक में रहकर वह मुक्ति पद प्राप्त कर लेता है। केवल ज्ञान और केवल दर्शन छोड़कर अन्यत्र कहीं भी उसका लक्ष्य नहीं जाता है। शरीर-

धारी होता हुआ भी मुक्तावस्था के सुखका अनुभव करता है। इसी कारण से वह जीवन्मुक्त कहलाता है। नमस्करणीय पंच परमेष्ठीपद में अरिहंत का प्रथम नम्बर है क्योंकि नमो अरिहंताणं प्रथम है और नमो सिद्धाणं दूसरा है। वह नीचे बताये हुए अठारह दोष रहित और बारह गुण सहित होता है।

अठारह दोष

(१) मिथ्यात्व (२) अज्ञान (३) मद-गर्व (४) क्रोध (५) माया (६) लोभ (७) रति-पाप में आसक्ति (८) अरति-खेद या उद्वेग (९) निद्रा (१०) शोक (११) झूठ (१२) चोरी (१३) मत्सर (१४) भय (१५) हिंसा (१६) शत्रुमित्र भाव (१७) क्रीड़ा-खेल (१८) हँसी-मस्करी।

(जै० त० प्र० पृ० ११)

इन अठारह दोषों में से एक भी दोष अरिहन्त में नहीं होता। वह सर्व प्रकार से इन अठारह दोषों से अलिप्त है।

अर्हत् के दो भेद

अरिहन्त के समान्यरूप से दो भेद हैं। १ केवली भगवान् २ तीर्थङ्कर भगवान्! ऊपर का वर्णन केवली और तीर्थङ्कर दोनों को समानरूप से लागू पड़ता है। नीचे की विगतमें केवली और तीर्थङ्कर भिन्न हो जाते हैं। चौंतीस अतिशय-प्रभावक चिह्न और ३५ प्रकार के वचन अतिशय तीर्थङ्कर नाम कर्म के उदय वाले तीर्थंकर भगवान् को ही होते हैं। ये अतिशय सामान्य केवली को नहीं होते। एक हजार और आठ उत्तम लक्षण

तथा चौंसठ इन्द्रों की पूजनीयता तीर्थंकर में होती है केवली में नहीं। तीर्थंकर अपने-अपने समय में साधु, साध्वी, श्रावक, श्राविका रूप चतुर्विध संघ क स्थापना कीरते हैं और संघनायक शासनपति कहे जाते हैं। ऐसे तीर्थङ्कर एक अवसर्पिणी कालमें या उत्सर्पिणी काल में चौवीस होते हैं। जैसे गत अवसर्पिणी काल में ऋषभ देव स्वामी से लेकर महावीर स्वामी पर्यन्त चौवीस तीर्थंकर हुए हैं। केवली तो पंद्रह कर्म भूमि में हर समय कम से कम दो करोड़ और अधिक से अधिक नौ करोड़ विद्यमान रहते हैं। इसी प्रकार तीर्थंकर भी पन्द्रह कर्म भूमि के मिलकर १६० या १७० होते हैं। चौवीस तो भरत और ईरवत क्षेत्र की अपेक्षा से कहे गये हैं क्योंकि अवसर्पिणी और उत्सर्पिणी काल भरत ईरवत क्षेत्र में ही है। पाँच महाविदेह क्षेत्र में सदा समान काल है अर्थात् वहाँ हमेशा तीर्थंकर होते ही हैं।

बारह-गुण

(१) अनन्तज्ञान (२) अनन्त दर्शन (३) अनन्त क्षायिक चारित्र (४) अनन्त सुख (५) अनन्त बलवीर्य (६) अनन्त क्षायिक सम्यक्त्व (७) वज्रऋषभनाराच संघयण (८) समचउरंस संठाण (९) चौंतीस अतिशय (१०) पैंतीसवाणी के गुण (१२) चौंसठ इन्द्रों से पूजनीयता।

तीर्थंकर केवली के भी नायक गिने जाते हैं। अतः केवली जिन कहलाते हैं और तीर्थंकर जिनेन्द्र। ये केवली और तीर्थंकर अरिहंत गिने जाते हैं। इनको प्रथम पद 'नमोअरि-

हंताणं" से नमस्कार किया जाता है। यह जैनाभिमत प्रथम ईश्वर है।

यहाँ ईश्वर शब्द का अर्थ पूर्ण आत्मिक सामर्थ्यवान् या, पूर्ण ऐश्वर्यवान् मात्र ही है। ईश धातु से बने हुए ईश्वर शब्द से यही अर्थ निकलता है। कर्त्तृत्व, कृति या प्रयत्न ऐसा अर्थ इस धातु से नहीं निकल सकता। सामर्थ्य का अर्थ जगत् पर अपना साम्राज्य जमाना नहीं हो सकता। इसका यह अर्थ हो सकता है—आज तक जो आत्मा जड़ पदार्थ पुद्गल द्रव्य की सत्ता के नीचे दबा हुआ था-कर्म की आज्ञा के आधीन था-उस आत्माके द्वारा कर्म दल को चकचूर करके कर्म की सत्ता को जड़ मूल से उखेड़ कर—अनन्त ज्ञान और अनन्त दर्शन रूपी अपनी अतुल समृद्धि पर कब्जा करके, स्वाभाविक पर्याय की सत्तापर पूर्ण स्वतंत्रतया अपना साम्राज्य जमाना और अनन्त परमानन्द में तल्लीन रहना या पूर्ण ब्रह्म पद प्राप्त करना और जगत-भवसागर में डुबकियाँ न खाते हुए जगत की सपाटी पर स्थिर हो जाना, जन्म जरा और मृत्यु के दुखों का सर्वथा क्षय करके अनन्त कालके लिये निजानन्द में लवलीन हो जाना, यही पूर्ण सामर्थ्य का अर्थ है और यही उसका फल है। अरिहंत इस फलस्वरूप मुक्ति पद के समीप पहुँच चुके हैं तथापि जीवों का श्रेय सिद्ध करने के लिए, मार्ग प्रदर्शन द्वारा, शास्त्रोपदेशद्वारा संघस्थापनद्वारा और अनेक जीवों को मुक्ति का साथ देकर बने हुए सार्थ वाहक द्वारा अपना बहुत हिस्सा प्रदान करते हैं। इसी कारण से तथ

आसन्न उपकारी होने से आठकर्म खपा चुकने वाले सिद्ध पद से दूसरे नम्बर पर होते हुए भी हम लोग उन्हें प्रथम नम्बर पर नमस्कार करते हैं 'नमो अरिहंताण'' इति ।

दूसरे परमेष्ठी सिद्ध भगवान्

नमो सिद्धाणं

सिद्धों को तीर्थंकर भी नमस्कार करते हैं । 'नमो सिद्धस्स' अथवा "सिद्धाण' नमो किच्चा संजयाणं च भावओ" इत्यादि अनेक स्थलों पर तीर्थंकरों का सिद्ध भगवान् के प्रति नमस्करणीय भाव दिखाई देता है । यह इसलिये कि अरिहंतों के चार कर्म बाकी हैं किन्तु सिद्ध भगवान् आठों कर्मों का क्षयकर के सम्पूर्ण कृतकृत्यता प्राप्त कर चुके हैं । "सिवमयलमरुयमणन्तमक्खयमव्वाबाहमपुणरावत्तियं सिद्धिगई नामधेयं ठाण' संपताण'' अर्थ—सिद्धोंने सिद्ध गति नामक स्थान प्राप्तकर लिया है वह स्थान कैसा है सो बताते हैं—शिव-उपद्रव रहित, अचल, अरुज रोग रहित, अणंत-अन्त रहित, अक्षय-क्षय न पानेवाला अव्यय-व्यय रहित, अव्वाबाह-व्याधि पीड़ा रहित और अपुणरावत्तिय-पुनरावृत्ति रहित । ऐसा सिद्ध गति नामक स्थान जिन्होंने प्राप्त कर लिया है वे सिद्ध भगवान् सिद्ध शिला नामकी पृथ्वीपर एक योजन के अन्तिम कोश के छठे भाग के अंदर ३३३ धनुष्य और ३२ अँगुल परिमित क्षेत्र में लोक के अग्र भाग पर अनन्त सुखकी लहर में विराजमान हैं। वे कैसे हैं सो बताते हैं—वर्ण रहित, गन्ध रहित, रस रहित

स्पर्श रहित, अमूर्त, अविनाशी, भूख नहीं, दुःख नहीं, रोगनहीं शोक नहीं, सन्ताप नहीं, जन्म नहीं, जरा नहीं, मरण नहीं, काया नहीं, कर्म नहीं, चाकर नहीं, ठाकुर नहीं, आत्म स्वरूप से सब एक समान हैं। जहाँ एक सिद्ध है वहाँ अनन्त सिद्ध हैं और जहाँ अनन्त सिद्ध हैं वहाँ एक सिद्ध है। कहा है कि—

जत्थय एगो सिद्धो; तत्थ अणंता भवक्खयविमुक्का।
अण्णोण्णसमोगाढ़ा पुट्ठोय सव्वेय लोगंते॥

(उव० पृ० २१३)

अर्थ—जहाँ एक सिद्ध है वहाँ अनन्त सिद्ध हैं। एक दूसरे को अवगाहन करके रहे हुए हैं। सर्व लोक के अन्त को स्पर्श करके रहे हुए हैं। जीव का स्वभाव ऊर्ध्वगामी होने से निर्लेप तुम्बीवत्, एरण्ड वीजवत्, बंधन मुक्तवत्, धनुष्यमुक्त वाणवत् अविग्रह गति से वे एक समय में लोक के अंत में पहुँच जाते हैं। उसके आगे धर्मास्तिकाय न होने से अलोक में न जाकर लोक के अन्त में ही मुक्त जीव रुक जाते हैं।

सिद्ध का सौख्य

ण वि अत्थि मणुस्साण तं सोक्खं णविय सव्व देवाणं
जं सिद्धाणं सोक्खं अव्वाबाहं उवगयाणं
जं देवाणं सोक्खं सव्वद्धा पिंडियं अणन्त गुणं
ण य पावइ मुत्तिसुहं णंताहि वग्गवग्गूहि

(उव० पृ० २१३)

ग्रन्थ-प्रशस्ति

शार्दूल विक्रीडितवृत्तम्

बाणाङ्काङ्कधराऽक्षयोत्तमतिथा-वारभ्य आग्रापुरे ।
षण्निध्यङ्कक्ष्माऽश्विने शुभदले, तिथ्यां दशम्यां रवौ ॥
ग्रन्थोऽयं विदितेऽजरामरपुरे, नीतः समाप्तिं परां ।
श्री मद्वीरगुलाबचन्द्र विदुषः, शिष्येण रत्नेन्दुना ॥ १ ॥

अर्थ—विक्रम संवत १९९५ की अक्षय तृतीया (वैशाख सुदी ३) के दिन आगरा शहर में आरंभ किया हुआ यह ग्रन्थ सम्वत् १९९६ को आश्विन शुक्ला दसवीं अर्थात विजया दशमी, रवि-वार को अजमेर शहर में श्रीयुत स्थविर महाराज श्री वीरचन्द्र स्वामी के बड़े भाई पूज्य पाद श्री गुलाबचन्द्र जी स्वामी के शिष्य मुनिरत्नचन्द्र जी शतावधानी ने सम्पूर्ण किया (स्वपर कल्याण के लिये) ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः ॥

॥ OM ॥

आधुनिक-विद्वानों के अभिप्राय

ईश्वर के सम्बन्ध में राहुल सांकृत्यायन का अभिप्राय

ईश्वर का विचार हमारे सभी कामों में कठिनाई पैदा करता है। ईश्वर का ख़याल ही यह सिखलाता है कि हम अपने मालिक नहीं। कितने ही धर्म इसलिए सन्तान निरोध के विरोधी हैं—कि मनुष्य को ईश्वर के काम में दखल देने का अधिकार नहीं है। यदि जनसंख्या कम करना उसे मंजूर होगा तो वह उसके लिए बड़ा काम नहीं है।

पिछले वर्ष जब हम काश्मीर राज्य के बालिस्तान प्रदेश में थे, वह तृण वनस्पति-शून्य पहाड़ी स्थान है। वहाँ इच्छानुसार पानी की नहरों और खेतों के बनाने का सुभीता भी उतना नहीं है। हम लोग जाते वक्त रास्ते में एक गाँव में ठहरे थे, गाँव वालों की ग़रीबी वर्णनातीत थी। पूछने पर मालूम हुआ कि आधी सदी पहिले इस गाँव में सिर्फ पाँच घर थे, किन्तु अब बीस हैं। यह लोग कुछ शताब्दियों पूर्व बौद्ध थे। और अपने धर्म भाई तिब्बत वासियों की भाँति बहुपतित्व के मानने वाले थे। तिब्बत में सभी भाइयों की एक स्त्री होने का कारण था, जनवृद्धि की भीषणता का रोकना। किंतु जब यह लोग मुसलमान हो गये, तब खुदा के भरोसे पर लगे बच्चे पर

बच्चे पैदा करने। हमारे जर्मन मित्र ने उनसे पूछा—जब तुम्हारे पास खेतों की इतनी कठिनाई है, और जीवन निर्वाह बहुत ही मुश्किल है, तब फिर तुम क्यों इतने बच्चे पैदा करते हो? उत्तर मिला—जो बच्चों को देता है (अर्थात् खुदा) क्या वह उनको नहीं संभालेगा? हमारे मित्र ने कहा—हाँ, वह न संभालेगा तो हैज़ा, चेचक, भूख, अकाल तो जरूर संभाल लेंगे। ल्हासा में एक मुसलमान सज्जन ने अपना विश्वास इस प्रकार प्रकट किया—हमारे धर्म के अनुसार, माँ, बाप को काफी सन्तानें पैदा हो जायँ तो उनके लिए हज्ज करना आवश्यक नहीं रह जाता है। हिन्दू भी तो 'अपुत्रस्य गतिर्नास्ति' मानते हैं।

इस प्रकार आप जितना ही सोचेंगे, मालूम होगा, ईश्वर का खयाल हमारी सभी प्रगतियों का बाधक है। मानसिक दासता की वह सबसे बड़ी बेड़ी है, शोषकों का जबर्दस्त अस्त्र है। क्योंकि उसके सहारे वह कहते हैं—'धनी गरीब उसी के बनाये हुए हैं,' 'वह जो करता है सभी ठीक करता है' 'उसकी मर्जी पर अपने को छोड़ दो।' 'क्या जानें इन चंद वर्षों के कष्ट के लिए मरने के बाद उसने क्या-क्या आनन्द आपके लिए तैयार कर रखे हैं?' 'वह मंत्र चालक की भाँति सभी प्राणियों को चला रहा है।' "मनुष्य उसके हाथ की कठपुतली है।" यह खयाल क्या हमें अपने भविष्य का मालिक बनने देंगे?

आप यह तर्क नहीं बघार सकते—यदि ईश्वर नहीं है, तो संसार को बनाता कौन है? क्या हर एक चीज़ के लिए बनाने वाला बहुत जरूरी है? यदि है, तो ईश्वर का बनाने वाला कौन है? यदि वह स्वयं है, तो वही बात प्रकृति के बारे में भी क्यों नहीं मान लेते?

एक ईश्वर मानने वाले धर्मों की अपेक्षा अनेक देवता मानने वाले धर्म हज़ार गुना उदार रहे हैं। उनके ईश्वरों की संख्या अपरिमित होने से वहाँ औरों के देवताओं का भी समावेश आसानी से हो सकता था। किंतु एक ईश्वर वादी वैसा करके अपने अकेले ईश्वर की हस्ती को ख़तरे में नहीं डाल सकते थे। आप दुनियाँ के एक ईश्वरवादी धर्मों के पिछले दो हज़ार वर्षों के इतिहास को उठाकर देखिये, मालूम होगा कि वे सभ्यता, कला, विद्या, विचार-स्वातन्त्र्य और स्वयं मनुष्य के प्राणों के भी सब से बड़े शत्रु थे। उन्होंने हज़ारों बड़े-बड़े पुस्तकालय और करोड़ों पुस्तकें आग में डाल दीं। सौंदर्य और कोमल भावों के साकार रूप, कितने ही कलाकारों की सुन्दर मूर्तियों, चित्रों और इमारतों को नष्ट कर दिया। हज़ारों विद्या-व्यसनियों और विद्वानों के जीवन को समाप्त कर, स्वतंत्र विचारों का गला घोंटा। मनुष्य की मानसिक प्रगति को कम से कम एक हज़ार वर्ष के लिए उन्होंने रोक ही नहीं रखा, बल्कि पहिले की प्राप्त सफलताओं को बिलकुल नष्ट कर डाला और करोड़ों निर्दोष नर नारियों और बच्चों की हत्या ? यह तो उनके अपने धर्म प्रचार का प्रधान साधन थी। वह जिस देश में गये, आग और तलवार लेकर गये। पहले तो इनके फंदे में फँसी जातियाँ अफ़ीम के नशे में थीं, उन्हें इसका ख्याल ही न हो रहा था, कि उनकी चिर-संचित जातीय निधि नष्ट की जा रही है। पीछे जब नशा टूटा, तो देखा कि पूर्वजों की सभी उत्तम कृतियाँ नष्ट कर दी गईं। जर्मन जाति में एक ईश्वरवाद तलवार के बल ही फैलाया गया। उस समय पुराने धर्म के साथ साथ, जर्मन जाति का व्यक्तित्व भी मिटा देना आवश्यक समझा गया। उनकी लिपि को धता बताया गया। उनके

साहित्य को खोज-खोज कर जलाया गया। उनके मन्दिरों को ही बर्बाद नहीं किया गया, बल्कि, यह सोच कर कि कहीं यह लोग अपने ओक वृक्षों की पूजा कर के भ्रष्ट न हो जायँ, लाखों विशाल ओक-वृक्ष काट डाले गये। एक ईश्वर वादियों के ऐसे कारनामे एशिया के ही नहीं, अमेरिका की माया और अजेतक जैसी सभ्यता के संहार के कारण हुये। अपने नाम पर सैकड़ों वर्षों तक इस प्रकार के भयंकर अत्याचार करते, खून की नदी बहाते देख भी यदि ईश्वर रोकने के लिये नहीं आया तो इससे बढ़कर उसके न होने का और दूसरा प्रमाण क्या चाहिये ?

(साम्यवाद ही क्यों ? पृ० ५८-५३)

ईश्वर के सृष्टि कर्तृत्व के विषय में स्याद्वाद वारिधि पं० गोपालदास जी वरैया का अभिप्राय

ईश्वर का कर्तव्य है कि मनुष्य को पाप न करने दे, न कि उसके पाप करने पर उसको दण्ड दे। इसलिए यदि ईश्वर सरीखा सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान, और दयालु इस लोक का कर्त्ता होता तो लोक में किसी भी प्रकार पाप की प्रवृत्ति नहीं होती। परन्तु ऐसा दीखता नहीं है। इस कारण इस लोक का कर्त्ता कोई ईश्वर नहीं है।

यदि ईश्वर का स्वभाव ही कर्तृरूप माना जाय तो क्या दोष है ? इस प्रश्न का उत्तर यदि स्वभावतः ही कर्त्ता माना जाय तो जगत् में भी स्वभाव मानने से जगत् की उत्पत्ति आदि का सम्भव होने से असम्भव, तथा अदृष्ट ईश्वर की कल्पना कहाँ तक सत्य है। यह पाठकों की बुद्धि पर निर्भर करते हैं। ऐसा नहीं हो सकता कि जगत् में यह स्वभाव नहीं हो सके, और ईश्वर में संभव हो सके। यदि यह स्वभाव ही है तो कौन

किस में रोक सकता है ? (तदुक्तं स्वभावोऽतर्क गोचरः) इस प्रकार कार्यत्व हेतुत्व को सर्वतः विचार करने पर भी बुद्धिमान् ईश्वर को कर्त्ता नहीं मान सकता। इसी प्रकार सन्निवेश विशेष अचेतनोपादानत्व. अभूतं भावित्व, इत्यादिक अन्य भी हेतु आक्षेप समाधान समान होने से ईश्वर को कर्त्ता सिद्ध नहीं कर सकते हैं।

(सृष्टि कर्तृत्व मीमांसा पृष्ठ ७-२६)

ईश्वर के कर्त्तृत्व पर स्याद्वाद वारिधि पं० गोपालदासजी ने अपनी पुस्तक सार्व धर्म के पृष्ठ २४ पर भी बतलाया है कि—

संसार में जितने अनर्थ होते हैं, उन सब का विधाता ईश्वर ठहरेगा। परन्तु उन सब कर्मों का फल बेचारे निर्दोष जीवों को भोगना पड़ेगा, देखो! कैसा अच्छा न्याय है। अपराधी ईश्वर और दण्ड भोगे जीव! इस प्रकार प्रमाण की कसौटी पर कसने से ऐसे कल्पित ईश्वर की सत्ता सिद्ध नहीं हो सकती।

पृ० २६ पर—"जो जो मैत्र के पुत्र हैं वे वे श्याम हैं, और जो जो श्याम नहीं हैं वे वे मैत्र के पुत्र भी नहीं हैं। गर्भस्थ का पुत्र गोरा हो जाय तो बाधक कौन? इसीलिये विपक्ष में बाधक के अभाव से मैत्र पुत्रत्व और श्यामत्व में व्याप्ति नहीं हो सकती। इस ही प्रकार कार्य और चेतन कर्ता में भी विपक्ष में बाधक के अभाव से व्याप्ति नहीं हो सकती। इस प्रकार कार्यत्व हेतु ईश्वर की सत्ता सिद्ध करने में असमर्थ है।

बाबू सूरजभानु जी जैन ने भी अपनी पुस्तक 'जगदुत्पत्ति विचार के' के पृष्ठ ४०-४१ में ईश्वर के कर्त्तृत्व पर लिखा है:—

बाकी सभी जंगल में गल सड़ जाते हैं, यदि ईश्वर इन वस्तुओं का बनाने वाला होता तो इतनी ही उत्पन्न करता

जितनी काम आने वाली हैं, और ऐसे ही स्थान में पैदा करता जहाँ वे काम आवें।......यदि संसार का सर्व प्रबन्ध ईश्वर ही करता तो वह ऐसा कदाचित् नहीं करता कि चोर भी बनाता और चोरों को पकड़ने के वास्ते चौकीदार भी बिठाता।

(२७) क्यों जी? यदि संसार का सर्व कार्य ईश्वर ही करता है, तो मैं जोकि उसका खण्डन कर रहा हूँ, वह भी वास्तव में वही कर रहा है, संसार को धोखे में डालने की कोशिश कर रहा है।

यदि ईश्वर को प्रबन्ध कर्त्ता माना जावे तो मनुष्य का कर्त्तव्य कुछ भी नहीं है, कोई-कोई मनुष्य ऐसा मानते हैं, कि कर्म करने में मनुष्य स्वतन्त्र है, परन्तु उसका फल ईश्वर देता है। परन्तु विचार करने पर यह बात बिलकुल असम्भव सिद्ध होती है।

ईश्वर कर्त्तृत्व पर चन्द्रसेन जैन वैद्य ने अपनी पुस्तक "सृष्टिवाद परीक्षा" के पृष्ठ ३ में भी कहा है:—

"कृतार्थस्य विनिर्मित्सा, कथमेवास्य युज्यते।
अकृतार्थोऽपिन सृष्टुं, विश्वमीष्टे कुलालवत्॥

अब यह कहो कि तुम्हारा सृष्टि कर्त्ता ईश्वर कृतार्थ है अथवा अकृतार्थ है? यदि कृतार्थ है अर्थात् उसे कुछ करना बाकी नहीं रहा, चारों पुरुषार्थों का साधन कर चुका है, तो उसका कर्त्तापन कैसे बनेगा? वह सृष्टि क्यों बनावेगा? और यदि अकृतार्थ है, अपूर्ण है, उसे कुछ करना बाकी है, तो कुम्भकार के समान वह भी सृष्टि को नहीं बना सकेगा। क्योंकि कुम्भकार भी तो अकृतार्थ है, इसलिये जैसे उससे सृष्टि की

रचना नहीं हो सकती है, उसी प्रकार से अकृतार्थ ईश्वर से भी नहीं हो सकती है।

"अमूर्तो निष्क्रियो व्यापी कथमेषः जगत्सृजेत्।
न सिसृक्षापि तस्यास्ति, विक्रिया रहितात्मनः॥"

यदि ईश्वर अमूर्त, निष्क्रिय और सर्वव्यापक है, ऐसा तुम मानते हो, तो वह इस जगत् को कैसे बना सकता है? क्योंकि जो अमूर्त है, उससे मूर्तिक संसार की रचना नहीं हो सकती है, जो क्रिया रहित है, सृष्टि रचना रूप क्रिया नहीं कर सकता है, और जो सब में व्यापक है, वह जुदा हुए बिना—अव्यापक हुए बिना सृष्टि नहीं बना सकता है।

इसके सिवा ईश्वर को तुम विकार रहित कहते हो। और सृष्टि बनाने की इच्छा होना एक प्रकार का विकार है—विभाव परिणति है, तो बतलाओ उस निर्विकार परमात्मा के जगत् बनाने की विकार चेष्टा होना कैसे सम्भव हो सकती है?

"कर्मापेक्षः शरीरादि, देहिनां घटयेद्यदि।
नन्वेवमीश्वरो न स्यात्, पारतंत्र्यात् कुविन्दवत्॥"

यदि सृष्टि-कर्त्ता जीवों के किये हुए पूर्व कर्मों के अनुसार उनके शरीरादि बनाता है, तो कर्मों की परतंत्रता के कारण वह ईश्वर नहीं हो सकता है जैसे कि जुलाहा। अभिप्राय यह है कि जो स्वतंत्र है, समर्थ है, उसी के लिये ईश्वर संज्ञा ठीक हो सकती है। परतंत्र के लिये नहीं हो सकती। जुलाहा यद्यपि कपड़े बनाता है, परन्तु परतन्त्र है, और असमर्थ है, इसलिये उसे ईश्वर नहीं कह सकते।

ईश्वर के प्रति श्री सम्पूर्णानन्द जी के विचार—

निर्धन के धन और निर्बल के बल कोई भगवान् हैं, ऐसा कहा जाता है। यदि हैं तो उनसे किसी बलवान् या धनी को कोई आशंका नहीं है। वह उनके दरबार में रिश्वत पहुँचाने की युक्तियाँ जानता है। पर उनका नाम लेने से दुर्बल और निर्धन का क्रोध शान्त हो जाता है। जो हाथ सताने वालों के विरुद्ध उठते हैं, वह भगवान् के सामने बँध जाते हैं। आँखों की क्रोधाग्नि आँसू बनकर छलक जाती है। वह कमर तोड़कर भगवान् का आश्रय लेता है। इसका परिणाम कुछ भी नहीं होता। उसके आर्त हृदय से उमड़ी हुई कम्पित स्वर लहरी आकाश मण्डल को चीर कर भगवान् के सूने सिंहासन से टकराती है। टकराती है, और ज्यों की त्यों लौटती है। कबीर साहब के शब्दों में 'वहाँ कुछ है नहीं', अरज अन्धा करे, कठिन डंडौत नहीं टरत टारी" आज हजारों कुल वधुओं का सतीत्व बलात् लुट रहा है, हजारों को पेट की ज्वाला बुझाने के लिये अबला का एक मात्र धन बेचना पड़ रहा है। लाखों बेकस, निरीह राजनीतिक, और आर्थिक दमन और शोषण की चक्की में पिस रहे हैं, पर जो भगवान् कभी खम्भे फाड़ कर निकला करते थे, और कोसों तक चीर बढ़ाया करते थे, वह आज उस कला को भूल गये, और अनन्त शयन का सुख भोग रहे हैं। फिर भी उनके नाम की लकड़ी दीन-दुखियों को थमाई जाती है। जो लोग ऐसा उपदेश देते हैं वह खूब जानते हैं कि अशान्तों को काबू में रखने का इससे अच्छा दूसरा उपाय नहीं है।

ईश्वर ने विभिन्न मतानुयायियों को विभिन्न उपदेश दे रखे हैं। जगज्जनक होकर भी बलि और कुरबानी से प्रसन्न होता है।

एक ओर विश्वेश्वर बनता है, दूसरी ओर विधर्मियों को और कभी-कभी स्वधर्मियों को भी मार डालने तक का उपदेश देता है। एक ही अपराध के लिये अलग-अलग लोगों को अलग-अलग दण्ड देता है, और एक ही सत्कर्म के पुरस्कार भी अलग-अलग देता है। अपने भक्तों के लिये कानून की पोथी को बैठन में बन्द करके रख देता है।

प्रायः सभी सम्प्रदायों का यह विश्वास है कि उनको सीधे ईश्वर से आदेश मिला है, पर हिन्दू का ईश्वर एक बात कहता है। मुसलमान का दूसरी और ईसाई का तीसरी। इटली की सेना अबीसीनिया पर आक्रमण करती है, और उभय पक्ष ईश्वर, ईसा और ईसा की माता से विजय की प्रार्थना करते हैं।

(समाजवाद पृष्ठ १४-१८, १३)

ईश्वर के विषय में महात्मा गांधी का अभिप्राय—

ईश्वर है भी और नहीं भी है। मूल अर्थ से ईश्वर नहीं है। मोक्ष के प्रति पहुँची हुई आत्मा ही ईश्वर है। इसलिये उसको सम्पूर्ण ज्ञान है। भक्ति का सच्चा अर्थ आत्मा का शोध ही है। आत्मा को जब अपनी पहिचान होती है, तब भक्ति नहीं रहती, फिर वहाँ ज्ञान प्रकट होता है।

नरसी मेहता इत्यादि ने ऐसी ही आत्मा की भक्ति की है। कृष्ण, राम इत्यादिक अवतार थे, परन्तु हम भी अधिक पुण्य से वैसे हो सकते हैं। जो आत्मा मोक्ष के प्रति पहुँचने के लगभग आ जाती है वही अवतार है। इनके विषय में उसी जन्म में सम्पूर्णता मानने की आवश्यकता नहीं।

(महात्मा गांधी के निजी पत्र पृष्ठ ४७)

भगवद्गीता का अवतरण

न कर्तृत्वं न कर्माणि, लोकस्य सृजति प्रभुः ।
न कर्म फल संयोगं, स्वभावस्तु प्रवर्त्तते ॥ गीता ५-१४

जगत् का प्रभु न कर्तापन रचता है, न कर्म रचता है, न कर्म और फल का मेल साधता है । प्रकृति ही सब करती है ।

टिप्पणी—ईश्वर कर्त्ता नहीं है, कर्म का नियम अटल और अनिवार्य है । और जो जैसा करता है, उसको वैसा भरना ही पड़ता है ।

नादत्ते कस्यचित्पापं, न चैव सुकृतं विभुः ।
अज्ञानेनावृत्तं ज्ञानं, तेन मुह्यन्ति जन्तवः ॥ गीता ५-१५

ईश्वर किसी के पाप या पुण्य को अपने ऊपर नहीं ओढ़ता है । अज्ञान द्वारा ज्ञान ढक जाने से लोग मोह में फँस जाते हैं।

टिप्पणी—अज्ञान से "मैं करता हूँ" इस वृत्ति से मनुष्य कर्म बन्धन बांधता है, फिर भी वह भले बुरे कर्म का आरोप ईश्वर पर करता है, यह मोह जाल है ।

(भगवद्गीता का अनुवाद-कर्म संन्यास योग)

श्रीमद् परमहंस सोऽहं स्वामी का अभिप्राय—

जो वेद को ब्रह्म से उत्पन्न मानता है, उसके लिये बाईबिल को ईश्वर के द्वारा निर्माण किया हुआ न मानना, अथवा जो लोग बाईबिल को ईश्वर की बनाई हुई मानते हैं, उनके लिये वेद का ब्रह्म से उत्पन्न न होना मानना युक्ति संगत नहीं है । 'जगत् के कर्त्ता ने विविध देशों में विविध नामों से प्रकट होकर विभिन्न देशों में देश, काल और पात्र के भेद से अलग-अलग धर्म का उपदेश किया है', इस पर जो लोग विश्वास करते हैं, क्या वे विविध देशों के सृष्टि-तत्व-विषयक मतों में जो भेद पड़ गया है उसका निर्णय कर सकते हैं ?

(भगवद्गीता की समालोचना-अनु० गोपालचंद्र वेदान्त शास्त्री पृष्ठ १८)

सृष्टि सम्बन्ध में पाश्चात्य दार्शनिक क्या कहते हैं?

कान्ट का मत

जो संसार देश और काल से परिच्छिन्न नहीं है, तो वह अनन्त अंशों के मिलाप से बना है। इन अनन्त अंशों को जोड़ने में अनन्त काल लगा है। वह काल तो व्यतीत हो चुका है, बीता हुआ काल अनन्त किस प्रकार से हो सकता है? अतः संसार को देश काल से परिच्छिन्न मानना चाहिये। लेकिन इसमें बड़ी कठिनाई है, क्योंकि संसार का अर्थ है प्रत्यक्ष योग्य विषयों का समूह। तो जो परिच्छिन्न है, तथा जो परिच्छेदक देश है, वह इससे बाहर होना चाहिये। वह बाहिर का स्थान प्रत्यक्ष योग्य नहीं रहता, अर्थात् वह अमूर्त ठहरेगा, और यदि ऐसा हुआ तो मूर्त तथा अमूर्त का सम्बन्ध स्थापित होगा, जोकि असम्भव है। इस विरोध से संसार को न तो परिच्छिन्न ही कहा जायगा, तथा अपरिच्छिन्न भी नहीं कह सकेंगे।

परमाणुओं से बना हुआ संसार

इसी प्रकार यदि संसार परमाणुओं से बना हुआ माना जाता है, तो परमाणु मूर्त हैं अथवा अमूर्त? यदि मूर्त होवें तो उनका विभाग हो सकता है। यदि अमूर्त हैं तो उनमें से मूर्त का

आविर्भाव किस प्रकार से हो सकता है। क्योंकि असत् का सत् नहीं हो सकता है। अतः परमाणु न तो मूर्त है और न अमूर्त ही। अर्थात् परमाणु कोई चीज़ नहीं है।

संसार मिश्र वस्तुओं से वना हुआ है ?

यदि संसार मिश्र वस्तुओं से वना हुआ माना जाता है तो अवयवियों से वना हुआ मानना पड़े। अवयंवी को अवयव अवश्य ही होने चाहिये। अवयव ही परमाणु रूप सिद्ध हुए। अव वड़ी आपत्ति तो यह आ पड़ी कि परमाणु हैं कि नहीं ?

कार्य कारण भाव—

इसी प्रकार से हर एक कार्य का नियम पूर्व कोई कारण है अथवा कारण विना भी कोई कार्य है ? यदि समस्त संसार कारण से नियतं है तो कारणों की अवस्था है, क्योंकि कोई आदि कारण स्वतन्त्र नहीं, यदि आदि कारण कोई माना जावे तो वह आदि कारण क्या अमुक काल तक निष्कार्य रह कर के फिर किसी कार्य को उत्पन्न करता है ? ऐसा किस लिये ? क्या उसमें कार्योत्पादन शक्ति पीछे से आई ? वाद में आई तो कहाँ से आई ? इस कठिनाई से न तो आदि कारण मानने में संसार वनता है, और न मानने में संसार वन सकता है।

क्या स्वतन्त्र ईश्वर संसार का कारण है ?

यदि स्वतन्त्र ईश्वर संसार का कारण माना जावे तो एक प्रश्न यह उपस्थित होता है कि वह ईश्वर संसार के अन्दर है या वाहिर ? यदि अन्दर है तो वह प्रारम्भ से ही है या समस्त संसार स्वरूप ही है ? यदि आरम्भ में होवे तो आरम्भ का तो एक ही क्षण है, तो इसके पूर्व कोई क्षण था कि नहीं ? यदि था

तो आरम्भ को आरम्भ ही नहीं कहा जा सकता है। यदि आरम्भ के पूर्व कोई क्षण न था, तो यह बात असम्भव है। क्योंकि काल अनादि अनन्त है। यदि सृष्टा को सृष्टि के बाहिर माना जावे तो देश, काल भी सृष्टि के अन्तर्गत है, अतः सृष्टा देश, काल से अतीत हुआ। देश कालातीत का देशकाल के साथ सम्बन्ध होना अशक्य है। न उससे देशकालावच्छिन्न सृष्टि बन सकती है।

उपसंहार

इस प्रकार काण्ट के मन में अनेक विरोध उपस्थित होने से सृष्टिवाद मानना उचित नहीं, अर्थात् काल के अनादि, अनन्त की तरह संसार का भी अनादि अनन्त मानना ही उचित है।

यु० द० हि० पृ० ११८ सारांश

पीटर दी लोम्बार्ड के अभिप्राय—

ईश्वर सृष्टि में स्वतन्त्र है कि परतन्त्र? यदि स्वतन्त्र होवे तो सृष्टि का ज्ञान उसको पहिले नहीं हो सकता। क्योंकि इस बात का निश्चय ही नहीं कि सृष्टि है कि नहीं? यदि प्रथम ज्ञान है तो उस ज्ञान के अनुसार ही सृष्टि भी होगी। इसमें ईश्वर का स्वातन्त्र्य न रहा।

सृष्टि के पूर्व ईश्वर कहाँ रहा होगा? क्योंकि सृष्टि के पूर्व कोई स्थान तो है नहीं।

ईश्वर की वर्तमान सृष्टि से दूसरी कोई उत्तम सृष्टि बन सकती है कि नहीं? यदि नहीं बन सकती है तो ईश्वर सर्व शक्ति सम्पन्न नहीं रहा। यदि दूसरी उत्तम सृष्टि बन सकती है तो वर्त्तमान सृष्टि को ही वैसी उत्तम क्यों नहीं बनाया?

यु० द० हि० पृ० ९६ सारांश

विविधि-शंकाएँ

प्रारम्भ में पर्याप्त कारण, प्रकृति के परमाणु सृष्टि को उत्पन्न करने में समर्थ थे तो आज कल विना वीज वृक्ष उगा देने में, विना माँ वाप पुत्र पैदा करने में, ऑक्सीजन-हाईड्रोजन विना पानी उत्पन्न करने में, विना जल के वर्फ वनाने में, तथा विना मिट्टी से पर्वत वनाने में कैसे समर्थ नहीं होते ?

प्रकृति को उपादान तथा ईश्वर को निमित्त कारण मानें तो ईश्वर कुम्हार का स्थानापन्न होगा।

ईश्वर की अल्पशक्तिमत्ता के कारण

(१) ईश्वर साधन की सिद्धि के हेतु साधनों का प्रयोग करता है, अतः ईश्वर सर्वशक्तिमान नहीं सिद्ध हो सकता।

(२) ईश्वर साधनों का वुद्धि तथा विचार पूर्वक प्रयोग करता है, अतः सर्व शक्तिशाली नहीं है।

(३) ईश्वर साधनों को स्वयं वनाता है, तथा स्वेच्छानुसार ही गुण तथा योग्यता देता है, उसके निर्वाचन में वुद्धिमानी दीखती नहीं है!

(४) साधनों का प्रयोग वही करता है, जिसको कोई मुसीवत अनुभव होती हो; ईश्वर को अवश्य ही कोई मुसीवत प्रतीत होगी।

ईश्वर ने शून्य में से सृष्टि का निर्माण किया या खुद में से ? यदि शून्य में से प्रकृति वनाई और प्रकृति में से संसार वनाया तो शून्य में से प्रकृति के वजाय संसार ही क्यों नहीं वनाया ? साइन्स का तो यह सिद्धान्त है कि शून्य में से कोई वस्तु उत्पन्न हो ही नहीं सकती। यदि कहो कि शून्य में से नहीं लेकिन अपने में से ही प्रकृति वनाई जिस प्रकार से मकड़ी

अपने में से ही जाला बनाती है, तो यह कथन भी ठीक नहीं। मकड़ी में दो वस्तु हैं। चेतन तथा प्रकृति शरीर। जीव विशेष प्रकार से शरीर में स्थित परमाणु समूह में से जल बनावे उसमें असंगति नहीं है; लेकिन ईश्वर परमाणु विना अपने में से जगत अथवा प्रकृति बनाता है, यह असंगत है। अप्राकृतिक वस्तु में से प्राकृतिक वस्तु बनावे यह सम्भवित नहीं है।

प्लेटो का अभिप्राय अनन्त काल से अपरिवर्तनीय परिवर्तन शील पदार्थ, के साथ सम्मिलित आया हुआ है, इससे जगत् अनादि अनन्त वहिः प्रकाश मात्र है।

न्यू प्लेटोनिस्ट का अभिप्राय ईश्वर तथा जगत दोनों समान रूप से अनादि अनन्त हैं।

ग्रीस का प्राचीन मत (ऐरिस्टोटिल) जगत् का रूप और स्थिति काल अनादि अनन्त है।

ईश्वर के विषय में जैन कवि न्यामतसिंह का अभिप्राय

तर्ज—हुआ सुत राम दशरथ के, बहादुर हो तो ऐसा हो।
न रागी हो न द्वेषी हो, सदानन्द वीतरागी हो।
सब विषयों का त्यागी हो, जो ईश्वर हो तो ऐसा हो ॥टेक॥
न खुद घट-घट में जाता हो, मगर घट-घट का ज्ञाता हो।
वह सत उपदेश दाता हो, जो ईश्वर हो तो ऐसा हो ॥१॥
न करता हो न हरता हो, नहीं अवतार धरता हो।
मारता हो न मरता हो, जो ईश्वर हो तो ऐसा हो ॥२॥
ज्ञान के नूर से पुरनूर[1], हो जिसका नहीं सानी।
सरासर नूर नूरानी[2], जो ईश्वर हो तो ऐसा हो ॥३॥
न क्रोधी हो न कामी हो, न दुश्मन हो न हामी हो।
वह सारे जग का स्वामी हो, जो ईश्वर हो तो ऐसा हो ॥४॥
वह जाते पाक हो दुनियां, के झगड़ों से मुर्बरा हो।
आलिमुल[3] गैब होवे, जो ईश्वर हो तो ऐसा हो ॥५॥
दयामय हो शान्त रस हो, परम वैराग्य मुद्रा हो।
न जाविर हो न काहिर हो, जो ईश्वर हो तो ऐसा हो ॥६॥
निरंजन निर्विकारी हो, निजानन्द रस विहारी हो।
सदा कल्याण कारी हो, जो ईश्वर हो तो ऐसा हो ॥७॥
न जग जंजाल रचता हो, करम फल का न दाता हो।
वह सब बातों का ज्ञाता हो, जो ईश्वर हो तो ऐसा हो ॥८॥
वह सच्चिदानन्द रूपी हो, ज्ञान मय शिव स्वरूपी हो।
आप कल्याण रूपी हो, जो ईश्वर हो तो ऐसा हो ॥९॥
जिस ईश्वर के ध्यान सेही, बने ईश्वर कहे 'न्यामत'।
वही ईश्वर हमारा है, जो ईश्वर हो तो ऐसा हो ॥१०॥

नोट—१ प्रकाश से पूर्ण, २ चांदनी, ३ सर्वज्ञ

नं० २

गजल

जगत कर्ता नहीं ईश्वर, अगर होवे तो मैं जानूं ।
सरे मुँह भी फरक इसमें, अगर होवे तो मैं जानूं ॥१॥
जरा इन्साफ करके यार, मेरी बात सुन लीजे ।
जो कर्ता का तुम्हें विश्वास, अगर होवे तो मैं जानूं ॥२॥
जो ईश्वर सर्व व्यापी है, तो हरकत कर नहीं सकता ।
कभी आकाश मुतहर्रिक, अगर होवे तो मैं जानूं ॥३॥
जगत् साकार है ईश्वर, निराकार आप माने हैं ।
कोई निराकार से साकार, अगर होवे तो मैं जानूं ॥४॥
वह ईश्वर सच्चिदानन्द है, सदा कल्याण कारी है ।
न कर्ता है न हर्ता है, अगर होवे तो मैं जानूं ॥५॥
बिना समझे जगत्कर्ता का, लोगों को हो रहा धोखा ।
न्याय पढ़ देखिये धोखा, न दूर होवे तो मैं जानूं ॥६॥
कहे न्यामत न्याय परमाण, से तहकीक कर लीजे ।
जगत् कर्त्ता में कोई प्रमाण, अगर होवे तो मैं जानूं ॥७॥

ईश्वर की अवहेलना

तर्ज—माँथे कैसे गज को बन्ध छुड़ायो

मानेवे सुजन मानव सरिखो बनावे, मारी सघली प्रभुता नवावे मा० टेक ॥

नानकडुं बालक समजी ने, पारणीया मां झुलावे ।
जन्म जराने मरण तज्यां छतां, फरी फरी जन्म धरावे ॥मा० १॥

टाढ़ ने तड़को पड़े मानव ने, मुजने वस्त्र धिरावे।
वसवाने मुज माटे मोटा, मन्दिर माल चणावे ॥ मा० २ ॥

भूख तरस लागे नहीं तो पण, मोटा थाल धरावे।
मारूँ नाम लई ने दुष्टो, माल मलीदा उड़ावे ॥ मा० ३ ॥

उंघ कदी आवे नहीं तो पण, सुन्दर सेज बिछावे।
काम विकार नहीं तोए पण, प्रेम धरी परणावे ॥ मा० ४ ॥

अशुद्ध थयेल मने समजी ने, नित नित स्नान करावे।
शुद्ध स्वरूपी हूँ छुं तथापि, आम अविद्या जणावे ॥ मा० ५ ॥

निर्धनीयानी पेठे मुजने, घर-घर भीख मंगावे।
नखोदिया ना माल खजाना, मारा नामे चड़ावे ॥ मा० ६ ॥

निर्विकारी निर्लेपी ने, विकारी सरागी ठरावे।
छेक उतारी नाखी मुजने, पामर आम पुजावे ॥ मा० ७ ॥

सृष्टिवादान्तर्गत प्रमाण-ग्रन्थों की संकेत सूची

	संकेत	ग्रंथ का नाम	संस्करण	प्रकाशन संवत् आदि	अंक सूचक-अध्याय आदि
१	अथ० सं० अथर्व सं०	अथर्व वेद संहिता	पं० ऋषिकुमार रामचन्द्र शर्मा सनातन धर्म यंत्रालय, मुरादाबाद	संवत् १९८७	काण्ड, अनुवाक अध्याय सूक्त ऋचा
२	अम०	अमरकोष	मास्टर खेलाड़ीलाल एण्ड सन्स	सन् १९३१	कांड, वर्ग, श्लोक
३	आ० पु०	आत्म पुराण	गोपालनारायण कम्पनी, बम्बई	शके १८२७	अध्याय, श्लोक
४	उत्त०	उत्तराध्ययन सूत्र	सुखदेव सहाय ज्वाला प्रसाद हैदराबाद	वीर संवत २४४६	अध्ययन, गाथा
५	उपा०	उपासक दशांग सूत्र	,, ,, ,,	,,	अध्ययन
६	उव०	उववाई सूत्र	,, ,, ,,	,,	पृष्ठ
७	ऋग०	ऋग्वेद सायण भाष्य सहित		सन् १८६७	मण्डल, सूक्त, मन्त्र
८	ऐत० ब्रा०	ऐतरेय ब्राह्मण	आनन्दाश्रम, पूना	सन् १९३१	पंचिका, अध्याय, खण्ड

९	कठोप०	कठोपनिषद्	निर्णयसागर प्रेस, बंबई	संवत् १९२३	अध्याय, वल्ली, मन्त्र
१०	का० पु०	कालिका पुराण	खेमराज श्रीकृष्णदास बम्बई	संवत् १९४८	अध्याय, श्लोक
११	कूर्म० पु०	कूर्म पुराण	,, ,, ,,	संवत् १९६२	,, ,,
१२	कृ० यजु० तै० ब्रा०	कृष्णयजुर्वेद तैतरेय ब्रा.	सायण भाष्य-आनन्दाश्रम, पूना	सन् १८९८	काण्ड, प्रपाठक, अनुवाक
१३	कृ० यजु० तै० सं०	कृष्णयजुर्वेद तैतरीय संहिता	,, ,, ,,	सन् १९००	,, ,,
१४	कौषी०	कौषीतकी उपनिषद्	निर्णयसागर प्रेस, बंबई	१९२३	
१५	गीता०	भगवद् गीता, बाल गंगाधर तिलक	अनु० माधवराव सप्रे केसरी प्रेस पूना	संवत् १९७४	अध्याय श्लोक
१६	गु० कु०गु	गुजराती अनुवादवाला कुरानशरीफ उर्फ कुराने मजीद (गुजराती तरजमा)	भाषान्तर कर्ता शेरमोहम्मद ऐसफहाति दी मुसरत हाई प्रेस बम्बई	हिजरी सन १३१८	प्रकरण, आयत
१७	गो० गोप० ब्रा०	गोपथ ब्राह्मण पूर्वभाग	संपादक पं० क्षेमकरणदास त्रिवेदी प्रयाग	सन् १९२४	प्रपाठक, कण्डिका
१८	छान्दो०	छान्दोग्योपनिषद्	संपा० गोखले गणेश शास्त्री, आनन्दाश्रम, पूना	सन् १९१०	प्रपाठक, खण्ड, मन्त्र

१९	जैं० त० प्र०	जैन तत्त्व प्रकाश	पूज्य अमोलख ऋपिजी कृत चौथी आवृत्ति प्र० कीमती ब्रादर्स, हैदराबाद	सन् १९३१	पृष्ठ
२०	त० खो० अ०	तमाम खोरदेह अवस्ता पारसी धर्म पुस्तक	जहांगीर-बी-कराणीवाली नईढबकी छत्तीस मुनाजात सहित प्रकाशक जहांगीर बी० के पुत्र, वहोरा बाजार कोट, बम्बई	सन् १२९९ यज्दे जरदी	
२१	त० सं०	तत्वसंग्रह-बौद्ध दर्शन आचार्य शान्ति रक्षित कृत	वड़ोदा सेन्ट्रल लायब्रेरी	सन् १९२६	श्लोक
२२	त० सू०	तत्त्वार्थ सूत्र पं० सुखलाल कृत	गुजरात विद्यापीठ, अहमदाबाद	संवत् १९८६	अध्याय सूत्र
२३	तै० आर०	तैतरेय आरण्यक	आनन्दाश्रम मुद्रणालय, पूना	सन् १८९८	
२४	तै० उप०	तैतरेय उपनिषद्	„ „ „	„	वल्ली, खण्ड, मन्त्र
२५	द० ति० भा०	दयानन्द तिमिर भास्कर	पं० ज्वालाप्रसाद मिश्र कृत प्र० खेमराज श्रीकृष्णदास, बम्बई	संवत् १९५५	पृष्ठ

२६	दे० भा० पु०	देवी भागवत पुराण	प्रका० खेमराज श्रीकृष्णदास, बम्बई	संवत् १९७६	खण्ड, अध्याय, श्लोक
२७	नि० दे०	निरुक्त-दैवकाण्ड	श्री वैंकटेश्वर प्रेस बम्बई	सं० १९८२	अध्याय, पाद, खण्ड
२८	न्या० का०	न्यायकारिकावली	निर्णय सागर प्रेस बम्बई	सन् १९१६	कारिका
२९	न्या० वा० भा०	न्यायदर्शन वात्सायन भाष्य	रघूत्तम रचित भाष्यचन्द्र म० म० गंगानाथ झा कृत उद्योत प्रका० चौखम्भा संस्कृत पुस्तकालय बनारस	सन् १९२६	अध्याय, पाद, सूत्र
३०	न्या० सू०	न्यायदर्शन सूत्र	जीवानन्द विद्यासागर, कलकत्ता	सन् १८७४	अ० अह्निकसूत्र
३१	पद्म० पु०	पद्मपुराण	आनन्दाश्रम मुद्रणालय, पूना	सन् १८९४	खण्ड, अध्याय, श्लोक
३२	प्र० क० मा०	प्रमेय कमल मार्तण्ड	निर्णय सागर प्रेस बम्बई	सन् १९१२	परिच्छेद, पृष्ठ
३३	बा० हिं०	बाइबल हिन्दी	आयरिशमिशन प्रेस सूरत	सन् १९०८,	पुस्तक, अध्याय
३४	ब्रह्म० पु०	ब्रह्मपुराण	आनन्दाश्रम, पूना	सन् १८९५	अध्याय, श्लोक

३५	बृह० उ०	बृहदारण्यक उपनिषद्	संपादक बाबू जालमसिंह प्रका० नवलकिशोर प्रेस लखनऊ	सन् १९२३	अध्याय ब्राह्मण
			शांकरभाष्य आनन्दगिरि टीका आनन्दाश्रम, मुद्रणालय, पूना	सन् १९२७	मन्त्र
३६	बृहदा ब्रह्म वै०	ब्रह्मवैवर्त पुराण	१ आनन्दाश्रम, पूना २ खेमराज श्रीकृष्णदास बम्बई	संवत १९८८	अध्याय, श्लोक
३७	ब्रह्म० सू०	ब्रह्मसूत्र शांकर भाष्य सहित	खेमराज श्रीकृष्णदास, बम्बई	संवत् १९७०	अध्याय, पाद, सूत्र
३८	भग०	भगवती सूत्र सटीक	आगमोदय समिति भावनगर	सन् १९२१	शतक, उद्देशक, सूत्र
३९	मनु०	मनुस्मृति-कुल्लुकाभट टीका	निर्णयसागर प्रेस, बम्बई	,, १९०२	अध्याय, श्लोक
४०	म० महा०	महाभारत ५० पर्व अश्व०—अश्वमेध पर्व आदि—आदिपर्व शां-शांति०-शान्तिपर्व	दामोदर सातव लेकर औंध	संवत् १९८०	अध्याय, श्लोक
१	मा०पु०	मार्कण्डेय पुराण	खेमराज श्री कृष्णदास बम्बई	सम्वत् १९८१	,, ,,

४२	मुंड०	मुण्डकोपनिषद् (ईशादि दस उपनिषद् अन्तर्गत)	वैदिक यंत्रालय, अजमेर	संवत् १९६०	मुण्डक, खण्ड
४३	मैत्र्युप०	मैत्री उपनिषद्	आनन्दाश्रम प्रेस पूना	सं० १९२५	पृष्ठ
४४	यो० सू०	योग दर्शन सूत्र व्यास भाष्य और वाचस्पति तथा भोजदेव टीका	आनन्दाश्रमम मुद्रणालय पूना	सम्वत् १९१९	अध्याय, सूत्र
४५	यू० द०हिं	यूरोपीय दर्शन-हिंदी	पाण्डेयरामावतारशर्माकाशी नागरी प्र.सा.		पृ०
४६	लो० प्र०	लोक प्रकाश विनय वियज कृत	आगमोदयसमिति, भावनगर	सम्वत १९८५	सर्ग, श्लोक
४७	व० पु०	वराह पुराण	खेमराज श्रीकृष्णदास बम्बई	सम्वत १९८०	अध्याय, श्लोक
४८	शत० ब्रा०	शतपथ ब्राह्मण	रोयल एकेडेमी, प्रेस	सम्वत् १८५२	काण्ड, अध्याय ब्राह्मण, कण्डिका
४९	शा० दी०	शास्त्रदीपिका(मीमांसा)	निर्णयसागर प्रेस, बम्बई	सन् १९१५	अध्याय पाद सूत्र
५०	शा० वा०	शास्त्र वार्त्ता समुच्चय	देवचन्दलाल भाई	सम्वत् १९७०	स्तवक, श्लोक
५१	शि० पु०	शिव पुराण	खेमराज श्रीकृष्णदास बम्बई	सम्वत् १९५२	सं०,अ०, श्लोक

५२	शु० यजु० माध्यं सं०	शुक्ल यजुर्वेद माध्यंदिनी संहिता	चौखंभा संस्कृत पुस्तकालय बनारस	सन् १९१२	कांड, अध्याय, कण्डिका
५३	श्वेताश्व०	श्वेताश्वतर उपनिषद् अष्टादशोपनिषदंतर्गत	खेमराज श्रीकृष्णदास बम्बई	सम्वत् १९५३	अध्याय, मंत्र
५४	श्लो० वा०	श्लोक वार्तिक [मीमांसा]कुमारिल-भट्टकृत-पार्थसारथि प्रणीत न्याय रत्नाकर टीका सहित	चौखंभा संस्कृत पुस्तकालय, बनारस	सन् १८९९	अधिकरण श्लोक
५५	स० प्र० हिं०	सत्यार्थ प्रकाश हिंदी नवमी आवृत्ति	वैदिक यंत्रालय, अजमेर	सन् १९६६	पृष्ठ
५६	सां० का०	सांख्य कारिका	जयकृष्णदास हरिदास, चौ सं. पु, ब.	सन् १९२२	कारिका
५७	सां० द०	[१] सांख्यदर्शन विज्ञानभिक्षुकृत सांख्य प्रवचन भाष्य सहित	चौखंभा संस्कृत पुस्तकालय बनारस	सन् १९०७	अध्याय सूत्र

		[२] सांख्य दर्शन अनिरुद्ध वृत्ति और म.म. प्रमथनाथ प्रणीत तर्क भूषण टीका सहित	पं० जीवनानन्द विद्यासागर भट्टाचार्य, वाचस्पति यन्त्रालय कलकत्ता	सन् १९१९	अध्याय सूत्र
५७	साम०	सामवेद	वैदिक यंत्रालय, अजमेर	संवत् १९५७	प्रपाठक, अध्याय, खण्ड, सूक्त, मंत्र
५८	साम्ब० पु०	साम्बपुराण	खेमराज श्रीकृष्णदास बम्बई	संवत १९५६	अध्याय, श्लोक
५९	सूय०	सूयगडांगसूत्र	आगमोदय समिति भाव नगर	सन् १९१७	श्रुतस्कन्ध, अध्ययन, उद्देशक, गाथा
६०	सूय० टी०	सूयगडांगसूत्र टीका	" "	"	"
६१	सौ० प०	सौर परिवार-गोरख प्रसाद इलाहाबाद युनीवर्सिटी	हिन्दुस्थानी एकेडेमी संयुक्त प्रान्त	सन् १९३१	
६२	हिं० कु० पा०	हिंदी कुरान पं० रघुनाथ प्रसाद मिश्र	शारदा भवन, त्रिपेटी [इटावा] द्वि० आवृत्ति	सन् १९२५	सूरा, आयत

श्री जैन साहित्य प्रचारक समिति से प्राप्य
अन्य उत्तम ग्रन्थ

१.	जैन सिद्धान्त कौमुदी (पं० रत्नचन्द्रजी कृत अर्ध-मागधी व्याकरण)	मू० ५)
२.	भावना-शतक (गुजराती १), १॥) हिन्दी भावार्थ तथा विवेचना युक्त)	
३.	भावना-शतक (हिन्दी पद्यानुवाद तथा भावार्थ)	।)
४.	कर्त्तव्य-कौमुदी प्रथम भाग (हिन्दी भावार्थ तथा विवेचन)	१)
५.	कर्त्तव्य-कौमुदी द्वितीय भाग (हिन्दी भावार्थ तथा विवेचन)	१)
६.	कर्त्तव्य-कौमुदी प्रथम भाग (पद्यानुवाद हिन्दी)	।)
७.	कारण संवाद (हिन्दी)	=)
८.	कारण संवाद (गुजराती)	-)॥
९.	रेवती दान समालोचना	≡)
१०.	साहित्य-संशोधन की आवश्यकता	-)
११.	नित्य स्तुति पाठ (भक्तामरादि स्तोत्र)	=)
१२.	भजन पद पुष्पवाटिका	।)

प्राप्ति स्थान

१ मन्त्री श्री जैन साहित्य प्रचारक समिति
जैन गुरुकुल ब्यांवर

२ सेठिया जैन लायब्रेरी
बीकानेर (राजपूताना)

|| ॐ ||

भारत भूषण शतावधानी

पं० मुनिराज श्री रत्नचन्द्रजी द्वारा सम्पादित

अर्ध मागधी-कोष

(सचित्र)

प्राकृत, संस्कृत, अँगरेज़ी, हिन्दी तथा गुजराती में

(भाग १, २, ३, ४, तथा ५)

प्रत्येक भाग की कीमत १० रु० है। सम्पूर्ण भागों को एक साथ लेने वाले के लिये ४० रु० होंगे डाकखर्च पृथक्। प्रत्येक भाग की पृष्ठ संख्या ८०० से १००० के दरम्यान है।

इस अर्ध मागधी-कोष के सम्बन्ध में इटली, जर्मनी, आदि विद्यापीठों के प्रोफ़ेसरों के अभिप्राय हार्दिक धन्यवाद के साथ आये हैं। भारत तथा बहिर्देशीय अनेक विद्वानों ने इस कोष को विद्वानों, विद्यार्थियों, पुस्तकालयों, तथा ग्रन्थ कारों के लिये अत्यन्त उपयोगी बतलाया है। अब बहुत थोड़ी प्रतियाँ अवशिष्ट रही हैं। इस ग्रन्थ पर सैकड़े पर १२½ टका कमीशन दिया जावेगा।

प्राप्ति स्थान

धीरजलाल केशवलाल तुरखिया

जैन गुरुकुल व्यावर